CC0. In Public Domain. Digitizagtion by eGangotri

३२

प्राचीन भारत समाज और नारी

सुकुमारी भट्टाचार्य

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आदरणीय प्रेमलताजी को
सप्रेम भेंट,
प्रिया अग्रवाल
२४/७/९३

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्राचीन भारत : समाज और नारी

सुकुमारी भट्टाचार्य

अनुवादक

प्रतिभा अग्रवाल

छविनाथ मिश्र

कैम्प

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रथम प्रकाशन : जनवरी १९९२ (1992)
सर्वाधिकार : सुकुमारी भट्टाचार्य
मुखपृष्ठ : प्रवीर सेन
प्रकाशक : कैम्प
(कम्युनिकेशन एण्ड मीडिया पीपुल)
१५, डीहि इण्टाली रोड
कलकत्ता-७०००१४
वितरक : डब्ल्यू० न्यू मैन एण्ड कम्पनी लिमिटेड
३, ओल्ड कोर्ट हाउस स्ट्रीट
कलकत्ता-७०००६९
मूल्य : १२५ रुपये
मुद्रक : श्री गणपति प्रेस
३६/डी, बेथुन रो,
कलकत्ता-७००००६

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

लेखकीय

मेरी पुस्तक "प्राचीन भारत : समाज और साहित्य" का प्रकाशन सन् १९८८ के वैशाख महीने में आनन्द पाब्लिशर्स ने किया था, पिछले साल उसका दूसरा संस्करण प्रकाशित हुआ।

CAMP (Communication and media people) की ओर से स्नेहभाजन गौतम वसु और अचिंत्य गुप्त ने पुस्तक के समाज सम्बन्धी निबंधों के हिन्दी अनुवाद करने की अनुमति प्राप्त करने के सिलसिले में मुझसे भेंट की और मैंने वह सहर्ष एवं साग्रह प्रदान की। अनुवाद करने का गुरुभार उठाया डॉक्टर प्रतिभा अग्रवाल और छविनाथ मिश्र ने, इनके प्रति मैं कृतज्ञता के अपरिशोध्य ऋण में आबद्ध रहूँगी। और CAMP के लिए यह शुभकामना है कि वे भविष्य में ऐसे प्रचुर कार्य करते रहें। उन्होंने सहर्ष जितना परिश्रम किया है, उससे मैं अभिभूत हूँ। साथ ही अभिभूत हूँ अनुवादकद्वय की अनुवाद के प्रति निष्ठा और सावधानी के प्रति। प्रस्तुत ग्रन्थ में मूल ग्रन्थ के साहित्य सम्बन्धी कुछ निबन्ध छूटे हैं तो समाज सम्बन्धी कुछ नये निबन्ध जुड़े हैं।

आशा है संग्रहीत निबन्धों से पाठकों को मनन-चिन्तन के लिए कुछ सामग्री प्राप्त होगी।

सुकुमारी भट्टाचार्य

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अनुवादकीय

प्रस्तुत पुस्तक में सन्निहित सामग्री का अनुवाद करने का निर्णय लेने के पीछे मूल कारण उसकी विषयवस्तु और उस विषयवस्तु का अत्यन्त स्पष्ट एवं तीखा विवेचन था। पुस्तक की सामग्री तीन खण्डों में विभाजित है—समाज, साहित्य एवं परिशिष्ट। प्रथम दो खण्डों के निबन्ध विदुषी लेखिका डाक्टर सुकुमारी भट्टाचार्य की पुस्तक "प्राचीन भारत : समाज और साहित्य" से लिये गए हैं, शेष पिछले वर्षों में विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित उनकी अन्य रचनाएँ हैं। लेखिका की मूल दृष्टि वैदिक काल से लेकर आज तक चली आ रही भारतीय समाज की मानसिकता को यथासम्भव तथ्यात्मक दृष्टि से सप्रमाण प्रस्तुत करने की रही है। अवश्य ही यह स्वीकार करना पड़ेगा कि इस सारे विवेचन में भारतीय नारी उनके मन और मस्तिष्क के सामने सदा प्राचीन भारत के महिमामंडित स्वरूप के झीने आवरण के नीचे अपने दैन्य एवं हीनता को ढँकने की विफल चेष्टा करती उपस्थित रही और यही कारण है कि यथासम्भव तथ्यपरक विवेचन करते-करते भी उनका नारी-मन अपने समाज की नारी की दीर्घकालीन पीड़ा और दयनीयता के प्रति क्षुब्ध होता रहा, आक्रोश उन्हें उद्वेलित करता रहा, उनकी बेबसी उन्हें कुछ कहने, कुछ लिखने के लिए बाध्य करती रही। आम तौर पर हम मानते हैं कि वैदिक युग से प्रारम्भ करके मुसलमानों के आगमन के पूर्व तक भारतीय समाज में नारी को आदरपूर्ण स्थान प्राप्त था, वह माता मानी जाती रही, देवी के रूप में उसकी पूजा होती रही। हमारी यह मान्यता सर्वथा निराधार नहीं है लेकिन वह आधार बड़ा क्षीण है और समाज के एक अत्यन्त सीमित क्षेत्र के सम्बन्ध में ही सत्य कहा जा सकता है। वास्तविकता यह है कि वैदिक युग से लेकर आज तक पुरुष शासित समाज में नारी के दो ही रूप वास्तविक एवं सत्य हैं—भोग्या एवं दासी। लेखिका ने इस बात को सप्रमाण प्रस्तुत किया है, अजस्र उद्धरणों द्वारा अपनी बात को पुष्ट किया है। ये तथ्य हमारी आँख खोलनेवाले हैं, हमें सोचने-समझने और कुछ करने के लिए अनुप्रेरित करनेवाले हैं। एक नारी के रूप में इन बातों, इन तथ्यों ने मुझे भी उद्वेलित किया यह स्वीकार करती हूँ और इस अत्यन्त गम्भीर तथ्य-बहुल, प्रमाण-समृद्ध ग्रन्थ के अनुवाद का गुरु भार उठाने को प्रेरित किया।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मूल पुस्तक के कुछ निबन्ध छोड़ दिये गए हैं, कुछ अन्य निबन्ध जोड़ लिये गए हैं और इस प्रकार प्रस्तुत ग्रन्थ के माध्यम से प्राचीन भारत के समाज और साहित्य का असली रूप हिन्दी भाषाभाषी पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। आशा है यह प्रयत्न सार्थक होगा, भारतीय समाज अपनी वास्तविक स्थिति को जान-समझ पायेगा, पुरुष वर्ग अपने मन को टटोलने और अपनी दृष्टि को परिवर्तित करने के लिए अनुप्रेरित हो पायेगा और नारी वर्ग अपनी शक्ति और सीमा के प्रति जागरूक हो पायेगा, आवश्यकता होने पर समाज एवं पुरुष वर्ग के विरोध में खड़े होने का साहस जुटा पायेगा। यदि ऐसा कुछ भी हुआ तो उसका पूरा श्रेय सुकुमारी दी को होगा।

आभारी हूँ पंडित छविनाथ मिश्र की जिन्होंने साहित्य खण्ड के निबन्धों का अनुवाद किया और साथ में पूरी पाण्डुलिपि को पढ़ा, सुना तथा आवश्यक संशोधन किये-करवाये। उनके सहयोग के बिना यह काम सम्पन्न होना कठिन होता। आभारी हूँ प्रकाशकों की जिन्होंने इस गम्भीर पुस्तक के प्रकाशन का भार लिया और अनुवाद करने का दायित्व मुझे सौंपा।

बहुत सावधानी के बावजूद कुछ त्रुटियाँ अवश्य रह गई होंगी, भूलें भी हुई होंगी। उनका पूरा दायित्व मेरा होगा। उनके लिए अग्रिम क्षमा चाहूँगी और उनके सम्बन्ध में जानकारी पाकर भविष्य में संशोधन का प्रयत्न करूँगी।

प्रतिभा अग्रवाल

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रकाशक की बात

प्रसिद्ध लेखिका अध्यापिका सुकुमारी भट्टाचार्य की पुस्तक "प्राचीन भारत : समाज और साहित्य" पहली बार १९८८ में बंगला में प्रकाशित हुई। प्रकाशक थे आनन्द पब्लिशर्स। यह पुस्तक पाठकों में अत्यन्त प्रिय हुई। समालोचकों ने विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में विभिन्न प्रकार के विचार प्रकट किये। अधिकांश लोगों की धारणा है कि हमारा प्राचीन समाज बहुत ही गौरवमय था। विपरीत जानकारी से उनके विश्वास को ठेस पहुँचती है और नाना प्रकार के तर्क-वितर्क की सृष्टि होती है। प्राचीन भारत के सम्बन्ध में सुकुमारी भट्टाचार्य ने विभिन्न प्रकार की खोजबीन का काम किया है। उन्होंने प्राचीन किताबें पढ़ीं और उनकी आलोचना भी की। अपनी बातों को प्रमाणित करने के लिए उन्होंने वेदों से लेकर बौद्ध धर्म-शास्त्र, संहिता, संस्कृत साहित्य की प्रमुख पुस्तकों की सहायता ली। उन्होंने इस पुस्तक में ईसा पूर्व १२ सौ साल से लेकर ग्यारहवीं शताब्दी तक का समय पकड़ा है। समकालीन प्रसंगों को लाकर आलेख को प्रासंगिक भी बनाया गया है। प्राचीन भारत के समाज और साहित्य से सम्बन्धित उन्होंने जो शोधकार्य किया है, उसी का फल है यह पुस्तक।

विदुषी लेखिका ने संस्कृत साहित्य से उद्धरण देकर यह बताया है कि प्राचीन भारत को लेकर हमलोगों में जो धारणा बनी हुई है वह कितनी निर्मूल है। हमलोगों की धारणा है कि प्राचीन भारत का एक ऐसा आदर्श समाज था जिसमें कोई भेदभाव नहीं था, जहाँ नारियों को पुरुषों की तरह समान अधिकार मिलता था। सुकुमारी भट्टाचार्य ने यह प्रमाणित किया है कि प्राचीन समाज में भी अर्थनैतिक और सामाजिक अन्तर था। जात-पांत की समस्या के कारण समाज में भेद-भाव था। शूद्र, नारी और कुत्तों को एक स्तर पर रख दिया गया था। शूद्र का जन्म ही था पिछले कुकर्मों का फल। पशु-रूप में जन्म लेने से छुटकारा पाने के लिए उन्हें इस जन्म में ब्राह्मणों की सेवा करनी पड़ती थी। माधवी की कहानी से अनुमान किया जा सकता है कि समाज में नारी का क्या स्थान था। ऋषि गालव माधवी के पिता राजा ययाति के पास धन मांगने आते हैं। राजा के कोषागार में धन का अभाव था अतः धन के बदले वे अपनी पुत्री माधवी को दान स्वरूप गालव को दे देते हैं जिसे गालव चार साल तक चार राजाओं के पास रखते

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हैं और बदले में उनसे धन प्राप्त करके अपनी गुरु-दक्षिणा चुकाते हैं। और ययाति ऋषि को तुष्ट करके पुण्य प्राप्त करते हैं।

सुकुमारी भट्टाचार्य की पुस्तक से हमें पता चलता है कि प्रारम्भ से ही नारी सिर्फ भोग्या और बच्चों को जन्म देनेवाली वस्तु के रूप में मानी जाती है। निस्संतान और विधवा नारियों को नियोग प्रथा के द्वारा पुरुष के माध्यम से गर्भवती होना पड़ता था। अतः प्राचीन समाज में नारी की कोई स्वाधीन सत्ता नहीं थी।

पुस्तक की गरिमा और महत्व को देखते हुए हमलोगों ने इसका हिन्दी अनुवाद कराकर हिन्दी भाषा-भाषी लोगों तक इसे पहुँचाने की आवश्यकता समझी। इस पुस्तक को अगर वे स्वीकार करेंगे तो हमारा प्रयास सफल होगा। हमें आशा है कि यह पुस्तक और भी नयी धारणाओं को जन्म देगी।

सुकुमारी भट्टाचार्य एक विख्यात लेखिका के रूप में बंगला साहित्य जगत् में सुपरिचित हैं। संस्कृत और अंग्रेजी साहित्य की वे पण्डिता हैं। उन्होंने लम्बे अर्से तक ब्रेबोर्न कालेज और यादवपुर विश्वविद्यालय में अध्यापन का काम किया। उनके अनेक शोध-कार्य देश-विदेश में प्रकाशित हुए हैं। उनकी दो पुस्तकें "The Indian Theology" और "Literature in Vedic age." केम्ब्रिज युनिवरसिटी प्रेस से प्रकाशित हुई हैं। सम्प्रति वे भाग्यवाद के ऊपर पुस्तक लिखने में व्यस्त हैं।

हमलोग श्रीमती प्रतिभा अग्रवाल और पण्डित छविनाथ मिश्र के कृतज्ञ हैं जिन्होंने इस ग्रन्थ का सम्पादन एवं अनुवाद किया। नाट्यांदोलन और शोध-कार्य में प्रतिभा अग्रवाल सुपरिचित हैं और छविनाथ मिश्र हिन्दी साहित्य के एक लब्धप्रतिष्ठ कवि हैं। उन्होंने निष्ठापूर्वक प्रूफ भी देखा, हम उनके भी आभारी हैं।

अचिन्त्य गुप्त
'कैम्प' की ओर से,
कलकत्ता-१४
१-१-९२

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अनुक्रम

लेखकीय

अनुवादकीय

प्रकाशक की बात

खण्ड : १

समाज

१. वैदिक समाज में नारी का स्थान १

२. याज्ञवल्क्य और उपनिषद युग २५

३. प्राचीन भारत में गणिका ४७

४. प्राचीन भारतीय नारी के आर्थिक अधिकार ८३

खण्ड : २

साहित्य

५. महाकाव्य महाभारत ११३

६. रामायण एवं महाभारत में नारी का स्थान १५९

७. मृच्छकटिक २००

८. संस्कृत साहित्य में अश्लीलता २१८

९. संस्कृत साहित्य में शूद्र और नारी का चित्रण : पांचवीं से ग्यारहवीं शताब्दी के बीच २२६

खण्ड : ३

परिशिष्ट

१०. प्राचीन भारत में वर्ण और जाति २५९

११. हिन्दू विवाह : सामाजिक एवं सांस्कृतिक निहितार्थ २७२

१२. कन्या-संतति और शास्त्र-वचन २७९

१३. सती २८४

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

खण्ड : १

समाज

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वैदिक समाज में नारी का स्थान

(क)

प्रायः रेडियो और भाषणों में सुनने और लेखों तथा किताबों में पढ़ने में आता है कि प्राचीन भारत में नारी का स्थान बहुत ऊँचा था और मुस्लिम आक्रमण के बाद ही भारतीय समाज में नारी का स्थान नीचे गिरा। इन उक्तियों की सत्यता की जाँच-पड़ताल के लिए हमारे पास साहित्य में पर्याप्त तथ्य उपलब्ध हैं। एकदम प्राचीन अर्थात् वैदिक युग में नारी का स्थान बहुत ऊँचा था। वैदिक साहित्य के अलावा उस युग का और कोई इतिहास हमारे हाथ नहीं लगा है। इसलिए सचमुच ही नारी का स्थान कितना ऊँचा था यह हमें इस साहित्य में ही खोजना पड़ेगा। इस निबन्ध में उस खोज का ही प्रयत्न किया जा रहा है।

वैदिक युग उक्ति से वैदिक साहित्य की रचनावाला युग समझना चाहिए। इस साहित्य के अन्तर्गत मुख्यतः संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद तथा सूत्र साहित्य अर्थात् श्रौत, गृह्य और धर्मसूत्र आदि आते हैं। सभी आधुनिक विद्वान प्राचीनतम वेद अर्थात् ऋग्वेद को ईसा पूर्व बारहवीं से दसवीं शताब्दी के अंत या नवीं शताब्दी के प्रारम्भ की रचना मानते हैं। यजुर्वेद और सामवेद तथा प्राचीन ब्राह्मणों का रचनाकाल ईसा पूर्व नवीं से सातवीं शताब्दी माना जाता है। अथर्ववेद का प्राचीनतम अंश भी इसी युग का है, बाकी अंश और परवर्ती ब्राह्मण तथा उपनिषद आदि आठवीं से पांचवीं शताब्दी के बीच की रचना हैं। सूत्र साहित्य संभवतः ईसा पूर्व पांचवीं से ईसा की चौथी शताब्दी के बीच की रचना है। इस प्रकार ईसा पूर्व बारहवीं से ईसा की चौथी शताब्दी तक के अर्थात् इन डेढ़ हजार वर्षों से कुछ ऊपर के साहित्य में समाज का जो रूप चित्रित किया गया है उसी के माध्यम से हमें नारी का स्थान स्थिर करना होगा। कहने की आवश्यकता नहीं कि इसके

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अंतिम हजार वर्षों के इतिहास में साहित्य के अतिरिक्त अन्य उत्स भी उपलब्ध हैं। जैसे पुरातत्व, शिलालेख, ताम्रशासन, दोनों महाकाव्य, प्रारंभिक युग के पुराण, बौद्ध साहित्य आदि।

यायावर पशुपालक आर्य उत्तर भारत के सिंधु घाटी की सभ्यतावाले क्षेत्र में सर्वप्रथम आये। सिन्धु घाटी के निवासी कृषि-जीवी थे और नागर सभ्यता के युग में जीवनयापन कर रहे थे। धातु की दृष्टि से यह युग ताँबा युग था। इतिहास में प्राप्त प्रमाण के अनुसार भारत वर्ष में लोहा का पदार्पण हुआ आर्यों के साथ। संभवतः इन्द्र का वज्र जिसके बल पर इन्द्र अर्थात् आर्यदल के सेनापति ने प्राक्आर्यों को पराजित किया वह लोहे का फलक युक्त कोई अस्त्र था जिसके सामने प्राक्आर्य का नरम धातु का अस्त्र नहीं टिक सका। इसके अतिरिक्त आर्यों के पास घोड़ों से खींचे जानेवाले रथ थे, प्राक्आर्यों का हाथी उतना द्रुतगामी नहीं था। प्राक्सिन्धु-सभ्यता का मध्य पूर्व एशिया के साथ जो वाणिज्य-व्यवसाय का सम्बन्ध था वह आर्यों के आगमन के बाद विच्छिन्न हो गया, पुनः प्रारम्भ हुआ दो-तीन सौ साल बाद।

यायावर पशुपालक आर्यों ने भारतवर्ष में आकर धीरे-धीरे यहाँ के मूल निवासियों को हराकर पूरे आर्यावर्त पर अधिकार कर लिया। प्राक्आर्यों के साथ विवाह सम्बन्ध होने तथा पास-पड़ोस में रहने के कारण आर्यों ने धीरे-धीरे खेती-बारी करना सीखा और घुमन्तू के बदले ग्रामवासी हो गये। कालांतर में उन्होंने पकाई हुई ईंटों से मकान बनाना सीखा और स्थिर होकर एक जगह रहने लगे। घुमन्तू लोगों के कई सामाजिक संगठन जाति (ट्राइब) और कौम (क्लान) में विभक्त थे। कृषि सीखकर कृषिजीवी होने के बाद यह सामाजिक संगठन टूटने लगा। कुछ समय बाद धीरे-धीरे कुल का प्रवर्तन हुआ अर्थात् एक घर में तीन-चार पीढ़ियों से एक साथ रहनेवाला बृहत् परिवार। इसके बाद आया संयुक्त परिवार अर्थात् एक व्यक्ति का परिवार। इन सब के

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

साथ उत्पादन व्यवस्था का घनिष्ठ संबंध था लेकिन एक बात धीरे-धीरे निश्चित परिणति की ओर अग्रसर हो रही थी कि समाज में शूद्र और नारी का स्थान अनिवार्य रूप से पतन की ओर जा रहा था अर्थात् समाज और परिवार में नारी का स्थान क्रमशः नीचा होता जा रहा था। उत्पादन व्यवस्था में नारी की भागीदारी क्रमशः कम होती जा रही थी। यद्यपि घर का काम और दायित्व उस पर ही था तथापि उसे "भार्या" अर्थात् किसी और द्वारा भरणीया अर्थात् पति के अन्न पर प्रतिपालित संज्ञा से अभिहित किया गया। हमें स्मरण रखना चाहिए कि भृत्य और भार्या दोनों शब्दों का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ एक ही है—जिसका भरण किया जाता है। स्त्री स्वयं अन्न का उत्पादन नहीं करती इसलिए वह भरणीया है। अंग्रेजी में मध्य युग तक पति को लॉर्ड कहा जाता था। यह शब्द भी स्त्री और नौकर दोनों के प्रसंग में एक ही अर्थ रखता है। इसकी व्युत्पत्ति भी हाफ वार्ड से है अर्थात् अन्न की (हाफ लोफ—रोटी) खातिर जो आश्रित हो।

वैदिक युग के अंतिम चरण में अनेक विदेशी आक्रमण हुए जिनके फलस्वरूप नारी-अपहरण एवं वर्णसंकर सन्तान होने के भय से नारी को अंतःपुर में ठेल दिया गया और तब से वह तुलना में असूर्यम्पश्या हो गयी। अर्थात् घर बाहर जब जहाँ कोई मुसीबत आई उसकी कीमत चुकानी पड़ी शूद्र और नारी को। नारी के क्षेत्र में ऐसा क्यों और कैसे हुआ, यही इस निबंध में दिखलाने का प्रयत्न कर रही हूँ।

(ख)

ऋग्वेद वैदिक साहित्य का प्रथम ग्रन्थ है। इसमें सीधे-सीधे नारी के स्थान के सम्बन्ध में कोई उक्ति नहीं है किन्तु विभिन्न वर्णनों एवं उपमानों के माध्यम से नारी के स्थान के सम्बन्ध में धारणा बनायी जा सकती है। ऋग्वेद की रचना के कई स्तर हैं। प्रथम स्तर के मंत्रों में नारी अपेक्षाकृत स्वाधीन है। देवी उषा किसी मंत्र में सूर्य की वधू, किसी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

में माता और किसी में कन्या के रूप में चित्रित हैं। यह रचयिताओं की कल्पना के भेद के कारण हुआ है। कहीं कहा गया है उषा निर्लज्जा नारी हैं, सारे संसार के सामने अपनी देह-श्री का उद्घाटन करती हैं (ऋग्वेद १ । ४६ । ४), कहीं उषा स्मितहासिनी हैं, नव-वधू जिस तरह पति के सामने अपने आपको प्रकट करती है, उषा भी उसी तरह अपना आवरण हटाती हैं (वही १ । १२४ । ७) या फिर सुन्दरी उषा की देह माँ द्वारा अपने हाथों नहला-धुलाकर सजा दी गयी कन्या की देह के समान है (वही १ । १२३ । १२)। सुना है कि अग्नि स्तोता के स्तव से वैसे ही प्रसन्न होते हैं जैसे प्रेमी पति अपनी पत्नी के संसर्ग में प्रसन्न होता है (३ । ६२ । ८), अग्नि वैसे ही पवित्र है जैसे पति द्वारा सम्मानित पत्नी (१ । ७३ । ३)। यहाँ यह लक्षणीय है कि देवता का आनन्द और देवता की पवित्रता के उपमान के रूप में प्रस्तुत किये गए हैं मानव का प्रेम और मानवी की पवित्रता। सुना जाता है कि इस युग में नारी स्वयं अपना जीवनसाथी भी चुनती थी (स्वयं सा मित्रम् वनुते जने चित् १० । २७ । १२)। इसके थोड़े बाद के युग की उक्ति प्राप्त होती है—प्रिया स्त्री जिस तरह प्रिय स्वामी से आनन्द पाती है, हे भगदेव, तुम भी मुझसे वैसे ही सुख प्राप्त करो (तैत्तिरीय ब्राह्मण २ । ४ । ६ । ५६)। अनेक बार एक उपमा देखने में आती है—उपासक अपने देवता के पास वैसे ही आते हैं जैसे कोई पुरुष अपनी काम्या नारी के पास आता है या उसके पीछे-पीछे जाता है (मर्यो न योषामभ्येति पश्चात्, ऋग्वेद ७ । ८० । २ । अन्य अनेक स्थलों पर ऐसी उक्ति प्राप्त होती है) और घृत की धारा सोम की ओर वैसे ही अग्रसर हो रही है जैसे अलंकृता सुन्दरी तरुणी पति की ओर अग्रसर होती है (वही ४ । ५८ । ६)।

अवैध प्रणय के सम्बन्ध में ऋग्वेद के ऋषियों के मन में कोई कुण्ठा नहीं थी। अनादिकाल से ही यह सब समाज में पाया जाता है अतः एक तरह से यह सर्वजन स्वीकृत एक सामाजिक तथ्य था। इसीलिए

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

"जारो न' उपपति की तरह यह उक्ति बार-बार प्राप्त होती है। यम-यमी सूक्त में (१०।१०) भाई बहन तथा नाभानेदिष्ठ सूक्त (१०।६१।५-७) में पिता पुत्री के बीच आसक्ति का प्रसंग है। नाभानेदिष्ठ में मिलन का उल्लेख भी है अर्थात् प्रचलित समाज-नीति का व्यतिक्रम। निषिद्ध सम्पर्कों का मिलन भी समाज में बीच-बीच में देखने में आता था इसी-लिए ऋग्वेद के ऋषियों ने इनका वेहिचक उल्लेख किया है। सोम यज्ञपात्र की ओर वैसे ही जाता है जैसे कामुक अपनी मित्र-पत्नी की ओर (९।९६।२२, २३; १०१।१४), नदियाँ विश्वामित्र की ओर वैसे ही जाती हैं जैसे चुम्बन के लिए उद्यत पुरुष की ओर नारी आनत होती है (३।४५।१), सोमरस वसतीवरी (यज्ञ का कुंभ विशेष) के जल से वैसे ही आनंदित होता है जैसे उत्तम नारी के सान्निध्य से पुरुष। इस प्रकार उपमानों में नारी-पुरुष के प्रेम और मिलन के निःसंकोच दिये गए ऐसे अनगिनत उदाहरण प्राप्त होते हैं।

नारी की इच्छा से या उसकी अनिच्छा के बावजूद नारी-अपहरण का उल्लेख ऋग्वेद में बीच-बीच में प्राप्त होता है। पुरुमित्र की कन्या का अपहरण विमद करते हैं (१।११२।७; ११६।१) कोई पुरुष रात में किसी नारी का अपहरण करने जाने वाले हैं अतः वे प्रार्थना करते हैं—लड़की के भाई जाग न पड़ें, कुत्ते भौंकने न लगें। (७।५५।५-८)

विवाह में कन्या पक्ष को दहेज देने का उल्लेख प्राप्त होता है। इन्द्र और अग्नि भक्त को धन देते हैं वैसे ही जैसे अवांछित दामाद प्रचुर धन देकर ससुराल के लोगों को अपनी ओर करके उनका प्रीतिभाजन बनता है (१।१०९।२)। पुरुषों के बहुपत्नीत्व की बात कभी स्पष्ट (७।२६।३) और कभी गौण रूप में सपत्नी (सौत) के विनाश के मंत्रों द्वारा पुष्ट होती है। कन्या में कोई शारीरिक त्रुटि होने पर वर को दहेज देने का उल्लेख अनेक स्थलों पर प्राप्त होता है (६।२८।५ ; १०।२७।१२)। कुमारी कन्या की बात भी कई बार प्राप्त होती है। इन्हें अमाजू कहा जाता था अर्थात् वे जो पिता के घर में ही बूढ़ी हो जाती हैं। या फिर कुलपा,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वृद्धकुमारी या जरत्कुमारी (१।११७।७; १०।३६।३; १०।४०।५)। परवर्ती काल में नारी के लिए विवाह जैसा अनिवार्य बन गया वैसा वैदिक काल में नहीं था। ऋग्वेद में सहमरण का—परवर्ती काल में जिसे सती-दाह कहा गया—कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता। विधवा जीवित रहती थी। कभी देवर के साथ उसका पुनर्विवाह होता था, कभी दुबारा विवाह होता ही नहीं था। कहने का तात्पर्य यह कि उससे जीवित रहने का अधिकार छीन नहीं लिया गया था और न ही धर्म और समाज की दुहाई देकर उसे जला डालने की शुरुआत हुई थी। पुनर्विवाह का—देवर के अतिरिक्त अन्य किसी से भी, अधिकार स्वीकार किया गया था, कुछ बाद ही उसका प्रमाण प्राप्त होता है। वेदों को रचना के उत्तरपर्व में अर्थात् ऋग्वेद के प्रथम अंश की रचना के बाद अथर्ववेद में सर्वप्रथम सहमरण का उल्लेख प्राप्त होता है। ऐसा चाहे प्राक्आर्यों के प्रभाव से हुआ हो या अन्य किसी कारण से हुए सामाजिक परिवर्तन के कारण हुआ हो। वहाँ एक स्थल पर उल्लेख है : एक जीवित नारी को मृत पुरुष की वधू होने के लिए ले जाते देखा (अथर्ववेद १८।३।३) या फिर एक अन्य स्थल पर—यह नारी पतिलोक जा रही है, यह पुरानी रीति का पालन कर रही है (१८।३।१)। स्वाभाविक है कि मन में प्रश्न उठे पुरानी रीति कौन सी—आर्य या प्राक्आर्य क्योंकि हिन्द-यूरोपीय अन्य सभ्यताओं में सहमरण का उल्लेख नहीं प्राप्त होता। यह प्रथा कितनी प्राचीन है ? क्या प्राक्आर्य सिन्धु सभ्यता की है ? क्योंकि जीवित रहने पर भी विधवाओं का जीवन हर समय सुखी नहीं रहता था इसलिए प्रार्थना की जाती थी—इन्द्राणी की तरह अविधवा होऊँ (तैत्तिरीय ब्राह्मण, ३।७।५।५१)। कहने की आवश्यकता नहीं कि सारे भारतीय साहित्य में कहीं ऐसी कामना नहीं की गई है कि मैं विधुर न होऊँ वरन् इसके विपरीत ही उक्ति प्रचलित है कि भाग्यवान की बहू मरती है और अभागे की गाय। सम्पत्ति की दृष्टि से भी स्त्री का स्थान गाय से नीचे है क्योंकि नई

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

गाय लाने पर रुपये देने होते हैं और नई वहू रुपये लेकर आती है। इस उत्तर वैदिक युग में स्त्री के वहुविवाह का उल्लेख भी प्राप्त होता है। अथर्ववेद में लिखा है—"जिस स्त्री का पहले एक पति था जव वह दूसरे पुरुष को प्राप्त करती है तव पंचौदन अज दान करने से उसको कोई क्षति नहीं होती है (९।५।२७)। अन्य स्थल पर है—किसी स्त्री के दस पति होने पर भी जव वह ब्राह्मण की पत्नी होती है तव वह ब्राह्मण ही उसका पति होता है, राजपरिवार या वैश्यपरिवार के अन्य पति-पति नहीं रह जाते (५।१७।८-९)। अवश्य ही यहाँ मूल उद्देश्य ब्राह्मण वर्ण की श्रेष्ठता और अन्य वर्ण की हीनता स्थापित करना है लेकिन साथ ही किसी नारी द्वारा दस पतियों को ग्रहण करने का स्वीकार भी है।

(ग)

यजुर्वेद युग में ही आर्य और प्राक्आर्य सम्मिश्रण का स्पष्ट उल्लेख साहित्य में प्राप्त होने लगा था। वैसे ऋग्वेद के प्रथम मंडल के पूर्वार्द्ध और दशम मंडल में इसका सूत्रपात हो गया था। वहां तक पहुंचते-पहुँचते आर्य ग्रामवासी और कृषिजीवी वन गये थे, पकायी ईंट का घर वनाने लगे थे और जनपद, ग्राम और पुर अर्थात् शहर में रहने लगे थे। जीविका के लिए नाना प्रकार के कामकाज करने लगे थे। समाज में जटिलता वढ़ने लगी, जाति या कौम प्रणाली धीरे-धीरे टूटने लगी, संयुक्त और वृहत्तर परिवार ही समाज की सवसे छोटी इकाई के रूप में दिखने लगे। वाहर से व्यापार शुरू हो गया। धन-सम्पत्ति सामान्य वृद्धि पर थी तो यज्ञों की संख्या और जटिलता, पुरोहितों की संख्या और दक्षिणा का परिमाण चक्रवृद्धि की दर से वृद्धि पर था। इस काल में उल्लेख प्राप्त होता है कि दीक्षा के दिन यजमान गणिका-साहचर्य का वर्जन करे, दूसरे दिन पर-स्त्री का और तीसरे दिन अपनी स्त्री का (तैत्तिरीय संहिता ६।६।८।५) अर्थात् दीक्षा के दिन भी पर-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

स्त्री का साहचर्य वर्जित नहीं था और गणिका के यहाँ जाने के निमित्त दीक्षा के दिन किसी प्रायश्चित्त का विधान नहीं था।

यज्ञ के दिन यजमान की पत्नी बगल में रहती थी पर निष्क्रिय रूप में। नारी का उपनयन नहीं होता अतः "न स्त्री जुहुयात्" – नारी होम नहीं कर सकती (आपस्तम्ब धर्मसूत्र २।७।१५।१७) तथापि अन्यत्र बराबर सुनने को मिलता है कि "पूर्वार्धो वै यज्ञस्याध्वर्युर्जघनाधम् पत्नी (शतपथ ब्राह्मण १।९।२।२; ३।४।२२; ५।२।१-१०)" अर्थात् यज्ञ का पूर्वार्द्ध यजमान और उत्तरार्द्ध यजमान-पत्नी है। किन्तु यह उत्तरार्ध यज्ञ में कोई भाग नहीं लेती थी, केवल पास बैठी रहती थी। उसकी भूमिका इतनी निष्क्रिय थी कि राम सीता की सोने की प्रतिमा बनाकर यज्ञ सम्पन्न कर सके थे। गौतम धर्मसूत्र में कहा गया है—अस्वतन्त्रा धर्मे स्त्री (१८।१) अर्थात् धर्माचरण में नारी को कोई स्वतन्त्रता नहीं है।

कुल-नारी के लिए घर के काम के अतिरिक्त और कोई वृत्ति नहीं थी। जिन दो-एक कामों का उल्लेख प्राप्त होता है वे हैं पशम का गोला बनाना और बुनना (शतपथ ब्राह्मण १२।७।२।११)। अन्य दूसरे कामों के साथ हो वे इन्हें भी करती थीं। स्त्रियों की शिक्षा के प्रसंग में हम देखते हैं कि वेद के अध्ययनों का प्रवेशद्वार ब्रह्मचर्य, अत्यन्त प्राचीन काल से नारियों के लिए निषिद्ध था अतः शिक्षा प्राप्ति का रास्ता भी बन्द। अथर्ववेद के अनुसार ब्रह्मचर्य के द्वारा स्त्री पति को प्राप्त करती है (११।५।१८)। ऐसा लगता है कि यह कोई व्रत था या शिव की पूजा जैसा कुछ था जिसका उद्देश्य पति की प्राप्ति था। ऋग्वेद में कुछ ऋषिकाओं का उल्लेख प्राप्त होता है। संभव है उनमें से कुछ को शिक्षा प्राप्त करने का सुअवसर मिला हो जैसे विश्ववारा, घोषा, अपाला, गोधा। पाणिनि में आचार्या, उपाध्याया शब्दों की व्युत्पत्ति से स्त्रियों के अध्ययन कार्य में रत होने का परिचय प्राप्त होता है। काशिका भाष्य में मीमांसा और व्याकरण के विद्वान के रूप में आपिशला और

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

काशकृत्स्ना नाम प्राप्त होते हैं। अम्भृण ऋषि की कन्या वाक्, गार्गी, मैत्रेयी, शश्वती आदि का उल्लेख भी प्राप्त होता है अर्थात् बीच-बीच में व्यतिक्रम के रूप में कोई-कोई नारी शिक्षा-प्राप्ति का सुअवसर पाती थी। किन्तु शास्त्रों को प्रमाणस्वरूप लें तो स्पष्ट है कि नारी का शिक्षा का अधिकार धीरे-धीरे सीमित होता जा रहा था। इसीलिए शिक्षिता नारी के प्रसंग में कहा गया है 'स्त्रियः सतीः ता उ ये पुंसः आहुः' (तैत्तिरीय आरण्यक, १।११।४) अर्थात् नारी होकर भी वे पुरुष हैं। ब्राह्मण साहित्य के युग से ही शिक्षित नारियों की संख्या उंगली पर गिनी जा सकती है। धीरे-धीरे स्थिति यह बनी कि गणिका के अलावा और किसी नारी को शिक्षा का अधिकार नहीं रहा। हो सकता है संगीत, नृत्य, चित्रकला के क्षेत्र में नारी को कुछ अधिकार सुलभ रहे हों किन्तु अन्यान्य विषयों से वह आमतौर पर वंचित थी। अपवाद अवश्य ही होते थे। बृहदारण्यक उपनिषद में पंडिता कन्या पाने के लिए पिता-माता द्वारा करणीय कुछ अनुष्ठान की बात कही गयी है (६।४।१३) लेकिन उसे अपवाद ही मानना चाहिए।

सोमयाग के एक पर्व में मिट्टी के कुछ पात्रों को जमीन पर रखा जाता है और कुछ को ऊपर; इसीलिए सद्योजात कन्या को धरती पर रखा जाता है और पुत्र को ऊपर (तैत्तिरीय संहिता ६।५।१०।३)। समाज में नारी वही स्थान आजीवन प्राप्त करती है—पुरुष से नीचे।

पुरुषों में बहुविवाह की प्रथा ऋग्वेद युग से चली आ रही है। वैसे ऋग्वेद युग में नारी को भी बहुपति का अधिकार प्राप्त था तथापि थोड़े समय बाद ही यह अधिकार वह खो बैठी। तैत्तिरीय संहिता और ब्राह्मण में लिखा है—यज्ञ में एक डंडे पर दो कपड़े लपेटे रहते हैं अतः पुरुष को दो स्त्री रखने का अधिकार है। एक कपड़े का टुकड़ा दो डंडों को नहीं लपेट सकता अतः पत्नी को दो पति का अधिकार नहीं है (तैत्तिरीय संहिता ६।६।४।३; तैत्तिरीय ब्राह्मण १।३।१०।५८)। अन्यत्र भी उल्लेख प्राप्त होता है—'एकस्यपुंसो बहेन्या जाया भवन्ति'

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(शतपथ ब्राह्मण ६।४।१।६) एक पुरुष के अनेक पत्नियाँ होती हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस प्रकार की व्यवस्था के बहाने यज्ञ के विधि-विधान की दोहाई देने पर भी इन सब का उद्देश्य रहा है समाज में प्रचलित रीति-व्यवहार और आचरण को शास्त्र का समर्थन दिलवाना। और इस प्रकार की व्याख्याओं में केवल पुरुषों के लिए सुविधाजनक आचरण का समर्थन ही प्राप्त होता है। संभवतः पूर्ववर्ती युग में प्रचलित नारी का बहुपतित्व इसी युग में समाप्त होने लगा इसीलिए यहाँ पर पुरुष के दो पत्नी ग्रहण करने का उल्लेख होने पर भी व्यवहार में पुरुष के बहुपत्नीत्व के अनेक दृष्टांत प्राप्त होते हैं। (ऋग्वेद ७।२६।३)। यजुर्वेद युग से ही राजा के चार पत्नियाँ रहती थीं, महिषी, वावाता, परिवृक्ति (या परिवृत्ती) और पालागली। इसके अतिरिक्त राजा के अंतःपुर में अनेक उपपत्नियाँ भी होती थीं। मैत्रायणी संहिता के अनुसार मनु के दस और चन्द्रमा के सत्ताइस पत्नियाँ थीं। अनेक पत्नियाँ होने पर भी उनके प्रति समान भाव अपेक्षित था इसीलिए चन्द्रमा के रोहिणी के प्रति विशेष अनुरक्त होने के कारण उन्हें यक्ष्मा हुआ, इसीलिए यक्ष्मा का एक और नाम है 'जायेन्य' (तैत्तिरीय संहिता २।३।५।१-३)। विवाह में कन्या का दान पति को नहीं पति के परिवार को किया जाता था—कुलाय ही स्त्री प्रदीयते (आपस्तंब धर्मसूत्र २।१०।२७।३)। इसका कुफल आज भी प्रतिदिन अखबार में पढ़ने को मिलता है—ससुर-सास-ननद-देवर-जेठ सब मिलकर इसी अधिकार के परिणामस्वरूप बहू को पीड़ा पहुँचाते हैं।

(घ)

नारी पुरुष का अपरार्द्ध है सुनकर मन प्रफुल्लित हो उठता है पर अधिक समय के लिए नहीं क्योंकि इसके तत्काल बाद का अंश है—"इसीलिए जब तक वह वधू नहीं बनती या उसे संतान नहीं होती तब

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तक पुरुष असम्पूर्ण है (तैत्तिरीय संहिता ६।१।८।५) अर्थात् संतान जन्म के आवश्यक प्रयोजन के लिये ही नारी पुरुष का अपरार्द्ध है, मानसिक या सामाजिक किसी अर्थ में नहीं। ऋग्वेद में नववधू को आशीर्वाद दिया गया है—ससुर, सास, देवर, ननद सबकी सम्राज्ञी (या अधीश्वरी) बनो (१०।८५।४६)। पहली बात वधू के सामान्य जीवन में सम्राज्ञीत्व दुर्लभ था इसीलिए वह आशीर्वाद। दूसरी बात बाद के अनगिनत शास्त्रों में इसका खंडन किया गया है। इसीलिए अथर्ववेद में लिखा है—सूर्योदय होने पर प्रेत वैसे ही तेजी से दौड़कर भागता है जैसे पुत्रवधू ससुर के सामने से दौड़कर भागती है (८।६।२४)। कौन सम्राज्ञी कब प्रजा के सामने से इस प्रकार दौड़कर भागती है। उत्तम नारी की संज्ञा है—जो पति को संतुष्ट करे, पुत्र को जन्म दे तथा पति की बात के ऊपर जवाब न दे (ऐतरेय ब्राह्मण ३।२४।२७ ; बाद में ऐसी ही उक्ति प्राप्त होती है आपस्तम्ब धर्मसूत्र में (१।१०।५१-५३)। और जो भी हो, यह चित्र किसी युग में भी किसी सम्राज्ञी या अधीश्वरी का नहीं है वरन् है दीनतम प्रजा या दासी का जो पुरुष प्रभु के डर से, उसके संकोच से नेपथ्यचारिणी रहती है।

विवाह के सभी मन्त्रों में कहा गया है कि स्त्री चिंतन और कर्म के स्तर पर पति की अनुवर्तिनी हो, पति के चित्त की अनुगामिनी हो। कहीं भी यह नहीं कहा गया है कि स्त्री में भी चित्त नाम की वस्तु है और पति को भी उसके अनुकूल होना होगा। बीच-बीच में उल्लेख प्राप्त होता है सुन्दरी वधू पति का प्रेम प्राप्त करती है (शतपथ ब्राह्मण १३।१।६।६)। इसमें नारी को केवल एक शरीर के रूप में देखा गया है, उसमें कोई अन्य आकर्षण भी हो सकता है इस बात की स्वीकृति शास्त्रों में कहीं नहीं प्राप्त होती। बात सहज ही समझ में आती है कि सुन्दरी वधू के रूप-यौवन का ज्वार एक दिन उतरेगा और तब उसे पति का प्रेम प्राप्त करने का अधिकार नहीं रह जायेगा। इसके अतिरिक्त रूप-ज्वार उतरने के पहले भी यदि तुलना में अन्य सुन्दरी नारी पर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पति की नजर पड़ गयी तो वह उसे घर में लाकर पहली पत्नी की मर्यादा का खण्डन कर सकता है। इसीलिए सपत्नी के विनाश के लिए, पति का एकनिष्ठ प्रेम प्राप्त करने के लिए या उसे वश में रखने के लिए ऋग्वेद एवं अथर्ववेद में अनेक अभिचार क्रियाओं का उल्लेख प्राप्त होता है। यह मुसीबत उस युग की नारी के लिए कितनी वास्तविक और सर्वनाशी थी, आज उसकी कल्पना करना भी कठिन है।

नारी का स्थान धीरे-धीरे अंतःपुर के भीतर गहरे जाने लगा। यद्यपि ऋग्वेद में मुद्गलिनी, विश्पला, वध्रिमति, शशीयसी आदि योद्धा नारियों की चर्चा प्राप्त होती है जो या तो युद्ध में आहत हुई थीं या विजयिनी ; तथापि ऋग्वेद के प्रथम युग के बाद समाज जीवन में नारी की कोई भूमिका प्रकट रूप से नहीं रह गयी (ईसा पूर्व ३२७ साल में मेसेगा के घेरे के समय भारतीय योद्धा नारी का उल्लेख कार्टियस ने किया है किन्तु यह भूमिका अपवाद ही थी, आपद्धर्म के रूप में स्वीकार करना ही उचित है)। ब्राह्मण युग में ही नारी को अवरोध में रखने की बात सुनाई पड़ती है "नहीं तो उसकी शक्ति का क्षय होगा" (शतपथ ब्राह्मण १४।१।१।३१)। यह कैसी शक्ति थी जो अवरोध में रखने से ही अक्षुण्ण रह सकती थी ? अथर्ववेद में अनेक 'प्रतिष्ठापन' सूक्त हैं जिनका उपयोग पलातका या पलायन के लिए उद्यत नारी को अंतःपुर में रोक रखने के लिए किया जाता था। फलस्वरूप अंतःपुर-वासिनी धीरे-धीरे बंदिनी हो गयी थी।

(ङ)

जातिबद्ध, कौमबद्ध समाज धीरे-धीरे टूट रहा था और उसका स्थान ले रहा था परिवार-आश्रित या कुलबद्ध समाज। एक बड़े परिवार के रहने का स्थान कुल कहलाता था, उसमें तीन चार पीढ़ी के लोग रहते थे। इस बड़े परिवार के छोटे-छोटे विभाग होते थे जिसमें एक पुरुष रहता था और उसके चारों ओर उसका अपना परिवार विकसित होता

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

था। इसमें पति सर्वेसर्वा होता था। और इस बृहत्, संयुक्त परिवार के परिवेश में ही गुरुजन एवं बाल-बच्चों के सामने ही वह पुरुष एक-एक करके अनेक नारियों को पत्नी के रूप में लाता था। उसकी स्त्री को लेकिन वह स्वाधीनता नहीं प्राप्त थी क्योंकि 'एक पति के अनेक पत्नियां होने पर भी उनके लिए एक ही पति यथेष्ठ है (ऐतरेय ब्राह्मण ३।५।३।४७)। इसी प्रकार जब मर्जी आये तब पुरुष गणिकालय जा सकता था, उसके उप-पत्नी या गणिका से संभोग करने में समाज ने किसी प्रकार की बाधा नहीं पहुँचायी। लेकिन पति में हजार दोष होने पर भी यदि पत्नी उप-पति ग्रहण करती तो समाज उसे महापाप मानता था। और नारी के लिए गणिकालय जैसी विकल्प व्यवस्था कभी किसी समाज में थी ही नहीं।

विवाह के समय वर कहता है—'आओ हम एक हों. ताकि हमें पुत्र संतान प्राप्त हो, 'जसके द्वारा सम्पत्ति की वृद्धि होगी।' इसी के अंत में प्रार्थना है– पुत्र, पौत्र, दास, शिष्य, वस्त्र, कम्बल, धातु, अनेक भार्या, राजा, अन्न और सुरक्षा के लिए (हिरण्यकेशी गृह्यसूत्र १।६।१२।१४)। लक्ष्य करने की बात है कि सबसे पहले, विवाह के समय ही नव-विवाहिता वधू के साथ और उसके सामने ही 'अनेक भार्या' के लिए प्रार्थना की जा रही है और दूसरी कुछेक भोग्य वस्तुओं के साथ 'अनेक भार्या' का उल्लेख किया गया है। अपवाद हैं पुत्र, पौत्र, शिष्य और राजा। इनमें से पुत्र, पौत्र अपनी व्यक्ति-सत्ता का ही विस्तार हैं—समय पाकर अर्थात् मृत्यु के बाद भी वे अपने पूर्व पुरुषों के वंश की धारा को लोप न होने देंगे। शिष्य जीविका के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं और राजा सुरक्षा के लिए। नहीं तो वस्त्र, कम्बल, धातु, दास और 'बहुभार्या' सभी भोग्य वस्तु हैं। कन्या-सम्प्रदान के समय मातामह, पितामह का उल्लेख है, मातामही, पितामही का नहीं तथापि पिता-माता धरती पर आये थे इनके माध्यम से ही। विवाह के समय पुरुष की ओर से कन्या में जिन पांच वस्तुओं की कामना की जाती है वे हैं

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

धन, रूप, विद्या, बुद्धि, और वंश। इनमें से विद्या और बुद्धि की कोई उपयोगिता है भी या नहीं, यह विवाद का विषय है (मानव गृह्यसूत्र १।७६; अन्यत्र भी उल्लेख है)।

स्त्री का मुख्य प्रयोजन है संतान की जननी होने के लिए और उसका प्रधान कर्त्तव्य है पुत्र संतान को जन्म देना (आपस्तम्ब धर्मसूत्र १।१०।५१-५३)। निस्सन्तान पत्नी को विवाह के दस वर्ष बाद त्यागा जा सकता है, जो पत्नी केवल कन्या संतान को जन्म दे उसे बारह वर्ष बाद और कलह-परायणा को उसी पल त्यागा जा सकता है (बौधायन धर्मसूत्र २।४।६; आपस्तम्ब धर्मसूत्र २।५।११-१४; मनु संहिता ९।४)। पुत्र संतान को जन्म न देने पर पत्नी का त्याग करने का विधान बहुत पुराना है। शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है—या वा अपुत्रा पत्नी सा परिवृत्ती (५।२।३।१३) जो अपुत्रा है वह परित्यक्ता है। पुत्र संतान को जन्म न देने पर पति दुबारा विवाह कर सकता है (वशिष्ठ धर्मसूत्र २८।२-३)। इसके विपरीत मानवीय संवेदना से अनुप्रेरित उक्तियां भी प्राप्त होती हैं जैसे कलहप्रिया, अपवित्र, गृहत्यागिनी, बलात्कृता, चोर द्वारा ले जायी गयी होने पर भी स्त्री का त्याग नहीं किया जा सकता। भ्रष्टा स्त्री भी प्रायश्चित्त करके पवित्र हो सकती है (वशिष्ठ धर्मसूत्र २१।८-१०)। आपस्तम्ब का कहना है कि स्त्री का परित्याग करनेवाले पति को कठोर दंड देने का विधान करना उचित है (आपस्तम्ब धर्मसूत्र १।१०-१६, २८)। स्त्री को कठोर वचन भी कहने पर एक दिन के उपवास का विधान है (बौधायन धर्मसूत्र २।२।६३-६४) लेकिन समाज इस सम्बन्ध में क्या विचार रखता था इसके दृष्टांत उपलब्ध हैं। किसी-किसी धर्मशास्त्र में कहा गया है बलात्कृता नारी को अगले महीने से पति पवित्र माने; वशिष्ठ के अनुसार बलात्कृता नारी प्रायश्चित्त से पवित्र हो जाती है। आपस्तम्ब का कहना है कि स्त्री को कठोर वचन कहने पर भी प्रायश्चित्त स्वरूप एक दिन का उपवास करना होगा। अवश्य ही पति को कटु वचन कहने पर तुरन्त त्याग कर दिया जाता था। जो भी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हो, रामचन्द्र को तो अवश्य ही यह सब पता था विशेषकर तब जब कि शास्त्रकार उन्हें आदर्श चरित्र मानते हैं (रामादिवत् प्रवर्तितव्यम् न रावणादिवत्—राम की तरह आचरण करना उचित है, रावण की तरह नहीं । वे रामचन्द्र यदि सचमुच मानते रहे हों कि सीता अपवित्र हैं तो भी शास्त्रों के विधान के अनुसार एक महीना बाद पवित्र मान सकते थे, प्रायश्चित्त के द्वारा शुद्ध कर सकते थे और स्वयं उन्होंने जो अनुचित एवं कटु बातें सीता को कही थीं उसके लिए एक दिन का उपवास करना उचित था। इतना ही नहीं स्त्री का परित्याग करने का दण्ड भी उन्हें मिलना चाहिए था। लेकिन उन्होंने यह सब कुछ भी नहीं किया, आदर्श चरित्र होने के बावजूद दण्ड या प्रायश्चित्त कुछ का विधान नहीं हुआ तब फिर दूसरों की बात ही क्या। अर्थात् ये सब मानविक निर्देश थे शास्त्रकारों की "समदर्शिता" का प्रतिपादन करने के लिए, व्यवहार में पुरुष शासित समाज में ये सब बातें पुस्तकों के पन्नों तक ही सीमित रहती थीं। सुनने में श्रुतिमधुर लगने वाले ऐसे बहुत से विधान हैं :— धर्षिता नारी से धर्षण करनेवाला यदि विवाह न करे, तो नियमानुसार बिना पण उसका विवाह हो सकता है (बौधायन धर्मसूत्र ४।१।१५-१६) लेकिन सारे संस्कृत साहित्य में भ्रष्ट स्त्री को समाज से दण्ड के सिवा और कुछ नहीं मिला। इसी प्रकार अनेक धर्मशास्त्रकारों का कहना है कि भ्रष्ट स्त्री का स्वामी द्वारा परित्याग होने पर (अर्थात् इन सब उदार शास्त्रवाक्यों के बावजूद पति परित्याग करता था) पुत्र उसके भरण-पोषण की व्यवस्था करेगा। समझ में आता है कि यौन दुर्नीति के सम्बन्ध में समाज में दो स्पष्ट धारणाएँ थीं—एक पुरुष के लिए, दूसरी स्त्री के लिए। नारी के क्षेत्र में ही यौन-अपराध, अपराध था, पुरुष के क्षेत्र में समाज बहुत दूर तक प्रश्रयशील था। जिस देश में "सती" शब्द के उसी अर्थ का द्योतक कोई पुल्लिग शब्द नहीं है, उस देश में और कुछ की आशा भी नहीं की जा सकती।

'कुमारी कन्या का पिता यदि यथा समय उसका विवाह न कर सके

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तो तीन साल (या तीन महीना) बाद वह जिससे चाहे विवाह कर सकती है लेकिन ऐसा विवाह उसे कोई अधिकार नहीं देगा, हर तरह से वह पुरुष के अधीन रहेगी।' वशिष्ठ धर्मसूत्र में कहा गया है—पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने। रक्षन्ति स्थविरे पुत्रा न स्त्री स्वातंत्र्यमर्हति(५।१-२ ; २।२,३,४४,४५) अर्थात् कुमारावस्था में नारी की रक्षा करेंगे पिता, यौवनावस्था में पति और वृद्धावस्था में पुत्र। नारी स्वाधीनता के योग्य नहीं। बहुत पहले ही शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है—स्त्रियः पुंसोऽनुवर्त्मानो भावुकाः (१३।२।२४) अर्थात् नारी के लिए पुरुष की अनुगामिनी होना ही उचित है। बृहदारण्यक उपनिषद् में पढ़ने को मिलता है—पतिम् वा अनु जाया (१।६।२।१४) अर्थात् स्त्री पति के पीछे। याद आ रही है ऋग्वेद के उषा वर्णन की—उषो याति स्वसरस्य पत्नी (१।११५।२) सूर्य की पत्नी उषा चल पड़ी है। कहाँ ? सूर्य या पति के आगे-आगे। लेकिन इसके बाद नदी में न जाने कितना पानी बह गया। बाद में ब्राह्मण साहित्य के युग में स्त्री पति की अनुगामिनी, उसके अधीन हो गयी। एक ओर कहा गया है—श्रिया वा एतद्रूपम् यत् पत्न्यः (तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।६।४।१६) अर्थात् पत्नी ही समृद्धि का स्वरूप है। दूसरी ओर सुनने में आता है—तद्वै समृद्धम् यस्य कनीयांसो भार्या आसन् भूयांसः पशवः (शतपथ ब्राह्मण २।३।२।८) अर्थात् समृद्ध वही है जिसके पास पशुओं से स्त्रियां कम संख्या में हों। पहली बात तो यह कि पशुओं के साथ उसी क्रम में स्त्री का उल्लेख किया गया। दूसरी यह कि स्त्रियों के किस संख्या तक होने की संभावना थी कि पशु के साथ उनकी तुलना करने का प्रश्न उठा।

(च)

शास्त्रों ने नारी का इच्छानुसार शासन और भोग करने का अधिकार पुरुष को दिया है लेकिन उसके साथ जो दायित्व दिया है वह निहायत नगण्य है। अवश्य ही बौधायन सूत्र में कहा गया है कि

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सर्वेषां वर्णानाम् वधू रक्ष्यतमा धनात् अर्थात् सभी वर्णों के लिए धन से अधिक स्त्री की रक्षा करना उचित है (२।४२) लेकिन व्यवहार में प्रचलित थी चाणक्य की वही सुविधावादी नीति—आत्मानं, सततं, रक्षेद्दारैरपि धनैरपि—अपनी रक्षा सदा करना, आवश्यकता हो तो धन और स्त्री के विनिमय से भी। वैदिक या परवर्ती साहित्य में धन के विनिमय से स्त्री की रक्षा करने का कोई प्रमाण नहीं प्राप्त होता। वैदिक युग के एकदम प्रारम्भिक पर्व के बाद नारी को शिक्षा का भी अधिकार नहीं रह गया क्योंकि दो-एक अपवादों को छोड़कर उन्हें उपनयन का अधिकार नहीं था। जन्मावधि उसके सारे संस्कार मंत्र-हीन हैं. वह स्वयं मंत्र पाठ करने या हवि डालने की अधिकारिणी नहीं रह गयी और उस युग में विद्या तो मंत्रों के माध्यम से ही प्राप्त होती थी अतः विद्यार्जन का उसे कोई अधिकार नहीं रह गया। अमंत्रक विद्याएँ अर्थात् कुछ साधारण गाना-बजाना, सिलाई-बुनाई, हाथ का और घर का सारा काम· पति, सन्तान तथा श्वसुर कुल के सब लोगों की सुबह से शाम तक सेवा करना उसका काम था संतान और विशेषकर पुरुष सन्तान को जन्म देने में ही उसकी परम सार्थकता थी। वैसे अन्यान्य देशों की तरह हमारे यहाँ भी कुछ पुरुषों के मन में शिक्षिता नारी का सान्निध्य पाने की स्वाभाविक स्वस्थ आकांक्षा भी थी लेकिन वह पूरी हो सकती थी गणिकालय में ही क्योंकि केवल मात्र गणिका ही शिक्षिता होती थी और प्राचीन भारत में केवल वही स्वाधीन भी थी। कुल-वधू को शिक्षा से सर्वथा वंचित करके और राष्ट्रीय खर्च से गणिका को सब विद्याओं में पारंगत बनाकर समाज ने नारी के घोर अपमान की व्यवस्था की थी। सन्तान को जन्म देने एवं उसका लालन-पालन करने तथा घर के काम-काज और सेवा से श्रीहीन विगत-यौवना अशिक्षिता स्त्री जब पति का मनोरंजन करने में अक्षम हो तब स्वाधीन-यौवना शिक्षिता गणिका की ओर जानेवाला रास्ता खुला रखकर समाज ने कुलनारी को असम्मान की पात्री बनाने में तनिक भी द्विधा का अनुभव नहीं किया।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सोमयाग का एक प्रकरण है अग्नि पत्नीवत्। उसमें लिखा है—"वज्र या लाठी से मारकर स्त्री को दुर्बल बना देना उचित है ताकि अपने शरीर या सम्पत्ति पर उसका कोई अधिकार न रह जाये (शतपथ ब्राह्मण ४।४।२।१३)। यहाँ यज्ञ के प्रसंग में एक अनुष्ठान में यज्ञ की हवि को क्यों लाठी से मारना चाहिए उसकी व्याख्या के प्रसंग में यह कहा गया है किन्तु बात बहुत साफ समझ में आती है कि इस व्याख्या के बहाने शास्त्र ने स्त्री को लाठी से मारने का अबाध अधिकार पुरुष को दे दिया। साथ ही सारी सम्पत्ति से उसे वंचित करने का अधिकार भी। उससे भी महत्वपूर्ण बात यह है कि स्वयं अपने शरीर पर उसका कोई अधिकार न रहे, इसकी भी पक्की व्यवस्था कर दी गई। प्रचलित सामाजिक आचार-व्यवहार का ही शास्त्रीय समर्थन इससे प्राप्त होता है। सबसे विख्यात एवं दीर्घ उपनिषद् बृहदारण्यक में स्वयं ऋषि याज्ञवल्क्य कहते हैं :-- स्वामी की सम्भोग-कामना की पूर्त्ति के लिए सम्मत न होने पर पहले पुरुष उपहार देकर खरीदने की चेष्टा करे (जिस शब्द का प्रयोग किया गया है वह है अवक्रीणीयात् मानो स्त्री खरीद-फरोख्त की वस्तु हो) उस पर भी सम्मत न हो तो हाथ या लाठी से मारकर उसे वश में करे (६।४।७)। स्पष्ट समझ में आता है कि इस तथ्य को सर्वथा नकारा गया कि नारी के पास मन नाम की कोई वस्तु है। स्वयं अपने शरीर पर उसका कोई अधिकार नहीं रहा और केवल असम्मान ही नहीं मार-पीट करने का भी पूरा अधिकार पति को दिया गया। अपनी इच्छानुसार पति द्वारा अनेक पत्नियों के लाने, जारिणी या उपपत्नी के पास जाने और इतना ही नहीं वेश्या के पास जाने पर भी प्रतिवादस्वरूप मुँह खोलने तक का अधिकार स्त्री को नहीं था। वैसा करते ही उसे त्याग देने का अधिकार पति को था। इस त्याग का क्या अर्थ था उस समाज में यह समझना होगा। गणिकावृत्ति या दासीवृत्ति के अलावा परित्यक्ता नारी की और कोई गति नहीं थी। उसके पास अपनी कोई सम्पत्ति

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नहीं होती थी और पिता या पति की सम्पत्ति पर उसका कोई अधिकार नहीं रहता था। (मैत्रायणी संहिता १।१०।११; ३।६।३ ; तैत्तिरीय संहिता ४।५।८।७)। साथ ही जीवित रहने के लिए अन्य किसी वृत्ति के लिए उपयोगी शिक्षा उसे दी नहीं जाती थी। फलस्वरूप केवल जीवनधारण के लिए ही उसे पूरी तरह पति पर निर्भर करना पड़ता था।

बार बार कहा गया है कि स्त्री को सभा में जाने का अधिकार नहीं है (मैत्रायणी संहिता ४।७।४)। किसी प्रकार की शिक्षा प्राप्त करना, धन अर्जन करना या स्वाधीन रूप से भोग करना, यहाँ तक कि अवांछित सम्भोग से अपने शरीर की रक्षा करने तक का अधिकार उसे नहीं था (मैत्रायणी संहिता ३।६।३; ४।६।७; ४।७।४; १०।१०।११; तैत्तिरीय संहिता ६।५।८।२)। उसके बेटे-बेटियों के सामने ही उसका पति अनेक पत्नियों या उप-पत्नियों को ला सकता था, और इस असम्मान को बिना प्रतिवाद चुपचाप सहते जाने का विधान था। लेकिन उसके साधारण से पदस्खलन के लिए समाज कठोर दंड देता था। आपस्तम्ब (धर्मसूत्र ३।४) और हिरण्यकेशी (गृह्यसूत्र १।४।१४।२) ने व्यभिचारिणी नारी के लिए जिस दंड का विधान किया है वह जैसा निष्ठुर है वैसा ही घृण्य, उसको जबान तक लाने में जुगुप्सा होती है। स्त्री के प्रेमी की हत्या करने के लिए धर्मीय अभिचार क्रिया का विधान और निर्देश दिया गया है शास्त्रों में (बृहदारण्यक उपनिषद ४।४।१२,१३ ; हिरण्यकेशी गृह्यसूत्र १।४।१४।७) लेकिन ऐसी ही स्थिति में पड़े पुरुष के लिए कोई दंड नहीं है। अनेक पत्नी, उप-पत्नी और इच्छानुसार गणिकालय-गमन का अबाध अधिकार उसने अपने लिये सुरक्षित रखा। कहीं-कहीं प्राजापत्य नाम के नाममात्र के प्रायश्चित्त का विधान प्राप्त होता है लेकिन बृहत् संस्कृत साहित्य में किसी वेश्यागामी पुरुष ने कोई प्रायश्चित्त नहीं किया।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(छ)

तब वैदिक भारत ने नारी को किस दृष्टि से देखा था ? नारी अपवित्र है अतः स्वाभाविक रूप से वह हुई पापिष्ठा और अमंगल का कारण। चतुर्मास के अन्तर्गत वरुणप्रघास यज्ञ में प्रतिप्रस्थाता पुरोहित भरी सभा में खुलेआम यजमान-पत्नी से (यजमान से नहीं) पूछते थे 'किन सह चरसि ?' (तैत्तिरीय संहिता २।५।२।२०) अर्थात् किसके साथ व्यभिचार किया है ? इस खुले अपमान को चुपचाप पीकर उसे उत्तर देना होता था नहीं तो यज्ञ खण्डित हो जाता। मैत्रायणी संहिता में साफ कहा गया है—नारी अशुभ है (३।८।३ ; तैत्तिरीय संहिता में भी यही बात है ६।५।८।२)। कहा गया है—यज्ञ के समय कुत्ता, शूद्र और नारी की ओर मत देखना (शतपथ ब्राह्मण ३।२।४।६)। ये सारी उक्तियाँ इतनी स्पष्ट हैं कि आध्यात्मिक व्याख्या की कोई गुंजाइश नहीं।

नारी की प्रमुख दो संज्ञायें हैं, उसका स्थान भी इन दोनों में सीमाबद्ध है—वह पुत्र की जननी है और वह भोग्य-वस्तु है। तैत्तिरीय संहिता में ही है—"तस्मादु ह स्त्रियो भोगमेव हारयन्ते" अतः नारी संभोग लाती है (२।३।१०।७)। इसका रचनाकाल अनुमानतः ईसापूर्व आठवाँ शतक है जिसका तात्पर्य यह है कि गत तीन हजार वर्षों से भारतवर्ष में नारी को भोग्या के रूप में ही देखा गया। परवर्तीकाल के गौतम धर्मसूत्र में लिखा है—पशुभूमि स्त्रीणामनतिभोगः (१२।३६) अर्थात् पशु, भूमि और नारी का अधिक भोग नहीं। नारी के भोग्या रूप का उल्लेख शास्त्रकारों ने अकुण्ठ भाव से बार-बार किया है। निर्लज्जता से। इसीलिए नारी को स्थान मिला दक्षिणा में दी जाने-वाली वस्तुओं की सूची में। सारस्वतानामयन याग की दक्षिणा है एक घोड़ी और एक संतानवती दासी (शांख्यायन श्रौत सूत्र १२।२६।२१)। घोड़ी सवारी के काम आएगी, दासी का बेटा बड़ा होकर सेवा करेगा और दासी स्वयं भोग्या वस्तु होगी अर्थात् दक्षिणा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

के रूप में विना मूल्य एक घोड़ा, एक भोग्या नारी, दासी और एक क्रीतदास मिल गया। किसे मिला? यज्ञ करवानेवाले ब्राह्मण पुरोहित को। अन्य अनेक यज्ञों में नाना स्तरों की नारियों को दक्षिणा में देने का विधान है—संतानवती, अप्रसूता, अनूढ़ा। और वह भी सैकड़ों में, हजारों में। रामायण और महाभारत की कथा में वैदिक युग के थोड़े बाद के समाज का ही चित्रण किया गया है। अतिथि-सत्कार में, उत्सव में, युद्ध में, यज्ञ में, दहेज में, दान और दक्षिणा में गाय-सोना-शस्य-रथ-गज-अश्व के साथ ही असंख्य नारियों के दान का उल्लेख इन ग्रन्थों तथा परवर्ती पुराणों में असंख्य वार पढ़ने को मिलता है। यदि नारी को एक वस्तु और वह भी मुख्यतः भोग्या वस्तु के रूप में न देखा गया होता तो ऐसा दान सम्भव न होता। नारी सम्पत्ति है अतः उसे जुए के दांव पर लगाया जा सकता है -ऋग्वेद-युग से लेकर (अक्ष सूक्त १०।३४।४) महाभारत युग तक।

'कन्या अभिशाप है' (ऐतरेय ब्राह्मण ६।३।७।१३) अतः गर्भवती नारी के लिए पुंसवन नामक अनुष्ठान आवश्यक है जिससे गर्भस्थ सन्तान पुरुष हो। आपस्तम्ब धर्मसूत्र में कहा गया है— (नारीम्) न हृदयेन प्रार्थयेत् (१।२७७।१-१०) अर्थात् हृदय से नारी की प्रार्थना (याचना या कामना) करना उचित नहीं, लेकिन यथेच्छ भोग करने में कोई बाधा नहीं है। नारी मिथ्याचारिणी है, दुर्भाग्यस्वरूपिणी है, मदिरा या द्यूतक्रीड़ा की तरह एक व्यसन मात्र है (मैत्रायणी संहिता १।१०।११ ; ३।६।३)। इस संहिता का रचनाकाल ईसा पूर्व आठवें शतक के आसपास है। उतने प्राचीन काल में ही नारी व्यसन में परिणत हो गयी थी। नारी रात में पति को मुग्ध करके अपनी इष्ट-सिद्धि कर लेती है (काठक संहिता ३१।१ : इसी काल की रचना) अर्थात् नारी छलनामयी है, स्वार्थी है मानो पुरुष तुलना में उत्कृष्ट जीव हो, ये सब दोष उसमें नहीं केवल नारी में हों। "सर्वगुणसम्पन्ना श्रेष्ठ नारी भी इसी कारण अधमपुरुष से हीन है।" (तैत्तिरीय संहिता ६।५।८।२)। यह अनृत तथा मिथ्या है क्या? "स्त्री, शूद्र, कुत्ता और काले पक्षी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

को मत देखो अन्यथा श्री और पाप, प्रकाश और अन्धकार, सत्य और मिथ्या एकाकार हो जायेंगे" (शतपथ ब्राह्मण १४।१।१।३१)। स्त्री पति के खाने के बाद खायेगी (वही) क्योंकि "भुक्त्वोच्छिष्टं वध्वैव ददात" (खादिर गृह्यसूत्र १।४।११) खाने के बाद उच्छिष्ट स्त्री को देगा। नारी का स्थान इससे और स्पष्ट क्या किया जा सकता है? जहाँ दास को पुराना कपड़ा-जूता देने का विधान है लेकिन स्त्री को स्वयं भोजन कर लेने के बाद जूठा देने का, वहाँ स्त्री को किस दृष्टि से देखा जाता था, इस बारे में किसी संशय की गुंजाइश नहीं रह जाती। आपस्तंब धर्मसूत्र में यह बात सबसे स्पष्ट रूप में कही गयी है—काला पक्षी, शकुनि, नेवला, छछून्दर और कुत्ता की हत्या करने का जो प्रायश्चित्त है वही नारी हत्या और शूद्र हत्या का है अर्थात् केवल एक दिन का कष्टसाध्य व्रत (१।६।२३, ४५)।

परवर्ती साहित्य में नारी को भोग्य वस्तु और पण्यवस्तु कहने के साहस का मूल वैदिक साहित्य में ही है। धीरे-धीरे भोगत्व और पण्यत्व पर जोर बढ़ता ही गया। सीता-परित्याग के समय भी रामचन्द्र ने कहा कि परहस्तगता नारी का भोग वे नहीं कर सकेंगे। यह है मूल बात प्राचीन भारत में पति-पत्नी के सम्बन्ध की। अवरोध की दुर्भेद्य दीवार के पीछे नारी को क्रमशः सिमटते जाना पड़ा। ऐसा हुआ क्यों? क्यों धीरे-धीरे अपने व्यक्तित्व को पूर्णतः खोकर नारी एक वस्तु मात्र में परिणत हो गई? इसका विस्तृत विवेचन यहाँ नहीं करूंगी, इसके केवल एक पक्ष की चर्चा ही करूंगी। सम्पत्ति पर जब समूहगत अधिकार का स्थान व्यक्तिगत अधिकार ने ले लिया अर्थात् जाति या कौम टूटकर कुल या संयुक्त परिवार ही समाज की न्यूनतम इकाई बन गये, तब समाज में एक और परिवर्तन घटित हुआ। उत्पादन से कुछ धन बचा और वह विभक्त हुआ समाज के मुट्ठी भर लोगों के बीच। यह धन जो अधिकतर आक्षरिक अर्थ में स्वअर्जित नहीं था, निचले स्तर के लोगों की श्रमशक्ति का उपयोग करके, उनका शोषण करके प्राप्त किया गया था। चूंकि यह किसी व्यक्तिगत गुण या योग्यता के द्वारा प्राप्त

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

नहीं हुआ था अतः इसके बारे में धन के मालिक के मन में अतिरिक्त स्वत्वाधिकार की भावना पैदा हुई। इसके साथ ही डर भी मन में समाया कि यह धन कालांतर में स्वयं उसके या उसके वंशधरों के हाथ से निकल न जाये। व्यक्ति की परमायु की तो सीमा है। उसके बाद ? उसके बाद भी वह धन उसके वंशधर भोग करें, यह इच्छा उसमें बड़ी बलवती हुई। अपनी संतान के अतिरिक्त यह धन और किसे सौंपा जाय ? कैसे निश्चिन्त हुआ जाय कि संतान अपनी ही है ? स्त्री को हर समय आंखों के सामने रखकर, यथासंभव पर-पुरुष के सत्संग से दूर रखकर। इसी कारण नारी का बहुपतित्व समाज में निषिद्ध हो गया क्योंकि उससे संतान के पितृ-परिचयके बारे में संशय उठ खड़ा होता था। हमें यह स्मरण रखना होगा कि इस युग के पहले के युग में जब समाज जातिबद्ध या कौमबद्ध था तब संतान भी जाति या कौम की संतान के रूप में जानी जाती थी। उस समय पितृत्व या पतित्व की सीमा इतनी सुस्पष्ट नहीं थी। यह बात तब भी स्मृति में जीवित थी इसीलिए और भी भय था। उस युग में सभी नारियां जाति या कौम के सभी पुरुषों की भोग्या थीं, सब पुरुष भी सभी नारियों के थे। नारी को इस प्रकार की स्वाधीनता के युग में स्त्री या संतान का परिचय किसी एक पुरुष के साथ एकांत और अभिन्न रूप से नहीं जुड़ा था। इस युग के तुरन्त बाद के युग में जब व्यक्तिगत मालिकाना प्रतिष्ठित हुआ और अपनी सम्पत्ति केवल अपनी ही संतान के लिए छोड़ जाने की उग्र वासना जागी तब यह जरूरी हो गया कि स्त्री को दूसरे पुरुष के सम्पर्क में न आने दिया जाय ताकि अपनी औरस संतान का परिचय निश्चित रहे। इसके अलावा तब तक तो स्त्री भी सम्पत्ति बन गयी थी अतः वह किसी और की भोग्या न बने इसलिए उस पर अपना सोलह आना अधिकार जाहिर करना जरूरी हो गया। एक और कारण भी था। तब तक पुरुष के पर-नारी सम्भोग के अधिकार को समाज ने स्वीकार कर लिया था। वह तब तक वैध विवाह करके अनुलोम या प्रतिलोम— अनेक पत्नियों का स्वामी हो सकता था और दूसरी उप-पत्नियों का

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उप-पति। इतना ही नहीं गणिकालय का रास्ता भी उसके लिए खुला था। इस जीवन का अभ्यस्त पुरुष अपनी एकान्त-भोग्या पत्नी को भी इस तरह की सन्देह की दृष्टि से देखे यह स्वाभाविक था क्योंकि "आत्मवन्मन्यते जगत्"। इस कारण स्त्री पर उनका पहरा बढ़ने लगा और बढ़ते-बढ़ते यहाँ तक पहुँच गया कि स्त्री हुई कैदी और पति हो गया पहरेदार। यह हुआ उत्तर वैदिक युग के समाज का चित्र। अपवाद अवश्य थे पर वे अपवाद ही होते थे। परवर्ती दो हजार वर्षों में जंजीरें कसती गईं, और उसमें नारी को लपेट-लपेटकर घुमा-घुमाकर बाँधा गया, ताला या बंधन और भी मजबूत हो गया। इस बीच अपने स्वैराचार से उत्पन्न संशय के क्रूर बन्धन में प्रहरी कब स्वयं कैद हो गया, कब अपनी मित्र और सहचारिणी को खोकर उसने एक निरक्षर निष्प्राण यंत्र जैसी दासी को प्राप्त किया, यह उसे स्वयं पता नहीं। निरंकुश शासन और शोषण कहीं सब दिन नहीं चलता। जिस वंचना के चलते पुरुष ने इतनी नाकाबंदी की थी अन्त में उसने उसे भी वंचित किया और जिस परिमाण में नारी ने उस वंचना को अपने में बिना प्रतिवाद स्वीकार किया, उस परिमाण में वह स्वयंनिर्मित जंजीरों में बंदिनी बनती गयी। वैदिक भारत में नारी की कोई मर्यादा नहीं थी। मनुष्य के रूप में उसकी कोई स्वीकृति ही नहीं थी। अन्यान्य प्राचीन सभ्यताओं में भी नहीं थी लेकिन उनके उत्तर-पुरुष इस बात को स्वीकार करते हैं। कहते हैं नारी सर्वप्रथम इसी शताब्दी में अपने अधिकारों के प्रति सचेतन हुई है, पहले वह अत्याचारिता बंदिनी ही थी। केवल हम लोग ही यह कहते हैं कि वैदिक युग में नारी की महिमामय प्रतिष्ठा थी। इससे केवल सत्य का खंडन हो सो नहीं, अतीत को सही रूप में न देख सकने के कारण अतीत का जो विष वर्तमान समाज-देह में प्रवहमान है उसको समझने, उसको रोकने तथा एक स्वस्थ भविष्य के लिए प्रस्तुत होने की तैयारी में अनावश्यक देरी हो रही है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

याज्ञवल्क्य और उपनिषद युग

याज्ञवल्क्य विश्वामित्र के वंशधर थे। इनके पिता चारायण, देवरात, ब्रह्मरात, यज्ञवल्क. वाजसनि आदि नाना नामों से प्रसिद्ध थे। माता सुनन्दा थीं। याज्ञवल्क्य की दो पत्नियाँ थीं—मैत्रेयी और कात्यायनी। कात्यायनी के पुत्र थे कात्यायन। शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि शुक्ल यजुर्वेद याज्ञवल्क्य की रचना के रूप में प्रसिद्ध है अर्थात् वाजसनेयी संहिता के रचयिता थे ये। शतपथ ब्राह्मण और बृहदारण्यक उपनिषद भी इन्हीं की रचनाएँ थीं। शिक्षा नामक एक ग्रन्थ और दो-एक छोटे उपनिषद भी इन्हीं की रचनाएँ माने जाते हैं। स्पष्ट है कि प्राचीन भारतीय चिंतन-धारा के गठन में याज्ञवल्क्य का अवदान महत्वपूर्ण एवं प्रचुर था।

शुक्ल यजुर्वेद की टीका के प्रारम्भ में टीकाकार महीधर याज्ञवल्क्य और यजुर्वेद के सम्बन्ध में एक कथा कहते हैं। व्यास के शिष्य ऋषि वैशम्पायन ने ब्रह्महत्या का पाप लगने पर प्रायश्चित्त के लिए शिष्यों को कृच्छ्र साधन करने का आदेश दिया। तब याज्ञवल्क्य ने अकेले ही सब की ओर से प्रायश्चित्त करना चाहा। वैशम्पायन को यह अहम् असह्य प्रतीत हुआ और उन्होंने अत्यन्त क्रुद्ध होकर याज्ञवल्क्य को पढ़े हुए वेदों का वमन कर देने का आदेश दिया। फलस्वरूप याज्ञवल्क्य ने पठित वेदों का वमन किया। तब वैशम्पायन के अन्य शिष्यों ने तित्तिरि (तीतर) का रूप धारण करके वमन किये गये यजुर्वेद का भक्षण किया। यह यजुर्वेद कृष्ण अर्थात् अपवित्र था क्योंकि याज्ञवल्क्य द्वारा वमन किया हुआ वेद था। तित्तिरि के रूप में अन्यान्य शिष्यों ने इसको ग्रहण किया था अतः इसका नाम हुआ तैत्तिरीय। ध्यान देने की बात है कि याज्ञवल्क्य ने जिस वेद का अध्ययन गुरु से किया था उसे पवित्र, शुक्ल माना गया और वही उनके द्वारा रचित शुक्ल यजुर्वेद की वाजसनेयी संहिता के नाम से परिचित है। वाजसनि याज्ञवल्क्य के पिता का नाम था इसी कारण याज्ञवल्क्य वाजसनेय

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

थे और उनसे प्राप्त संहिता वाजसनेयी। अवश्य ही यह कथा शब्दशः सत्य नहीं है तथापि इससे प्राचीन भारत में याज्ञवल्क्य के चरित्र और कीर्ति के सम्बन्ध में लोगों की धारणा स्पष्ट समझ में आती है। याज्ञवल्क्य उद्धत थे, हो सकता है थोड़े दंभी भी रहे हों। सारे शिष्यों द्वारा किये जानेवाले प्रायश्चित्त को अकेले करना चाहने के प्रस्ताव में जहाँ आत्मशक्ति पर विश्वास का परिचय मिलता है वहीं इसमें थोड़ा औद्धत्य भी प्रकट होता है। कम से कम गुरु को तो वैसा ही लगा था लेकिन इससे याज्ञवल्क्य की परार्थपरता भी तो प्रकट होती है। सबकी ओर से अकेले प्रायश्चित्त करने के प्रस्ताव का क्या तनिक भी महत्व नहीं ? कथाकार ने यद्यपि उस पक्ष पर कोई बल नहीं दिया है लेकिन बल न देने पर भी क्या वह बात नहीं कही गयी है ? उन्होंने जिस संहिता की रचना की वह शुक्ल थी, जो वमन किया एवं जिसे शिष्यों ने भक्षण किया वह कृष्ण थी। आज हमें ज्ञात है कि शुक्ल यजुर्वेद केवल मंत्रों का संकलन होने के कारण "शुक्ल" कहा जाता है और कृष्ण यजुर्वेद मंत्रों के साथ अंकुर रूप में ब्राह्मण साहित्य में विकसित गद्य के प्रचुर मिश्रण के कारण "कृष्ण" कहा जाता है। लेकिन उस समय याज्ञवल्क्य को इस कथा के माध्यम से शुचितर संहिता के रचयिता के रूप में ही अभिहित किया गया था।

शुक्लयजुर्वेद संहिता के अन्त में शतपथ ब्राह्मण है और उसके अन्त में है बृहदारण्यकोपनिषद् अर्थात् एक ही साथ आरण्यक भी और उपनिषद भी। यह सब याज्ञवल्क्य द्वारा ही रचित है। शुक्लयजुर्वेद संहिता की कोई खास विशिष्टता नहीं है लेकिन समस्त ब्राह्मण साहित्य में विशिष्टतम है शतपथ ब्राह्मण और आरण्यक तथा उपनिषद समूह में तथ्यपूर्ण स्वतंत्र रचना है बृहदारण्यकोपनिषद। इनका विशद विवेचन करना इस निबन्ध का उद्देश्य नहीं है। मैं केवल याज्ञवल्क्य के चरित्र को केन्द्र में रखकर ब्राह्मण-उपनिषद युग को थोड़ा और स्पष्ट रूप से समझने का प्रयत्न करना चाहती हूँ। महीधर की कथा में याज्ञवल्क्य

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizaqtion by eGangotri

को एक स्वेच्छाचारी उद्धत व्यक्ति के रूप में चित्रित किया गया है। सच पूछिए तो ब्राह्मण और उपनिषद में याज्ञवल्क्य का जो चरित्र उभरता है उससे भी इस धारणा की पुष्टि होती है।

प्रचलित संस्कारों को अस्वीकार करने में याज्ञवल्क्य को कोई बाधा नहीं थी। उनके द्वारा रचित शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है—गाय व अनडुह् (साँड़) का मांस खाने से व्यक्ति पतित होता है। लेकिन इसके तुरन्त बाद ही याज्ञवल्क्य कहते हैं—लेकिन मैं इसका भक्षण करूँगा यदि यह अच्छी तरह पकाया हुआ (सुसिद्ध) होगा तो।[1] प्राचीन भारत में गोमांस-भक्षण का चलन था। इस सत्य को ढाँकने के लिए आजकल न जाने कितने छल-कौशल का आश्रय लिया जाता है। याज्ञवल्क्य को अनुमान नहीं था कि उनके उत्तर पुरुषों को ऐसी परिस्थिति में पड़ना होगा अतः वे निःसंकोच अपनी बात कह गये। यज्ञ के लिए खरीदा गया सोम हुआ अतिथि इसीलिए राजा के लिए, ब्राह्मणों के लिए, मनुष्य के हव्य के रूप में जिस तरह बड़ा साँड़, बड़ा हाथी, या बड़ा बकरा पकाया जाता था उसी तरह देवताओं के लिए इसको (सोम को) आतिथ्य के रूप में दिया जाता था।[2] बृहदारण्यकोपनिषद में कहा गया है—गौरवर्ण पुत्र की कामना हो तो पिता एक वेद पाठ करें, स्त्री को दूध में पकाया हुआ अन्न खिलायें, गेहुआं-पीताभ रंगवाले पुत्र की कामना हो तो दो वेदों का पाठ करें और स्त्री को दही-भात खिलायें ; श्यामवर्ण लोहिताक्ष पुत्र की कामना हो तो तीन वेदों का पाठ करें और स्त्री को पानी से पकाया हुआ अन्न खिलायें, पंडिता पुत्री की कामना हो तो स्त्री को तिल मिश्रित अन्न खिलायें, पंडित, यशस्वी, सभा में सुप्रतिष्ठित वाक्चतुर पुत्र की कामना हो तो चारों वेदों का पाठ करें और स्त्री को बैल या साँड़ के मांस से युक्त भोजन करायें।[3] बृहदारण्यकोपनिषद के अंतिम भाग में एक कथा के अन्त में कहा गया है कि पाँच पशुओं का भक्षण ब्राह्मण के लिये वर्जित है क्योंकि इनमें से मेध (यज्ञ में हव्य रूप में व्यवहार्य) निकल

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

गया है। ये पाँच हैं—मनुष्य, अश्व, गौ, भेड़ और बकरा।[4] साफ समझ में आता है कि बौद्ध और जैन धर्म के समान संन्यासी सम्प्रदाय द्वारा भी प्राणी हत्या का निषेध और अहिंसा का प्रचार ही इन उक्तियों के मूल में था। एक और बात है, इस तालिका में मनुष्य भी सम्मिलित है। सम्भवतः प्रागैतिहासिक आदिम प्रथा के अवशेष रूप में (जिसमें युद्ध में पराजित व्यक्ति को मारकर खाया जाता था) यह प्रथा चली आती रही हो या यह भी सम्भव है कि मनुष्य सर्वत्र अभक्ष्य जीवों की तालिका में आगे रहा हो। लेकिन भेड़ और बकरे की तरह घोड़ा और गाय अवश्य ही भक्ष्य जीवों की तालिका में सम्मिलित थे और जब निषेध आया तो प्रायः सचराचर भक्षित सभी जीवों के लिए आया। बाकी बचे एण (हरिण) का मांस, शशमांस और वाध्रिणस (गेंडा) का मांस अर्थात् जिन्हें शिकार से ही प्राप्त किया जा सकता था अतः जिन्हें पाना अनिश्चित था। या सम्भव है मृगया राजाओं के लिए विलास था अतः इनके बारे में थोड़ी छूट दी गयी हो। और भी ध्यान देने की बात है कि याज्ञवल्क्य ने केवल ब्राह्मणों के लिये अमेध्य मांस के भक्षण का वर्जन किया है अर्थात् क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि तब भी घोड़ा, गाय, भेड़ और बकरे के मांस का भक्षण कर सकते थे। केवल यज्ञ में इनका व्यवहार नहीं किया जा सकता था और ब्राह्मण के लिये इनका खाना वर्जित था। पहले इस निषेध के अभाव में यज्ञ में प्रचुर पशुओं की बलि चढ़ाई जाती थी जिसके फलस्वरूप समाज में पशु-धन में कमी होने लगी—गोधन का क्षय और अश्वधन का ह्रास होने लगा होगा। देश की पशु सम्पदा का संरक्षण भी इस निर्देश का एक उद्देश्य हो सकता है।

नारी के सम्बन्ध में याज्ञवल्क्य का कथन है—जाया अपना (अर्थात् पुरुष का) अर्धांश है।[5] विवाह में कन्या सम्प्रदान के प्रसंग में कहा है—किसने दान दिया ? किसे दान दिया ? काम ने ही दान दिया, काम ही दाता है और काम ही प्रतिग्रहीता है।[6] अर्थात्

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कामना ही विवाह की भित्ति है, कामना ही एक पुरुष और एक स्त्री को परस्पर आत्मदान के लिये अनुप्रेरित करती है। इस उक्ति में सत्य-द्रष्टा ऋषि की दृष्टि की स्वच्छता ही दिखलाई पड़ती है। अन्यत्र ऋषि सृष्टि के रहस्य का उद्घाटन करते हैं कि अकेले रहने में किसी को सुख नहीं मिलता अतः लोग अकेले न रहकर एक और की खोज करते हैं। प्रगाढ़ आलिंगनबद्ध नारी और पुरुष को उन्होंने अलग किया, तब पति-पत्नी की सृष्टि हुई, इसीलिए यह (युगल) दो दलवाले बीज की तरह है। बृहदारणकोपनिषद में ब्रह्म उपलब्धि के उपमान के रूप में नारी-पुरुष के प्रेम को प्रतिष्ठित करके याज्ञवल्क्य ने इसे चरम मर्यादा प्रदान की—जिस प्रकार प्रिय स्त्री के आलिंगन में बद्ध पुरुष को बाह्यजगत् का कुछ भी बोध नहीं रह जाता उसी प्रकार ब्रह्मज्ञान प्राप्त होने पर बाह्यजगत् का कोई बोध नहीं रह जाता।[8] अपनी स्त्री मैत्रेयी से वे कहते हैं—पति की कामना करने से ही पति प्रिय नहीं होते, होते हैं तब जब उनके मध्य (स्त्री) अपने को अभिस्थापित कर पाती है।[9] यह कथन भी मोह-मुक्त दृष्टि का प्रमाण है और मनोविज्ञान के सूक्ष्मज्ञान का परिचायक—पति, मित्र, पुत्र आदि उतने ही प्रिय होते हैं जितना उनके मध्य अपने को अनुभव किया जाता है। नारी की दुर्बलता का ज्ञान भी ऋषि को था, वे कहते हैं जो पुरुष नाच-गा सकता है नारी उसी के प्रति सबसे अधिक आकृष्ट होती है।[10]

यज्ञ का भी अपरार्ध है यजमान पत्नी।[11] पत्नी को सह-धर्मचारिणी कहा जाता है लेकिन व्यवहार में यज्ञ में पत्नी का करणीय अत्यन्त गौण होता है। लगता है इस देश में आर्यों के आगमन के तत्काल बाद यह स्थिति नहीं थी।[12] यज्ञ में यजमान दम्पति दोनों को कुछ न कुछ करना पड़ता था। परवर्ती काल में प्रागार्य नारी से विवाह करने पर नवागता को आर्य समाज द्वारा सामाजिक मान्यता दी जाने पर भी जन्म से भिन्नधर्मी होने के कारण यज्ञ में उसे अधिकार प्रदान करने में समाज ने कुंठा का बोध किया जिसके फलस्वरूप यज्ञ में यजमान,-पत्नी का

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अधिकार धीरे-धीरे कम होता गया। लेकिन याज्ञवल्क्य यह स्मरण कराना चाहते हैं कि यज्ञ में पुरुष का एकाधिपत्य नहीं है, पहले नारी भी यज्ञ के अर्धांश के रूप में मानी जाती थी। उनके समय यजमान-पत्नी का अधिकार बहुत ही सामान्य रह गया था तब भी उसके भावगत अधिकार को उन्होंने स्वीकार किया है।

उनके अपने जीवन में नारी के साथ दो संलापों का उल्लेख बृहदारण्यकोपनिषद् में प्राप्त होता है। एक बार ब्रह्म के सम्बन्ध में गार्गी के साथ प्रश्नोत्तर होने का उल्लेख है। गार्गी के अन्तिम अतिप्रश्न के उत्तर में वे कहते हैं—और अधिक प्रश्न मत करो गार्गी, तुम्हारा माथा गिर (फट) जायगा।[13] कहने की आवश्यकता नहीं कि इस सतर्क करनेवाली उक्ति में एक प्रकार का पराजय स्वीकार करना अंतर्निहित है। स्पष्ट रूप से नारी के निकट पराजय स्वीकार करने के बदले वे गार्गी को प्रकारान्तर से अटपटे प्रश्न करने से विरत करते हैं। दूसरे उपाख्यान में अपनी पत्नी मैत्रेयी से उनके संलाप का उल्लेख है। तपस्या के लिए वन में जाने से पूर्व दोनों पत्नियों को सम्पत्ति बाँट देने की याज्ञवल्क्य की इच्छा से कात्यायनी निश्चित रूप से सतुष्ट थीं लेकिन मैत्रेयी ने प्रश्न किया—"तुम जो दे रहे हो उससे क्या मैं अमर होऊँगी ?" सत्यनिष्ठ पति ने कोई धूर्तता नहीं की, कहा "इससे अमरता की लेश मात्र संभावना नहीं है।" मैत्रेयी बोली—"जिससे अमर नहीं हो सकती उसे लेकर क्या करूँगी।" तब गुरु की दृष्टि से मैत्रेयी को ब्रह्म विद्या की वास्तविक अधिकारिणी समझकर याज्ञवल्क्य ने अकृपणभाव से इस नारी को ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया।

यज्ञ के समय ऋत्विक प्रतिप्रस्थाता (सोमयाज के छठें ऋत्विज) यजमान पत्नी से प्रश्न करते हैं—किसके साथ तुमने व्यभिचार किया है। एक की होते हुए जो नारी अन्य के साथ व्यभिचार करती है वह वरुण के प्रति अपराध करती है इसलिए यज्ञ के समय (यह गोपन तथ्य) तीर की तरह न सालता रहे इसलिए वह स्वीकार करती है। स्वीकार

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

न करके वह अपने कुटुम्ब के प्रति अन्याय करेगी। कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रतिप्रस्थाता का प्रश्न और यजमान-पत्नी का उत्तर दोनों याज्ञवल्क्य की कल्पना नहीं हैं, वे यज्ञ में प्रचलित रीति मात्र हैं। उनकी कल्पना केवल व्याख्या में है कि तीर की तरह चुभने वाले गोपन पाप को मन में रखकर नारी अपने परिवारवालों के प्रति अपराधिनी न रहे इसलिए यह स्वीकारोक्ति थी। ध्यान देने की बात है कि व्यभिचारिणी होने पर भी यजमान-पत्नी यज्ञ के अधिकार से वंचिता नहीं होती थी स्वीकार मात्र से पवित्र हो जाती थी। यह सही है कि इस प्रकार का कोई प्रश्न यजमान से नहीं किया जाता था अर्थात् उस युग में भी समाज में नारी और पुरुष के लिये दो अलग-अलग नैतिक मानदण्ड निर्धारित थे। फिर भी समाज की स्थिति-स्थापकता अर्थात् लचीलापन और याज्ञवल्क्य की इस वस्तुनिष्ठ व्यावहारिक दृष्टि से आश्चर्य होता है। दण्ड की कोई बात ही नहीं, केवल स्वीकारोक्ति। मनुष्य की स्वाभाविक दुर्बलता के बारे में नीति-वागीश्वरों की तरह ऋषि का कोई ऊँचा मनोभाव व्यक्त नहीं होता वरन् "अंतःशल्या" शब्द अपराधिनी के प्रति मंगल कामना का ही सूचक प्रतीत होता है।

यज्ञ करना धर्माचरण है लेकिन मनुष्य यज्ञ क्यों करता है इस सम्बन्ध में याज्ञवल्क्य कहते हैं—प्राचीन काल में ऋषिगण कामना के वशीभूत होकर ही यज्ञ किया करते थे "यही हमारी कामना है, यह पूरी हो"—यही कहकर।[15] याज्ञवल्क्य की दृष्टि में देवता और मनुष्य एकदम अलग-अलग नहीं थे। देवगण मनुष्य पर निर्भर करते हैं, पृथ्वी पर किये गये हवि के दान से ही उनकी जीवन रक्षा होती है।[16] मनुष्य जिस तरह असुरों को वंचित रखना चाहता है उसी प्रकार देवता भी मनुष्य को स्वर्ग से वंचित रखना चाहते हैं। पशुओं को पाकर मनुष्य समृद्ध हो यह देवताओं को पसन्द नहीं।[17] मनुष्य को लेकर देवताओं की ऐसी ईर्ष्या का आभास प्रायः मिलता है।

मनुष्य प्रजापति के सबसे निकट का (जीव) है, वह शतायु है,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

शततेजा है, शतवीर्य है।[1] स्वर्ग पहले मर्त्य के बहुत पास सटा-सटा था। देवताओं ने चाहा कि स्वर्ग और मर्त्य अलग हों, एक दूसरे से दूर हो जायें और वैसा ही हुआ।[19] यह वैसी ही ईर्ष्या थी जैसी मनुष्य और असुरों के बीच सदा से चली आ रही थी हम पाते हैं कि याज्ञवल्क्य की दृष्टि में देवता भी इनसे वरी न थे। याज्ञवल्क्य देवताओं को निर्दोष या आत्म निर्भर नहीं मानते थे वरन् उन्होंने यहाँ तक कहा कि देवता मनुष्य से कनीयान थे।[20] अर्थात् संख्या में देवता मनुष्य से कम थे। देवतागण सत्य कहते-कहते दरिद्र और तुच्छ हो जाते हैं, मनुष्य के साथ भी ऐसा ही होता है तथापि अंत में सत्यवादी मनुष्य श्री-लाभ करता है जैसे देवताओं को भी समृद्धि लाभ हुआ था।[21] ये देवता मनुष्य से बहुत ऊँचे स्तर के जीव नहीं जान पड़ते, इनमें क्षुधा, तृष्णा, दारिद्र्य, तुच्छता, ईर्ष्या, उत्थान, पतन सभी दिखाई पड़ते हैं अर्थात् याज्ञवल्क्य की दृष्टि में देवता मनुष्य के बहुत निकट स्तर के जीव हैं। इससे देवताओं का गौरव उतना घटा नहीं जितना मनुष्यों का गौरव बढ़ा।

वर्ण विभक्त समाज में, विभिन्न वर्णों के स्थान और उनकी परस्पर मर्यादाओं के सम्बन्ध में याज्ञवल्क्य खूब सचेतन थे विशेषकर राजा के साथ वैश्य और ब्राह्मणों के सम्पर्क को लेकर। निर्मल दृष्टिवाले ऋषि स्पष्ट देख रहे थे कि प्रजा की सम्पत्ति नाना तरह से राजकोष में आ रही है। इसलिये बार-बार कहा—अन्न प्रजा है भोक्ता क्षत्रिय (अर्थात् राजन्य)।[22] श्रेणी के हिसाब से इस समय क्षत्रियों का प्राधान्य ही दिखलायी पड़ता है। राजकार्य के लिये ब्राह्मण अयोग्य है यह बात बहुत स्पष्ट कही गयी है।[23] ईसा पूर्व आठवीं शताब्दी के बाद से ही उत्तर भारत में अनेक छोटे-छोटे राज्यों का उदय हुआ। उन राज्यों के राजा अपनी-अपनी सीमा के एकछत्र अधिपति होते थे। अतः राजन्य (अर्थात् राजा) और क्षत्रिय दोनों ही वर्ग के रूप में शक्तिशाली होते गये। राजकोष के समृद्ध होते ही ये नाना यज्ञों के अनुष्ठान करने लगे और याजक ब्राह्मण यजमान क्षत्रिय को अन्नदाता और प्रतिपालक

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

के रूप में देखने लगे। क्षत्रियों के आश्रय और प्रश्रय में ब्राह्मणों की श्रेणीसत्ता सुरक्षा और समृद्धि का भोग करने लगी। अतएव क्षत्रियों का श्रेणीगौरव ब्राह्मणों की दृष्टि में स्पष्ट ही समझ में आने लगा। यह कथा ही पुराकल्प का रूप लेती है—पहले केवल ब्रह्म (ब्राह्मण) थे। अकेले कार्य सम्पादन में असमर्थ होने पर उन्होंने श्रेयरूप में क्षत्रियों की सृष्टि की। देवताओं में क्षत्रिय हैं इन्द्र, वरुण, सोम, रुद्र, पर्जन्य यम, मृत्यु और ईशान। इसीलिये क्षत्रियों से ऊपर और कोई नहीं है, इसीलिए ब्राह्मण राजसूय यज्ञ में क्षत्रिय की नीचे से उपासना करता है, क्षत्रिय में यश की स्थापना करता है।[24] राजसूय यज्ञ में आसन्दी पर विराजमान राजा 'ब्रह्मन्' सम्बोधन द्वारा ऋत्विक का आह्वान करते हैं। उत्तर में ऋत्विक कहते हैं—हे राजा, आप ही ब्रह्मा हो। इन सब निर्देशों से लगता है कि क्षत्रिय राजा और ब्राह्मण पुरोहितों के बीच क्षमता की आपेक्षिकता को लेकर उसी समय एक अंतर्निहित आंदोलन समाज में उभरने लगा था। याद रखना चाहिए कि तत्कालीन समाज में ये दोनों ही क्षमता के शिखर पर समान रूप से स्थित थे। मध्ययुग में योरोप में चर्च और स्टेट के बीच जो द्वन्द्व दिखलाई पड़ता है वह शायद हमारे यहाँ अंकुर रूप में इस तरह प्रकट हो रहा था खासकर जबकि उपनिषद् का युग क्षत्रियों के अभ्युत्थान का ही युग था।

केवल प्रताप और पराक्रम में ही क्षत्रिय श्रेष्ठ रहे हों, सो नहीं, ज्ञान, यहाँ तक कि ब्रह्म-ज्ञान के क्षेत्र में भी क्षत्रिय ही उसके प्रथम अधिकारी और प्रवक्ता थे। श्वेतकेतु आरुणेय ने कहा—गौतम, इससे पहले यह विद्या किसी ब्राह्मण में स्थित नहीं थी।[25] क्षत्रिय राजा जनक ने याज्ञवल्क्य से "कामप्रश्न" वर प्राप्त किया अर्थात् वे जब जो इच्छा-प्रश्न याज्ञवल्क्य से कर सकते हैं।[26] याज्ञवल्क्य को जनक की पैनी बुद्धि से भय लगा विशेषकर सृष्टि में अंतर्निहित शेष तत्त्व के सम्बन्ध में यदि यह बुद्धिमान राजा अनुरोध कर बैठे तो।[27] जरत्कारु

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आर्तभाग याज्ञवल्क्य से एक प्रश्न का उत्तर देने की विनती करते हैं—मृत्यु के बाद आत्मा कहाँ रहता है। तब याज्ञवल्क्य उन्हें एकांत में ले जाकर उनसे कर्म के सम्बन्ध में बातचीत करते हैं।[28] राजा प्रवाहण जैवलि से प्रश्नोत्तर में परास्त होकर श्वेतकेतु आरुणेय पिता गौतम से जाकर शिकायत करते हैं कि पिता ने उन्हें यथेष्ठ ज्ञान नहीं दिया। अपनी अपूर्णता का ज्ञान होने पर गौतम स्वयं प्रवाहण जैवलि के पास विद्यार्थी बनकर गये। क्षत्रिय राजा प्रवाहण ने ब्राह्मण विद्यार्थी को और किसी से न कहने का आदेश देते हुए कहा—तुमसे पहले यह विद्या ब्राह्मणों को नहीं प्राप्त थी। इसीलिये सब लोगों में क्षत्रियों का प्रभुत्त्व था।[29]

ब्रह्मतत्त्व के सम्बन्ध में बृहदारण्यकोपनिषद् अत्यंत विचार सम्पन्न ग्रन्थ है। इसमें याज्ञवल्क्य इस तत्व के प्रवक्ता के रूप में स्थापित हैं। मूल उपनिषदों में प्रत्येक का विवेच्य विषय है ब्रह्मवाद। लेकिन बहुत बाद में रचित शंकर भाष्य को यदि हम छोड़ दें तो सभी उपनिषदों की तत्त्वदृष्टि में साधारण ऐक्य होने पर भी प्रचुर पार्थक्य दृष्टिगत होता है। प्रवक्ताओं में याज्ञवल्क्य की दृष्टि जैसी स्पष्ट थी वैसी ही कवित्वपूर्ण। तत्व की दृष्टि से चर्चा इस निबन्ध की सीमा से बाहर है, यहाँ पर केवल द्रष्टा के बोध और संवेदनशीलता को दिखलाने की ही चेष्टा की जा रही है। आत्मा क्या है? प्राण द्वारा जो प्राणित हो रहा है वही तुम्हारा आत्मा है, सब कुछ के अभ्यंतर में वह विद्यमान है।[30] पुत्र से जो प्रिय है, वित्त से जो प्रिय है, अन्य सब कुछ के अभ्यंतर में जो है, वही आत्मा है।[31] जो पृथ्वी पर रहते हुए उससे अंतराल पर स्थित है, पृथ्वी ने जिसे जाना नहीं, पृथ्वी जिसका शरीर है, जो पृथ्वी के अन्तर से नियंत्रित करता है, यही तुम्हारा वह आत्मा है—अन्तर्यामी, अमृत।[32] विदग्ध शाकल्य ने याज्ञवल्क्य से प्रश्न किया—का प्रियता याज्ञवल्क्य? ऋषि उत्तर देते हैं—प्राण एवं सम्राट।[33] राजा जनक प्रश्न करते हैं—पुरुष की ज्योति क्या है?

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

याज्ञवल्क्य कहते हैं सूर्य। 'सूर्य के अस्त होने पर ?' 'चन्द्रमा'। चन्द्रमा के न रहने पर ? 'अग्नि।' वह भी न रहे तो ? 'वाक्'। वह भी नीरव हो जाये तो 'आत्मा ही पुरुष की ज्योति है।[34] इस आत्मा की लीला ही संसार देखता है, इसे कोई नहीं देखता।[35]

यह आत्मा ही ब्रह्म है—यह बात उपनिषदों का मूल प्रतिपाद्य विषय है। ब्रह्म माने बृहत्। मनुष्य स्वयं को व्यष्टि सत्ता और समष्टि सत्ता के रूप में पहचानता है अर्थात् व्यक्ति के रूप में और परिवार, समाज तथा देश के संदर्भ में। इसके परे भी एक दृष्टि है—अतीत और भविष्य के सृष्टि के समस्त मनुष्यों के बीच अपनी सत्ता को भावलोक में प्रसारित करके उसके बीच अपने को खोजना। उपनिषद् के ऋषियों ने इस बृहत् को ही ब्रह्मनाम से अभिहित किया है—यही मनुष्य की चरम सत्ता है। स्मरण रखना चाहिए कि आर्यगण कुछ शताब्दी पूर्व ही बाहर से भारतवर्ष आये थे और प्रारम्भिक युद्धों के बाद बिना रक्तपात के यथा-सम्भव शान्ति से प्राक्आर्यों के साथ रह रहे थे। विवाह के माध्यम से अनेक प्रागार्य नारी और पुरुष आर्यों के समाज में अन्तर्भुक्त हो गये। ये अपने साथ लाये प्रागार्य धर्म और अनुष्ठान आदि। धीरे-धीरे उन्हें आत्मसात् करके आर्यों ने ब्राह्मण धर्म, उपासना और दर्शन को समृद्ध किया। आर्यों की जीवनयात्रा की धारा, विश्वास, आचार आदि बड़ी गहराई से प्रभावित और परिवर्तित करने वाले बिना रक्त-पात के इस विप्लव को सार्थक करने के लिए आर्य मनीषियों ने जहाँ एक ओर आर्य देवमण्डली में प्रागार्य देवताओं को स्थान दिया वहीं दूसरी ओर अपनी भावदृष्टि का सम्प्रसारण करके एक ऐसी विचारधारा का प्रवर्तन किया जिसमें विभेद गौण बन गया, ऐक्य ही प्रधान बन गया।[30] आर्यावर्त में अनेक छोटे-छोटे राज्य, नाना राज्य-व्यवस्थाएँ, नाना जाति, मत और आचार इन सब को कल्पनालोक में उपनिषदों ने एक संहति प्रदान करते हुए कहा :— सभी उस एक सत्ता के प्रकट रूप हैं, सब सत्य वही एक है, वही बृहत् ब्रह्म है, वही परम सत्ता आत्मा है,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

स्व-रूप है। कहने की आवश्यकता नहीं कि समाज में व्याप्त नाना सम्प्रदाय-भेद के कारण उत्पन्न अन्याय की एक काल्पनिक क्षतिपूर्ति के निमित्त की जानेवाली इस चेष्टा में जो अन्तर्निहित त्रुटि थी उसका पूरा मूल्य आज भी भारतवर्ष का समाज चुका रहा है। किन्तु इस काल में इस चेतना का विकास सम्भवतः जीवन के स्वरूप को समझकर क्षुद्र व्यक्ति-सत्ता को वृहत् समष्टि सत्ता के आंतरिक रूप में जानकर इसका यथार्थ अर्थ खोज पाने के लिए हुआ था। याज्ञवल्क्य की दृष्टि से यह जानना बहुत ही आवश्यक था इसीलिए वे कहते हैं—गार्गी, इस अक्षय को जाने बिना जो इस पृथ्वी से विदा लेता है वह दया का पात्र है, जो इस अक्षय को जानकर इस पृथ्वी से जा पाता है वही ब्राह्मण है।[37] ब्राह्मण क्यों? ब्रह्म या वृहत् को जाना है। इसलिए इस पृथ्वी पर रहकर ही हम उस (तत्त्व को) जान सकते हैं अन्यथा महाविनाश होगा। जो यह जानते हैं वह अमृत होते हैं और दूसरे दुःख पाते हैं।[38] यह तुम्हारी आत्मा सब कुछ के अभ्यंतर में है, इसके बाहर सब कुछ पीड़ामय है।[39] इसके बाहर क्या है? है विच्छिन्न अकेलेपन का बोध, जिस बोध के कारण हम केवल स्वतंत्र होते हैं, खण्डित एक व्यक्तिमात्र। अपनी उस एकक सत्ता का बोध भी मिथ्या नहीं है तथापि वह बोध अधूरा है, उस बोध से व्यक्ति की मृत्यु निश्चित होती है। इसीलिए वह बोध मृत्यु की चरम पीड़ा से युक्त है। मनुष्य का आत्मा तो केवल उस अकेले का नहीं है, समस्त मानव जाति का है, वहीं वह पूर्णता प्राप्त करता है, उससे बाहर वह द्वीप मात्र है, विच्छिन्न, तुच्छ, खण्डित एकान्तविध्वंसी। यह सत्ता ही मनुष्य की चरम सत्ता नहीं है, इस बोध मात्र से मनुष्य अपनी मृत्यु-सीमा का अतिक्रमण कर अपनी परम मानव सत्ता में अमरता प्राप्त करता है।

उपनिषद् में यह वृहत् या ब्रह्म पर जो महत्व आरोपित किया गया है उसका एक कारण यह हो सकता है कि यहाँ सारे चिन्तन की मूल प्रेरणा मृत्यु से आयी है। व्यक्तिसत्ता का सर्वथा लोप मानव जीवन

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain. Digitized by eGangotri

के सारे अर्थ का ऐसा प्रबल सम्पूर्ण अस्वीकार—जीवित व्यक्ति के लिए यह स्वीकार करना ही एक तरह की पराजय है। इसीलिए किसी न किसी तरह से मनुष्य सदा कहता रहा है कि मृत्यु से सब कुछ शेष नहीं हो जाता। जन्मान्तरवाद में मृत्यु द्वारा हुआ विनाश आपेक्षिक या आकस्मिक प्रतीत होता है। उपनिषद् में और भी सार्थक रूप में मृत्यु के साथ अमरता को भी समन्वित किया गया है। मैत्रेयी ने जब कहा कि "जिससे अमर नहीं होऊँगी उसे लेकर क्या करूँगी ?" तब इसके उत्तर में याज्ञवल्क्य ने कहा—"अपनी व्यक्ति सत्ता को विश्व सत्ता में स्थापित करके उसे स्व-रूप में जानो। वह सत्ता ही आत्मा है, वही ब्रह्म है। प्रकारान्तर से यही कहा गया कि यह वह ज्ञान है जो मनुष्य को अमर करता है क्योंकि व्यक्ति का नाश होता है लेकिन मनुष्य का नहीं। इतिहास के आदिकाल से जिस मनुष्य का अभियान नाना देश, नाना काल में अनागत की ओर उन्मुख है उसका विनाश नहीं होता। वही पुरुष है, वही ब्रह्म है, मनुष्य की भावसत्ता में वही आत्मा है। इस ज्ञान को प्राप्त करके इस पृथ्वी से विदा लेते समय मनुष्य इस आश्वासन के साथ जा सकता है कि निरवधि काल और विपुल पृथ्वी पर वह अक्षय है, अमर है। नाना जातियों और संस्कृति के सार्थक समन्वय के एकनिष्ठ सतत प्रयास के फलस्वरूप ही इस तत्त्व की उपलब्धि हुई थी।

उपसंहार में उपनिषद् के परिप्रेक्ष्य के सम्बन्ध में कुछ कहना उचित है। बार-बार देखने में आता है कि ब्रह्मोद्य या तत्त्व-जिज्ञासा की उपक्रमणिका के रूप में अत्यन्त तुच्छ घटनाओं का उल्लेख किया गया है। कहीं दुर्भिक्ष के समय हस्तिपक ग्राम में ब्रह्मवादी हीनवर्ण द्वारा उच्छिष्ट खराब उड़द (कुल्माष) खा रहे हैं, कहीं शकट के नीचे बैठकर शरीर खुजला रहे हैं, कहीं दरिद्र ऋषि के पास यज्ञ का ऋत्विक होने का न्यौता आ रहा है, कहीं बूढ़ी दुर्बल गाय को दक्षिणा के लिए सजाया जा रहा है, कहीं पिता के परिचय से हीन विद्यार्थी आचार्य के पास

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

शिक्षा प्राप्त करने के लिए आ रहा है। कहने की आवश्यकता नहीं कि तत्त्वचिन्तन की दृष्टि से ये सब अपरिहार्य नहीं, आचार्य और जिज्ञासु के बीच सीधे बातचीत शुरू हो सकती थी जैसा कि अधिकांश मूल उपनिषदों में हुआ है। जो साहित्य कथ्य और श्रव्य है—जैसे उपनिषद्, उसमें शब्दों की अधिकता से बचा जाता है इसलिए यह मानना होगा कि इन सब कथाओं का कोई तात्पर्य है। ऐसा लगता है कि उपनिषद्-कार कहना चाहते थे कि इस दैनन्दिन तुच्छता—जैसे दैन्य, असुन्दरता, अभाव, कंजूसी, हीनता आदि—के बीच ही तत्वज्ञान की आवश्यकता है, इन सब के लिए ही आवश्यकता है। इन सब से पलायन करने के लिए उपनिषद् नहीं है वरन् क्षुद्रता के परिवेश में रहते हुए क्षुद्रता का अतिक्रमण करके उस बृहत् को जानने के लिए उपनिषद् है—जिस बृहत् के मध्य विच्छिन्न खण्ड क्षुद्र भी अर्थमय हो उठता है। आदित्यवर्ण महान पुरुष सारे मानवों का प्रतिभू (जामिन) है। देश-काल में सीमाबद्ध, जाति आचार-संस्कृति में खण्डित, हीनता, दैन्य और असुन्दरता से युक्त एकाकी मानव जरा-मरणशील असहाय व्यक्ति, उस भावरूप में उस पुरुष में जो अनाद्यंत काल के मनुष्य के लिए कल्परूप है—एक अविनश्वर गौरव प्राप्त करता है। यहाँ पर याज्ञवल्क्य आदर्शवादी[40] हो गए हैं लेकिन वेदांत के इस प्राथमिक काल में भारतवर्ष में जाति-धर्म-वर्ण-संस्कृति के भेद के होते हुए भी इनमें समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न इस दर्शन की एक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक भूमिका थी।

एक बार विदेहराज बैठे थे, ऐसे में याज्ञवल्क्य आये। जनक ने उनसे कहा—"याज्ञवल्क्य, आपके आने का प्रयोजन ? आप पशुधन की आशा में पधारे हैं या सूक्ष्मतत्त्व की खोज में ?" याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—"दोनों के लिए ही राजन्।"[41] और एक बार की बात है। ब्रह्मतत्त्व के विचार में वेदज्ञों में जो श्रेष्ठ होगा उसके लिये विदेहराज जनक ने सोने की सींग मढ़ी एक हजार गौएँ बाँध रखी थीं। याज्ञ-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वल्क्य ने अपने शिष्य सोमश्रवा से कहा—"गायों को घर ले चलो।" यह सुन ब्राह्मण क्रुद्ध हो गये। उनमें से अश्वल बोले—"याज्ञवल्क्य, लगता है आप ही हम में से ब्रह्मिष्ठ (ब्रह्मज्ञान में श्रेष्ठ) हैं ? याज्ञवल्क्य ने कहा—ब्रह्मिष्ठ को हमलोग नमस्कार करते हैं। (आज यहाँ) हम तो गोधन की कामना से आये हैं।[42] श्वेतकेतु सोमशुष्म और याज्ञवल्क्य जनक के पास विचार के लिये गये। एक दिन विचार के बाद तै हुआ कि अगले दिन ब्रह्मोद्य (ब्रह्म के बारे में विचार) की मीमांसा होगी। याज्ञवल्क्य ने ब्राह्मणों से कहा—हम लोग ब्राह्मण हैं, ये क्षत्रिय। यदि हम इन पर विजय पाते हैं तो क्या कहेंगे कि किसे परास्त किया ? लेकिन यदि ये हम पर विजय पाते हैं तो सब लोग हमसे यही कहेंगे कि क्षत्रिय ने ब्राह्मण को परास्त कर दिया। (इसलिये) इस में कोई उत्साह मत दिखलाओ।[43]

इन उपाख्यानों में जिन याज्ञवल्क्य के दर्शन हमें होते हैं उनमें ऋषि जनोचित ज्ञान एवं वाणी की प्रखरता का परिचय नहीं मिलता वरन् परिचय मिलता है उनके प्रखर सामान्य ज्ञान और वस्तु स्थिति की जानकारी का उनकी प्रबल निस्संकोच सत्यनिष्ठा का। उपनिषद् में दैनन्दिन जीवन यात्रा और व्यावहारिक जीवन के सम्बन्ध में कोई कृत्रिम संकोच नहीं है। जीवित रहने के लिए अर्थ का प्रयोजन है, पशुओं की आवश्यकता है, सोनेमढ़ी सींगवाली मिल रही हो तो ले लेना चाहिए। और बड़े-बड़े ब्रह्मज्ञ जिसे स्वीकार नहीं कर पाये उसे याज्ञवल्क्य ने बड़ी सहजता से कहा—राजसभा में जो समवेत हुए हैं वे ब्रह्म के लिये नहीं आये हैं, आये हैं स्वर्ण और पशुधन की आशा में। परवर्तीकाल में ऐहिक जीवन के प्रति आसक्ति इतनी अधिक बढ़ गयी कि यह अकुण्ठित सत्यभाषण का साहस विरल हो गया। दैनन्दिन की आवश्यकता माया नहीं है, उसकी पूर्त्ति बहुत आवश्यक है और उस आवश्यकता की पूर्त्ति में कोई पाप नहीं है, लज्जा नहीं है यह भी याज्ञवल्क्य के आचरण से स्पष्ट होता है। कोई कहता है अन्न ब्रह्म है,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कोई कहता है प्राण ही ब्रह्म है। प्राण और अन्न दोनों देवता एक होकर परमता को प्राप्त करते हैं। अन्न पर सारे प्राणी निर्भर करते हैं।[44] उपनिषदों में असुरों से भी प्रबल शत्रु दो माने गये हैं—अशनाया (बुभुक्षा) और मृत्यु। यज्ञ का पहला प्रयोजन है अन्न की सृष्टि और उसकी रक्षा। बार बार ऋषियों से कहा—अन्न की उपेक्षा मत करो, अन्न की रक्षा करो, उसकी वृद्धि करो।

मनुष्य का सबसे बड़ा और अमोघ शत्रु है मृत्यु। वास्तव में अनेक तात्विक चिंतन का सूत्रपात ही मृत्यु के प्रति सचेतनता से हुआ है। जीवन का तात्पर्य समझने का प्रयत्न करते चलो तो पहला धक्का मिलता है मृत्यु से, जो आकर मृत्यु से टकरा जाय उसका आत्यंतिक मूल्य ही क्या? इसीलिये सारे उपनिषदों में यही कहा गया है कि ब्रह्मज्ञान उत्पन्न होने पर मृत्यु पराभूत होती है, मनुष्य मृत्यु का अतिक्रम कर जाता है। कैसे? जहाँ व्यक्ति की खण्डसत्ता नश्वर है, वहाँ सामग्रिक जातिसत्ता में मानव संज्ञा से अभिहित जीव का अनाद्यन्त इतिहास शाश्वत है। "मैं मरूँगा लेकिन हम मनुष्यगण कभी निःशेष नहीं होंगे।" यह विश्वास ही अमरता है, इसी में जीवन का अर्थ निहित है। अकेले जीवन की दृष्टि से जो प्रयत्न अर्थहीन है, वह मानवजाति की सुदूर प्रसारी सत्ता के परिप्रेक्ष्य में महत्त्वपूर्ण है। लगता है बृहत् की चेतना से ही ब्रह्म-कल्पना का उद्भव हुआ है, इस बृहत् का का क्षय नहीं होता।

याज्ञवल्क्य को वैदिक युग के उत्तरार्द्ध का एक युग पुरुष माना जाता है। उनमें कुछ ऐसी विशिष्टताएँ थीं जिन्हें सारे संसार में विशेष महत्त्व नहीं दिया जाता यद्यपि ऐसा लगता है कि विशिष्टताएँ उपनिषद युग की ही थीं। यदि हम सम्पूर्ण याज्ञवल्क्य को समग्ररूप में देखें तो इसी दृष्टिकोण का आभास मिलता है कि इस जीवन को माया कहकर उड़ा देने के बदले उसे स्वीकार करके, बृहत् के दृष्टिकोण से व्यक्ति-सीमा का विस्तार करके, उसे अनादि-अनन्त काल में परिव्याप्त करके,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain. Digitizagtion by eGangotri

उसकी क्षुद्रता और नश्वरता का अतिक्रमण करके, भावगत मानव-सत्ता के बीच उसके अमृत रूप को उपलब्ध करना ही हमारा इष्ट होना चाहिए। यदि हम समस्त याज्ञवल्क्य को सम्मिलित रूप से और शंकर भाष्य की भूमिका में निरपेक्ष भाव से सारे उपनिषदों को मिलाकर देखें तो यही बोध स्पष्ट रूप से चेतना में संचरित होता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि उपनिषद् के हर ऋषि की दृष्टि एक सी नहीं थी, उनलोगों ने किसी सुसम्बद्ध दर्शन प्रस्थान की रचना करने की चेष्टा तक नहीं की। केवल क्रांतदर्शी दृष्टि से व्यवधानरहित उपलब्धि और एकांतिक मनन के माध्यम से, एकाग्रनिष्ठा से जीवन को गहरे जाकर समझने का प्रयत्न किया है। फलस्वरूप उनकी दृष्टि में दार्शनिक संहति होने की बात नहीं थी, थी भी नहीं। अपने दार्शनिक मतवाद की प्रतिष्ठा के लिये शंकराचार्य ने उपनिषदों का उपयोग मात्र किया है इसीलिये उनकी रचना में उपनिषद नहीं मिलता, मिलता है शंकरदर्शन जो उपनिषद् युग के करीब डेढ़ हजार वर्ष बाद का दर्शन था और परवर्तीकाल के सभी मतादर्शों से प्रभावित था। उपनिषद् की अपनी चिंतनधारा को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में समझने की दृष्टि से शंकर दर्शन की उपयोगिता नगण्य-सी है। शंकर-दर्शन अत्यन्त महत्वपूर्ण वेदान्त प्रस्थान है लेकिन उसका कृतित्त्व शंकाराचार्य का ही है, इसमें उपनिषद की चिन्तनधारा को खोजना व्यर्थ है। उपनिषदकार ऋषियों की दृष्टि में पर्याप्त अन्तर है। फिर भी चूँकि इनका उद्भव एक ही उत्पादन-व्यवस्था से हुआ था और एक ही सामाजिक-ऐतिहासिक बोध के संघर्ष और समन्वय की चेष्टा से इनकी रचना हुई थी इसलिए इन मतों में एक प्रकार की अंतर्निहित समानता के दर्शन होते हैं। अत्यंत अस्पष्ट रूप में होते हुए भी समानता है। फलस्वरूप आमतौर पर "औपनिषदिक भावधारा" उक्ति से हम कुछेक बातों को समझते हैं। उन कुछ मुख्य विषयों के एक मुख्य प्रवक्ता बृहत्तम् उपनिषद के रचयिता याज्ञवल्क्य थे। इसीलिये जब हम याज्ञवल्क्य में जीवन के प्रति विराग नहीं वरन् जीवन

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

को सम्पूर्ण रूप में स्वीकार करके ही वृहत्तर पटभूमि में उसे अर्थ पूर्ण बनाकर देखने की चेष्टा पाते हैं तब सारा उपनिषद् युग ही हमें अन्य रूप में प्रतीत होता है।

गुरु द्वारा प्रदत्त वेदविद्या का प्रत्यर्पण करके भी याज्ञवल्क्य शुक्ल वेद के ऋषि थे, नारी और प्रेम को उन्होंने गौरव मंडित करके देखा, गोमांस भक्षण के सम्बन्ध में वे व्यर्थ का निषेध मानने को प्रस्तुत नहीं थे। उसकी उपयोगिता को उन्होंने निःसंकोच भाव से घोषित किया, क्षत्रिय को सहज भाव से ब्रह्मविद्या का आचार्य माना, नारी होने के बावजूद मैत्रेयी को सच्ची अधिकारिणी समझकर उन्होंने अकुण्ठ भाव से उन्हें ब्रह्मविद्या का दान दिया, जिन्हें गाय और धन की कामना को स्वीकार करनेमें कोई द्विधा नहीं थी, उपयुक्त पुत्र और कन्या की कामना को स्वाभाविक इच्छा मानकर जिन्होंने उसके बारे में भावी पिता को निर्देश दिया, जिन्होंने यौन जीवन के स्खलन पर तीखे प्रहार करने के बदले बड़े महत्त्वपूर्ण ढंग से उसके प्रतिकार का निर्देश दिया, क्षुधा और मृत्यु को परम शत्रु के रूप में देखा, देवताओं को मनुष्य का अनुज और मनुष्यों से ईर्ष्या करने वाले के रूप में चित्रित किया। कहने का तात्पर्य यह कि स्वस्थ स्वच्छ ऐहिक जीवन-यात्रा को स्वीकार करके मनुष्य को महत्त्व एवं मर्यादा से प्रतिष्ठित किया। ये सारी बातें उस युग के प्रतिभू याज्ञवल्क्य के ऊपर एक नया प्रकाश डालती है। हम सब समझ पाते हैं कि बौद्ध और जैन धर्म के अभ्युत्थान और नाना संन्यासी सम्प्रदायों के प्रादुर्भाव के बावजूद क्यों ब्राह्मण्य धर्म शक्तिशाली हो गया। जीवन, समाज, संसार सबका स्वीकार इसमें था, नहीं थी तो संकीर्ण खण्डित दृष्टि। याज्ञवल्क्य ने भी कहा कि आदिकाल से चली आ रही मनुष्य की भूमिका को उसके वास्तविक स्वरूप में न जानकर मृत्यु द्वारा व्यक्ति के विनाश के भय से मुह्यमान जो इस लोक से प्रस्थान करता है वह दया का पात्र है। इस पृथ्वी पर रहकर ही यह ज्ञान उपलब्ध करना होगा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

कि एक की मृत्यु से एक का ही अन्त होता है मनुष्य का नहीं। इसलिए एक के लिए जीवन धारण करना परम व्यर्थता है, महाविनाश है।

यह पृथ्वी सारे प्राणियों का मधु है, सारे प्राणी इस पृथ्वी के मधु हैं। पृथ्वी की धूलि मधुमयी हो—संहिता के ऋषि ने यही प्रार्थना की है। उपनिषद् के ऋषियों ने भी इस पार्थिव जीवन का तिरस्कार नहीं किया। आयु, सुख और ऐश्वर्य ही परिपूर्ण जीवन को तृप्त करते हैं, इनमें से किसी की उपेक्षा नहीं की जा सकती लेकिन एकक जीवन के परिप्रेक्ष्य में जहाँ मृत्यु अनिवार्य और परम सत्य है वहाँ—ये सब सुख अत्यन्त नश्वर हैं। इसलिए साहस करके सत्य के ऊपर के स्वर्ण आवरण को हटाकर निरंजन रूप में उसे वहाँ देखना होगा जहाँ प्रतिष्ठित मानव जाति हमारे इस क्षुद्र जीवन के जन्म के पहले भी थी और हमारी क्षुद्र मृत्यु के बाद भी रहेगी। उस ओर दृष्टि रखते हुए इस ऊपरी तौर पर निरर्थक जीवन को अर्थपूर्ण बनाना होगा? तब एक ओर जैसे पार्थिव सुख वर्जनीय नहीं लगेगा वैसे ही दूसरी ओर वह व्यक्तिगत और सीमित भी नहीं लगेगा। यह ज्ञान ही बृहत् का ज्ञान है, ब्रह्म-ज्ञान है। याज्ञवल्क्य इस ब्रह्म-विद्या के ही परम प्रवक्ता थे इसीलिये व्यावहारिक जीवन से पलायन का परामर्श उन्होंने दिया, वरन् व्यावहारिक उपलब्धि और अभिज्ञता को, सुख सम्भोग के बृहत् की पटभूमि में स्थापित करना ही उनकी कीर्ति है क्योंकि इनके भीतर से ही जीवन का चरम मूल्य उद्भासित हो सकता है।

टीका

1. यो वेम्बनडुश्रोरश्नीयादन्तगतिभि···पापी···· तस्माद्धेनूवनडुहोर्वीश्नीयाचदु होवाच याज्ञवल्क्योह श्राम्येवाहमंसलं चेद्भवतीति (शतपथ ब्राह्मण ३।१।२।२१)।
2. अतिथिर्वा एष एतस्या आगच्छति यत् सोमः क्रीतस्तस्मा एतद् यथा राज्ञे·

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वा ब्राह्मणाय वा महोक्षं वा महागजं वा महाजं वा पचेत्तदह मानुषं हविर्देवानामस्मा एतदाविर्द्यं करोति (शतपथ ब्राह्मण ३ । ४ । १२)

3. ओक्षेण वार्षभेण वा (बृहद आरण्यक उपनिषद ६ । ४ १४-१८)

4. एते पंच पशवः अभवंस्त एव उतक्रान्तमेवा अमेध्या अयज्ञियास्तेषां ब्राह्मणो न श्रीयात्तान् (बृ० आ० उ० ७ । ५ । २ । ३७)

5. अर्धो वा एष आत्मनो यज्जाया (श० ब्रा० ५ । २ । १ । १०)

6. कोऽदात् कस्मा अदात् कामोऽदात् कामायादात् कामो दाता कामः प्रतिग्रहीता श० ब्रा० ४ । ३ । ४ । ३३)

7. स वै नैव रेमे तस्मादेकाकी न रमते स द्वितीयमैच्छत् । स हैतावानास यथा स्त्रीपुमांसौ सम्परिष्वक्तौ इममेवात्मानं द्वेधापातयत ततः पतिश्च पत्नी चाभवतां तस्मादिदमर्धवृगलमिव (बृ० आ० उ० १ । ४ । ३)

8. यथा प्रियया स्त्रिया सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद··· (बृ० आ० उ० ४ । ३ । २१)

9. न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति (बृ० आ० उ० २ । ४ । ५)

10 य एक नृत्यति यो गायति तस्मिन्नेवैता निमिषलतया इव (श० ब्रा० ३ । २ । ४ । ६)

11. जघनार्धो वा यज्ञस्य यत पत्नी (श० ब्रा० ३ । ४ २ । २)

12. घर के मालिक थे दम्पति (मूल अर्थ दम = गृह, उसके पति अर्थात् स्वामी स्त्री)

13. गार्गि मातिप्राक्षीर्मा ते मूर्धा व्यपप्तत (बृ० आ० उ० ३ । ६ । १)

14. स पत्नीमुदानेष्यन् पृच्छति केन चरसीति । वरुण्यं वा एतत् स्त्री करोति यदन्यस्य सत्यन्येन चरत्यथो नेनूमेऽतःशल्या जुह्वदिति — सा यत्र प्रतिजानीते ज्ञातिभ्यो हास्यं तदह्नितं स्यात् (श० ब्रा० २ । ५ । २ । २०)

15. कामेर्हं स्म वै पुरुषंयः सत्रमास्ते····असौ वः कामः स समृध्यतामिति (श० ब्रा० ४ । ६ । ९ । २३)

16. इतः प्रदानाद्धि देवा उपजीवन्ति (श० ब्रा० १ । २ । १ । १५)

17. तस्मादेषां वन्न प्रियं यदेतन्मनुष्या विदुः (बृ० आ० उ० २ । ४ । १०)

18. पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठः सोऽयं शततेजाः शतवीर्यः (श० ब्रा० ४ । ४ । १ ९)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

19. समग्निकमिव ह वा इमेऽग्रे लोका आसुरित्युन्मृष्या हैव द्यौरास (श० ब्रा० १ । ४ । १ । २२)

20. कवीयांसो हि देवा मनुष्येभ्यः (श० ब्रा० २ । ३ । २ । १८ ; २ । ३ ३ । १८)

21. श० ब्रा० ९ । ५ । १ । १३-१६

22. अत्ता वै क्षत्रियस्योज्जनं विट् (श० ब्रा० ८ । ७ । १ । २ ; ८ । ७ । २ । २ ; ९ । ४ । ३ । ५)

23. न वै ब्राह्मणो राज्यायालम् (श० ब्रा० ५ । १ । १ १३)

24. ब्रह्म वा इदमग्र आसीदेकमेव तदेकं सन्न व्यभवत्। तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत क्षत्रं यान्येतानि देवत्रा क्षत्राणीन्द्रो वरुणः सोमो रुद्रः पर्जन्यो यमो मृत्युरीशान इति। तस्मात् परं नास्ति। तस्माद् ब्राह्मणः क्षत्रियमधस्तादुपास्ते राजसूये क्षत्र एव तद् यशो दधाति (बृ० आ० उ १ । ४ । ११)

25. इयं विद्येतः पूर्वं न कस्मिंश्चन ब्राह्मण उवास (बृ० आ० उ० १ । २ । ८)

26. बृ० आ० उ० ४ । ३ । १

27. याज्ञवल्क्य ह विभयाञ्चकार मेधावी राजा सर्वेभ्यो माऽन्तेभ्य उदरौत्सीत् (बृ० आ० उ० ४ । ३ । ३३)

28. तौ ह यदूचतुः कर्म हैव तदूचतुः (बृ० आ० उ० ३ । २ । १३)

29. यथेयं न प्राक् त्वत्तो पुरा विद्या ब्राह्मणान् गच्छति तस्मादु सर्वेषु लोकेषु क्षत्रस्यैव प्रशासनमिति (बृ० आ० उ० ५ । ३ । ६)

30. यः प्राणेन प्राणिति स त आत्मा सर्वान्तरः (बृ० आ० उ० ३ । ४ । १)

31. प्रेयः पुत्रात् प्रेयो वित्तात् प्रेयो ऽन्यस्मात् सर्वस्मात्तरतरं यदयमात्मा तदेव (बृ० आ० उ० १ । ४ । ८)

32. यः पृथिव्यां तिष्ठान् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः (बृ० आ० उ० ३ । ७ । ३)

33. बृ० आ० उ० ४ । १ । ३)

34. बृ० आ० उ० ४ । ३ । ११-१२

35. आरामममस्य पश्यन्ति न तं पश्यति कश्चन (बृ० आ० उ० ३ । ४ । १४)

36. इस सामग्रिक सत्ता को काल में व्याप्त कर देने का एक उपाय हुआ जन्मान्तरवाद। इस सिद्धान्त के अनुसार एक ही सत्ता बारा जन्मों में नाना

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

रूपों में पृथ्वी पर आविर्भूत होती है ब्राह्मण, शूद्र, नारी, पुरुष, हाथी, भेड़ आदि नाना रूपों में वह प्रगट होती है अर्थात् आत्म सत्ता के केन्द्र सूत्र में विभिन्न रूपों में जीव का आत्मप्रकाश होता है और वह दीर्घकाल तथा बहुत दूर तक ज्ञात होता है। इसके द्वारा भावलोक में विभिन्न श्रेणियों में विभक्त प्राणियों का प्रकार भेद आदि सब एक अद्वय केन्द्रसूत्र से आबद्ध रहता हैं। उस समय समाज में जातिभेद धीरे-धीरे जोर पकड़ रहा था। हो सकता है जन्मातरवाद का यह पक्ष भावों एवं वितव के स्तर पर अपराध का एक प्रायश्चित ही हो।

37. स एतदक्षरं गार्ग्य विदित्वास्माल्लोकात् प्रैति स कृपणोऽथ य एतदक्षरं गार्गि विदित्वास्माल्लोकात् प्रैति स ब्राह्मणः (पृ० आ० उ० ३ । ८ । १०)

38. इहैव सन्तोऽथ विद्मस्तद्वयं न चेदवेदिर्महती विनष्टिः। ये तद्विदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुःखमेवापियन्ति (पृ० आ० उ० ४ । ४ । १४)

39. एष स आत्मा सर्वान्वाराऽशोऽन्यदार्तम् (बृ० आ० उ० ३ । ४ । २)

40. भारतीय साहित्य में परिलक्षित प्रारंभिक प्रकृतिवादी दृष्टि के प्रणेता थे उद्दालक। आदर्शवादी धारा को प्रस्तुत करनेवालों में सबसे महत्वपूर्ण थे याज्ञवल्क्य जिनकी दृष्टि एवं सिद्धांतों का बाद में वेदान्त दर्शन में समन्वय एवं निष्पादन हुआ —भारत के सर्वप्रथम आदर्शवादी दार्शनिक थे याज्ञवल्क्य। ले० डेल रिपे : द नेचुरलिस्टिक ट्रेडिशन इन इंडियन थॉट, मोतीलाल बनारसी दास, १९६४ पृष्ठ २७-२८, ३०

41. जनको ह वैदेह आसाञ्चक्रेऽथ ह याज्ञवल्क्य आवव्राज। त होवाच याज्ञवल्क्य किमर्थमचारीः पशूनिच्छन्नथ्वंतानिति। उभयमेव संम्राडिति होवाच (बृ० आ० उ० ४ । १ । १)

42. वयो वयं ब्रह्मिष्ठाय कुर्मो गोकामा एव वयम् (बृ० आ० उ० ३ । १ । २)

43. ब्राह्मणा वै वयं स्मो राजन्यबंधुरसो यद्यमुं वयं जयेम कमजेष्मेति ब्रूयाद्याथ यद्यसावस्मान् जयेद् ब्राह्मणान् राजन्यबन्धुरजैषीदिति नो ब्रूयुर्मेदमाहद्वयम् (श० ब्रा० ११ । ६ । २ । ५)

44. अन्न ब्रह्मेत्येक आहुस्तन्न ...प्राणो ब्रह्मेत्येक आहुस्तन्न....एते ह त्रयेव देवत्वे एकधाभूय भूत्वा परस्तां गच्छतः....अन्ने हौमानि सर्वाणि भूतानि विष्ठानि (बृ० आ० उ० ५ । १२ । १)

45. इयं पृथिवी सर्वेषां भूतानां मध्वस्यै पृथिव्यै सर्वाणि भूतानि मधु (बृ० आ० उ० २ । ५ । १)

———

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्राचीन भारत में गणिका

प्राचीन भारतीय समाज में गणिका के परिचय और स्थान पर विचार और उसका विश्लेषण करने के पूर्व भारतीय साहित्य में गणिका की संज्ञा और उसके लिए प्रचलित पर्यायवाची शब्दों को देखा जाय क्योंकि इन प्रतिशब्दों के माध्यम से ही यह स्पष्ट हो जायेगा कि समाज गणिका को किस दृष्टि से देखता था।

ऋग्वेद भारत का प्राचीनतम साहित्य है और इसमें ही हमें गणिका के कई पर्यायवाची शब्द प्राप्त होते हैं यथा हस्ता, अग्रू (४ : १६ : १९ : ३० ; ४ : १९ : ९) तथा साधारणी (१ : १६७ : ४ ; २ : १३ : १२, १५, १७)। इसके कुछ बाद अथर्ववेद में पुंश्चली (१५ : १ : ३६ ; २० : १३६ : ५) शब्द का उल्लेख प्राप्त होता है। शुक्ल यजुर्वेद की वाजसनेयी संहिता में साधारणी और सामान्या (३० : १२) शब्द प्रयुक्त हैं। कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय संहिता (३४७) में भी ये दोनों शब्द हैं। इसके कुछ बाद दो नये शब्द दिखलायी पड़ते हैं—अतिस्कद्वरी और अपस्कद्वरी अर्थात् जो (नियम का) उल्लंघन करती है (तैत्तिरीय ब्राह्मण ३ : ४ : ११ : १)। और मिलता है व्रजयित्री अर्थात् जो आनन्द प्रदान करे (वाजसनेयी संहिता ३० : १ ; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३ : ४ : ७ : १)। पाली के विनयपिटक में एक और शब्द मिलता है मुहुत्तिया (संस्कृत मुहूर्तिका) अर्थात् जो क्षण भर की संगिनी हो (३ : १३८)। जातक में रूपदासी और वण्णदासी, वेशी, नारियेर, गामिनी, नगरशोभिनी, इत्थि (१ : ४३) और जनपद कल्याणी आदि शब्द प्राप्त होते हैं। इनमें से रूपदासी और वण्णदासी दूसरी प्रधान गणिकाओं के अधीन या स्वतंत्र रूप से प्रार्थी का मनोरंजन कर सकती थीं (अर्थशास्त्र २ : २७)। जातक में भी इनका उल्लेख प्राप्त होता है (२ : ३८० ; ३ : ५९-६३ ; ६९-७२ , ४७५ : ८)।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कालांतर में गणिका के प्रतिशब्दों की संख्या बढ़ती ही गयी। महाकाव्य, पुराण और साहित्य में अनेक नामों का उल्लेख प्राप्त होता है—कुलटा, स्वैरिणी वारांगना, वार-स्त्री, वारवनिता, स्वतंत्रा और स्वाधीन-यौवना। नटी और शिल्पकारिका प्रतिशब्द भी प्राप्त होते हैं और बीच-बीच में प्राप्त होते हैं कुम्भदासी तथा परिचारिका। वात्स्यायन के कामसूत्र में गणिका और रूपाजीवा (७ : ६ : ५४) नाम मिलते हैं। जटाधर के शब्द रत्नावली कोश में शालभंजिका, वारवाणी, वर्वटी, भंडहासिनी, कामरेखा, शूला और वारविलासिनी शब्द प्राप्त होते हैं। शब्दमाला अभिधान में लंजिका शब्द मिलता है। वैशिकतंत्र में और भी कुछ नाम आये हैं—वृषली (जिसका अभिधागत मुख्य अर्थ है शूद्रा, गौण अर्थ है गणिका। इससे यह स्पष्ट होता है कि शूद्र नारी को दूसरे वर्गों की भोग्या माना जाता था)। इसके अतिरिक्त पांशुला (मलिना), लंजिका, वंधुरा, कुंता (शूला की तरह विद्ध करनेवाला एक अस्त्र), कामरेखा, वर्वटी और रंडा (विट की रक्षिता) आदि शब्द भी प्राप्त होते हैं। हेमचन्द्र के अभिधान चिंतामणि में साधारण-स्त्री, पण्यांगना, क्षुद्रा, भुंजिका और वारवधू का उल्लेख किया गया है। राजनिर्घंट अभिधान में भोग्या और स्मरवीथिका तथा अमरकोष में वेश्या, वार-स्त्री, गणिका और रूपाजीवा शब्द आये हैं। ब्रह्मवैवर्त पुराण के अनुसार एक की पत्नी हुई पतिव्रता पति के अतिरिक्त किसी दूसरे पुरुष में आसक्ति रखनेवाली हुई कुलटा, तीन के प्रति आसक्त होनेवाली हुई वृषली या पुंश्चली, चार से छ के प्रति अनुरक्त होनेवाली हुई वेश्या, सात-आठ के प्रति आसक्त होने पर हुई युंगी और उससे अधिक होने पर हुई महावेश्या। किसी भी वर्ण का व्यक्ति उसे स्पर्श नहीं कर सकता (प्रकृति खंड अध्याय २२७-२८)।

कहने की आवश्यकता नहीं कि इन प्रायः पचास शब्दों का उद्भव एक समय में नहीं हुआ, न ही एक स्थान पर हुआ। धीरे-धीरे विभिन्न अंचलों तथा विभिन्न कालों में इन नामों की रचना हुई। अब प्रश्न

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitization by eGangotri

उठाया जा सकता है कि भारतवर्ष में गणिकावृत्ति कितनी प्राचीन है। भारतवर्ष ही नहीं सारी दुनिया में धीरे-धीरे जाति और वंश की परम्परा टूटी और उनका स्थान लेने लगे परिवार। परिवार के उदय के साथ ही अर्थात् नारी के ऊपर पुरुष के स्वत्वाधिकार की सामाजिक स्वीकृति के साथ-साथ प्रारम्भ हुई गणिकावृत्ति। उसी समय से परिवार के बाहर के किसी पुरुष को अर्थ या वस्तु के विनिमय में अपना शरीर दान करने पर नारी गणिका नाम से चिन्हित हो गयी। इसके पहले ही प्रथम युग में भी अवश्य ही कई स्तर थे। पति-पत्नी की परस्पर सम्मति से विवाह बंधन से बाहर पुरुष या स्त्री का किसी और से सम्बन्ध होने पर उसे जार या जारिणी कहा जाता था। ऋग्वेद में इस शब्द का अनेक बार व्यवहार किया गया है, यहाँ तक कि उपमा के प्रसंग में उपमेय रूप में भी। कहने का तात्पर्य यह कि ऋग्वेद युगीन समाज में विवाहित स्त्री-पुरुष का अवैध प्रणय सुपरिचित था। इसके अतिरिक्त अन्य कई तरह के विकल्प सम्पर्कों का परिचय भी वहाँ प्राप्त होता है। उपहार के विनिमय में हुए मिलन में हो सकता है गणिका-वृत्ति न हो क्योंकि उपहार प्रेम का चिह्न भी हो सकता है। कब कोई उपहार मूल्य का विकल्प है, यह तै करना कठिन होता है क्योंकि मुद्रा के उपयोग के पहले के युग में वस्तु अर्थ का विकल्प होती थी और यह वस्तु मूल्य के रूप में भी दी जा सकती थी और प्रेमोपहार के रूप में भी। अतः माना जा सकता है कि वैवाहिक सम्पर्क के बाहर नारी का विवाहित या अविवाहित पुरुष से इन्द्रिय तृप्ति के निमित्त मूल्य रूप में अर्थ या उपहार का ग्रहण गणिकात्व का लक्षण है। अब यह मूल्य चाहे समय-समय पर मिल रहा हो चाहे नियमित वृत्ति के रूप में। अतः गणिकात्व का पहला नियामक लक्षण था "विवाह-बन्धन के बाहर" होना और दूसरा था "मूल्य ग्रहण करना।" गणिकावृत्ति के ये दोनों लक्षण थे। ध्यान देने योग्य है कि ऋग्वेद के जार या जारिणी, उपपति या उपपत्नी या फिर अवैध प्रणयी या प्रणयिनी के बीच मूल्य

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

का आदान-प्रदान न होने के कारण ये सम्पर्क गणिकावृत्ति के अंतर्गत नहीं गिने जाते थे। कब कैसे मूल्य के विनिमय में नारी ने देहदान करना प्रारम्भ किया, इस इतिहास का पता लगाना आज शायद संभव नहीं लेकिन सम्भवतः इतना कहा जा सकता है कि समाज में विवाह और परिवार की परम्परा प्रतिष्ठित होने के बाद जब नारी ने अपना स्वातंत्र्य खो दिया (इसका सूत्र साहित्य में स्पष्ट उल्लेख मिलता है—पिता रक्षति कौमारे, भर्ता रक्षति यौवने। रक्षन्ति स्थविरे पुत्रा न स्त्री स्वातंत्र्यमर्हति अर्थात् कुमारावस्था में पिता, यौवन में पति और वृद्धावस्था में पुत्र नारी की रक्षा करता है। नारी स्वाधीनता के योग्य नहीं) और पिता, पति तथा पुत्र की रक्षणीया बन गयी अर्थात् यथा-क्रम लालनीया, भोग्या-भरणीया और पोषणीया बन गयी तब इन बन्धनों से बाहर मूल्य देकर प्राप्त हो सकने वाली नारी हुई गणिका। इसके साथ ही या अनुक्रम में एक और बात गणिकावृत्ति के प्रसार में सहायक हुई। वह थी समाज के कुछ लोगों के हाथ में खर्च से बचे कुछ अतिरिक्त अर्थ का संग्रह जिसे वे अपने अपने भरण-पोषण की पूर्त्ति के बाद विलास में, सम्भोग में खर्च कर सकते थे।

पहले प्राप्त पचास शब्दों पर विचार करने पर हम पाते हैं कि सब परस्पर पर्यायवाची नहीं है, उनमें स्तर का विभाजन है। कुरुधम्मजातक के अनुसार राज्य का सबसे नीचा कर्मचारी होता है द्वारिक (दरबान) और उससे भी नीचे गणिका। वैसे वेश्यावृत्ति अपनाने-वालियों में सबसे श्रेष्ठ होती थी गणिका। एक और नाम है नगर-शोभिनी या जनपदकल्याणी। एक पूरे जनपद की (हो सकता है प्राचीन काल में जनपद की आबादी बहुत अधिक न रहती रही हो) सामान्य रूप से भोग्या नारी हुई जनपद कल्याणी। [कल्याण शब्द का सबसे प्राचीन अर्थ है सुन्दर, ग्रीक kale का पर्यायवाची। ऐसा लगता है कि जनपद की श्रेष्ठा सुन्दरी केवल एक व्यक्ति की भोग्या न हो इसीलिए जनपद कल्याणी बनाकर उसे साधारणी कर दिया गया] राहुल

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सांकृत्यायन द्वारा किये गये दीघनिकाय के हिन्दी अनुवाद (वाराणसी १९३६ पृ० १३-१४), मज्झिमनिकाय (वही १९६४, पृ० २०-२५), संयुत्त निकाय (४७ : २० : २३), अर्थशास्त्र, कामसूत्र एवं अन्याय ग्रन्थों से जो तथ्य प्राप्त होते हैं उनसे स्पष्ट है कि गणिका का स्थान सर्वोपरि था, रूप, यौवन, शिक्षा-दीक्षा सबमें वही श्रेष्ठ थी (कामसूत्र १३:२०)। उसके बाद रूपाजीवा थी जो रूप-यौवन, शिक्षा-दीक्षा, धन सम्पदा तथा सामाजिक स्तर की दृष्टि से गणिका से नीचे थी। उससे भी नीचे वेश्या—नाम से ही समझ में आता है कि उसका मूल धन था वस्त्रालंकार, साज शृङ्गार। गणिकालय में रहने के दौरान राज्य गणिका की शिक्षा-दीक्षा का व्यय भार वहन करता था, उसकी आय से निर्धारित आयकर वसूल करता था। कौटिल्य यह व्यवस्था भी कर गये हैं कि बुढ़ापे में उसे कुछ वृत्ति मिलती रहे। कहने का तात्पर्य यह कि प्रातिष्ठानिक दायित्व और अधिकार दोनों ही उसे प्राप्त थे। रूपाजीवा की शिक्षा का दायित्व उसका स्वयं का होता था या फिर उसकी माँ या उसके ग्राहक का। इसके अतिरिक्त थी अवरुद्धा अर्थात् रक्षिता जिसका पूरा भार उसके पृष्ठपोषक पर होता था। वह उसका पूरा आर्थिक दायित्व स्वयं वहन करता था और बदले में केवल वही उसके पास आ सकता था। अवरुद्धा का स्वाच्छन्द्य और आर्थिक स्थिति पूरी तरह उस एक पृष्ठ पोषक की अवस्था और मर्जी के ऊपर निर्भर करती थी। इनके नीचे अनेक प्रकार की पेशा करनेवालियाँ थीं यथा—सैरिन्ध्री, शिल्पकारिका या शिल्पदारिका, कौशिकस्त्री, कुम्भदासी, वण्णदासी, रूपदासी, नटी, क्षुद्रा, भुंजिका आदि। ये राजप्रासाद या धनी लोगों के घर में अपनी योग्यता के अनुसार शारीरिक श्रम करके जीवन-निर्वाह करती थीं लेकिन ये सभी गृहस्वामी की भोग्या भी होती थीं। इनके अतिरिक्त था अशिक्षिता, अर्द्धशिक्षिता, रूपहीना, कभी-कभी विगत-यौवना, अर्थहीना, रूपोपजीविनियों का एक बड़ा दल जो पुंश्चली,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कुल्टा, स्वैरिणी, वारवनिता (वारमुख्या, वारांगना, वारस्त्री आदि सभी पर्यायवाची शब्द हैं अर्थात् नियम कार्य के अनुसार जो पारिश्रमिक लेती थीं) आदि नामों से परिचित। इनकी आय के अनुपात से इनके सामाजिक स्तर का अनुमान लगाया जा सकता है। गणिका राष्ट्र से एक हजार पण मासिक वेतन पाती थी, उसे चौंसठ कलाओं की शिक्षा देने के लिए राष्ट्र अपनी ओर से विभिन्न शिक्षक नियुक्त करता था। बौद्ध सहित्य में उल्लेख है कि गणिका सालावती की माँ सिरिमा वेटी का एक रात का मूल्य लेती थी एक हजार काहापण (कार्षापण=स्वर्णमुद्रा) (धम्मपद टीका, पालि टेक्स्ट सोसाइटी, लन्दन १९०६-१४ पृ० ३०८-९)। सामाजातक में काशी की गणिका सामा की पाँच सौ अनुचारिणियों का उल्लेख है (जातक ३ : ५९-६३)। सम्भवतः ये ही गणिकादासी थीं। गणिका अम्बापाली की दक्षिणा को लेकर तो राजगृह और वैशाली के बीच बाकायदा कलह हो गया था। 'ज्ञात धर्मकथा' नामक जैन ग्रन्थ में सर्वांग सुन्दरी और शिक्षिता गणिका की प्रति रात की आय थी एक हजार कार्षापण (प्रथम अध्याय)। मृच्छकटिक में राजा का साला शकार वसंतसेना को एक बार ले जाने के लिए दस हजार के गहने और गाड़ी भेजता है। अर्थात् रूप यौवन और यश-अर्थ की दृष्टि से प्रख्यात गणिकाओं की आय की कोई ऊपरी सीमा नहीं थी। इनकी दान की राशि देखकर इनकी आर्थिक स्थिति का अनुमान लगया जा सकता है—कोई बुद्ध और उनके एक हजार शिष्यों को भोजन के लिए आमंत्रित कर रही है और परितृप्त अतिथियों की अन्यान्य आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिए नगद धन भी दे रही है, कोई आम का बगीचा दान कर रही है, कोई मठ, कोई विहार, कोई बगीचा चैत्य, स्तूप, सेतु, कुआं और कोई चित्रशाला दे रही है। अवरुद्धा खाना-कपड़ा के अतिरिक्त हर महीने एक पण नगद पाती थी। विगत-यौवना, रूपहीना और अशिक्षिता गणिकाओं का बड़ा दल गणिकाओं की दुनिया में भी जातबाहर था।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इन पुंश्चली स्वैरिणियों के पास आनेवाला जो देता इन्हें लेना पड़ता था। इनकी संख्या अधिक और आकर्षण कम था फलस्वरूप माँग और दाम दोनों ही कम थे। इनमें से अधिकांश अत्यन्त दरिद्र होती थीं, उनके लिये रोटी-कपड़ा जुटाना भी बड़ी समस्या थी। इनके अतिरिक्त थी देवदासी जिसका एक और नाम था त्रिदशालयवनिता। प्राचीन ग्रीस, रोम, मिस्र फिनीशिया, कलडिया, वेवीलोन और भारतवर्ष सर्वत्र मंदिर द्वारा पोषित गणिकाओं की एक अपनी भूमिका थीं। जहां भी नागर सभ्यता का विकास हुआ और कोई मन्दिर समृद्धशाली हुआ वहीं देवदासी का प्रादुर्भाव हो गया। वाल, आस्टर्टे मंदिर की कथा स्थानीय इतिहास में मिलती है। मंदिर के पुरोहित को राष्ट्र से वृत्ति मिलती थी। दामोदर गुप्त के कुट्टनीमत में राष्ट्र से देवदासी के वृत्ति पाने का उल्लेख है। संयुत्त निकाय के अनुसार वे अन्न पाती थीं (आठवां अध्याय)। जोगीमारा की गुफा में (ईसा पूर्व तीसरा शतक) रूपदक्ष देवदत्त का देवदासी सुतनुका के प्रति प्रेम का उल्लेख प्राप्त है। देवदासियों का काम था पूजा-आरती के समय मन्दिर या मंदिर के प्रांगण में देवता के निमित्त नृत्य करना। यह उनका मुख्य काम था और इसके विनिमय में उन्हें वृत्ति, अन्न तथा भरण-पोषण की सुविधा उपलब्ध थी। उनकी गौण तथापि सर्वजनविदित भूमिका थी पुरोहितों की वासना की तृप्ति। इसीलिए सन् १९२१ में मद्रास में देवदासी प्रथा के उन्मूलन के लिए कानून पास होने के बावजूद लंबे अरसे तक देश में यह प्रथा चालू रही। सन् १९४७ में फिर से कानून बनाकर इसे समाप्त करने की चेष्टा की गई तथा देश के कोने-अँतरे के नाना मन्दिरों में बदले रूपों में देवदासी प्रथा आज भी चालू है।

देवदासी के लिये तरुणी, सुन्दरी और नृत्य-कुशल होना ही पर्याप्त था उससे उसका काम चल जाता था लेकिन गणिका या रूपाजीवा और कभी कभी अवरुद्धा की पाठ्य-तालिका लंबी थी। जैन ग्रंथ बृहत्कल्प (पुण्यविजय जी भावनगर विरचित, सन् १९३३-३८) के

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अनुसार गणिकाओं के लिए लिखना, गणित, नाना प्रकार के शिल्प, संगीत, वाद्ययंत्र (वीणा, पटह, वंशी आदि) द्यूतक्रीड़ा, अक्षक्रीड़ा, काव्यरचना (संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश,) गंधयुक्ति (इत्र तैयार करना), अलंकार बनाना, शृंगार, अलंकरण, सुलक्षण और कुलक्षण पुरुष और नारी का विचार, अश्वविद्या, हस्तिविद्या, रंधनविद्या, रत्नपरीक्षा, विपनिर्णय और उसका प्रतिविधान, स्थापत्य, शिविरनिर्माण, सेना-सन्निवेश युद्धविद्या, धनुर्विद्या, निमित्तनिदान आदि कुल बहत्तर विद्याओं की शिक्षा आवश्यक होती थी। (मनुसंहिता २ : ६७ में भी इस सम्बन्ध में कुछ निर्देश दिये गए हैं।)

गणिका और रूपाजीवा राष्ट्र को आयकर देती थीं तो बदले में उन्हें कुछ सामान्य सुरक्षा व्यवस्था आर्थिक एवं शारीरिक दोनों उपलब्ध थीं। गणिका की लड़की के साथ बलात्कार करने पर ५४ पण और उसकी माँ की आय का सोलह गुना अर्थ दण्ड स्वरूप देना होता था। इसके अतिरिक्त लड़की के विवाह के समय वर को क्षतिपूर्त्ति के रूप में कुछ और अर्थ देना पड़ता था। गणिका के विदेशी (या परदेशी) प्रार्थी को निर्धारित मूल्य से ५ पण अधिक देना पड़ता था। पुंश्चली और कुलटा की दर निर्धारित नहीं होती थी लेकिन यदि वह उचित से अधिक वसूलने की चेष्टा करती थी तो उसको अपने न्यायपूर्ण प्राप्य से भी वंचित होना पड़ता था। रूपाजीवा की वार्षिक वृत्ति थी ४८ पण और अभिनेता, अन्नविक्रेता, मांसविक्रेता या वैश्यों के साथ उसका सम्बन्ध रहता था। रुपया लेने के बाद आपत्ति करने पर गणिका या रूपाजीवा को प्राप्य का दुगुना दण्ड भरना पड़ता था और रुपया लेने से पहले आपत्ति करने पर वे प्राप्य से वंचित होती थीं (याज्ञवल्क्य स्मृति २:२९५)। गणिका को शारीरिक क्षति पहुँचाने पर नाना प्रकार के दण्डों का विधान था, अर्थ का परिमाण एक हजार से अड़तालीस हजार पण तक हो सकता था। दूसरी ओर इसके प्रचुर व्यतिक्रम भी प्राप्त होते हैं। मनु का कथन है कि सभी गणिकाएँ चोर और प्रतारणा-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

परायण होती हैं (६:२५६-२६०) और धर्मसूत्रकार गौतम कहते हैं कि वेश्या की हत्या दण्डनीय अपराध ही नहीं है (गौतम धर्मसूत्र २२:२)। लेकिन कौटिल्य के अर्थशास्त्र के अनुसार प्रकट रूप में गणिका का अपमान करने का दण्ड था अड़तालीस पण, कान काट लेने पर दण्ड था पौने बावन पण और कारावास। याज्ञवल्क्य के अनुसार गणिका की इच्छा के विरुद्ध उससे सम्भोग करने का दण्ड था पचास पण और एक के बाद एक कई लोग यदि इस प्रकार बलात्कार करें तो उनमें से प्रत्येक को उसे चौबीस पण दण्ड में देना होता था (२:२:६३)।

गणिका किस प्रकार के प्रार्थियों को खोजे इसका निर्देश वात्स्यायन ने दिया है—तरुण, धनी, पारिवारिक दायित्व से मुक्त, उच्चपदस्थ, सद्वंशजात, प्राणवान्, शिक्षित, कवि, कथा-कहानी-उपाख्यान आदि में कुशल, सुवक्ता, नाना कलाओं का मर्मज्ञ, सुरासक्त, बन्धुभावापन्न, नारी-संगकामी लेकिन किसी नारी के वशीभूत न हो, और जो निष्ठुर या ईर्ष्या से जलने वाला न हो (कामसूत्र ६:१:१०, १२) राजाज्ञा के अतिरिक्त और किसी कारण से उस पर कोई प्रार्थी लादा नहीं जा सकता था। राजा द्वारा प्रेषित प्रार्थी को विमुख करने का दण्ड था पाँच सौ पण और और एक हजार बेंत की मार। स्पष्ट है कि अपने शरीर पर उसका अपना कोई अधिकार नहीं था (अर्थशास्त्र ४:१३) गणिका के लिए उचित नहीं कि वह लम्बे अरसे तक किसी एक पुरुष के प्रति आसक्त रहे (कामसूत्र ६:५:१-६); दरिद्र प्रार्थी को वह सदा भगा दे (कामसूत्र ६:६:३१)। उसके प्रति प्रार्थी का आग्रह पूर्ववत् है या कम हो रहा है, इस जानकारी को प्राप्त करने के लक्षण भी दिये गये हैं (कामसूत्र ६:३:२८-३१)। कलाविलास ग्रन्थ में उन चौंसठ तरीकों का उल्लेख है जिनके द्वारा गणिका प्रार्थी को भगा सकती है।

बारहवीं शताब्दी के "तन्मय सुन्दरी" नामक ग्रन्थ के अनुसार गणिका की आय का १५ से ३० प्रतिशत राष्ट्र का प्राप्य होता था अर्थात् राज्यकर होता था। बौद्ध ग्रन्थों में गणिका की भट्टि

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(संस्कृत भृति) अर्थात् वेतन और परिव्यय (संस्कृत परिव्ययम्) अर्थात् खर्च का उल्लेख प्राप्त होता है। मथुरा की वासवदत्ता के पारिश्रमिक की दर बड़ी ऊँची थी (दिव्यावदान—श्री पी० एल० वैद्य द्वारा सम्पादित संस्करण पृ० २१८)। राजगृह की सालावती प्रति रात्रि एक सौ कार्षापण कमाती थी। इसके अतिरिक्त यत्र-तत्र ऊँचे पारिश्रमिक का उल्लेख प्राप्त होता है तथापि अधिकतर क्षेत्रों में सम्पत्ति कर विशेषकर अचल सम्पत्ति पर, उसका पूर्ण अधिकार नहीं होता था (There is every likelihood that their Palatial establishments and gardens were state property with life interest—Motichandra, the world of courtesans, Vikas 1973, p. 48) महाभारत में बराबर कहा कहा गया है कि शिशु, दास और गणिका का सम्पत्ति पर अधिकार नहीं होता (आदिपर्व १८२ : २२ ; सभापर्व ७१ : १ ; उद्योगपर्व ३३ : ६४)। गणिका और उसकी विकल्प गणिका को राज्य से मासिक वृत्ति मिलती थी। स्व-अर्जित राशि पर कहीं-कहीं उसका अधिकार होता था और विशेष क्षेत्रों में वह बीच-बीच में दान भी कर सकती थी। लेकिन गणिका की मृत्यु के बाद जब उसकी सम्पत्ति बेटी के अधिकार में आती थी तब उसे भी अपने जीवन काल में उसका उपभोग करने का अधिकार ही कानूनन प्राप्त होता था। सम्पत्ति को गिरवी रखने, बेचने या देने-लेने का अधिकार उसे नहीं होता था। राष्ट्र के ऊपर विपत्ति पड़ने पर उसकी सम्पत्ति का आधा जब्त कर लिया जाता था (अर्थशास्त्र ५ : २)। आवश्यकता पड़ने पर उसे राजप्रासाद में ले जाने की व्यवस्था थी (अर्थशास्त्र १ : २०)। (रक्षिता और अवरुद्धा पर उसका भरण-पोषण करने वाले पुरुष का ही अधिकार होता था, उसमें किसी और के हस्तक्षेप करने का दण्ड था अड़तालीस पण (अर्थशास्त्र ३ : २०)। गणिका को गणिकावृत्ति से मुक्ति दिलाने के दो तरीके थे। पहला, राजा किसी भी गणिका को कुलनारी घोषित कर सकता था। ऐसी स्थिति में वह

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

गणिका वृत्ति के सामाजिक अपमान और लांछन से मुक्ति पाती थी और कुलनारी के प्राप्य सम्मान और अधिकार उसे सुलभ होते थे (मृच्छ-कटिक नाटक के दसवें अंक में राजा आर्यक की कृपा से गणिका वसंत सेना कुलनारी घोषित होती है और चारुदत्त से विवाह होने के बाद कुलवधू की मर्यादा प्राप्त करती है)। दूसरा, निष्क्रय के द्वारा वह गणिकात्व से मुक्ति पा सकती थी अर्थात् उससे विवाह करने या उसे मुक्ति दिलाने का इच्छुक व्यक्ति गणिकालय की मालकिन को चौवीस हजार पण देकर ऐसा कर सकता था (मृच्छकटिक नाटक में ही गणिका मदनिका का प्रेमी शर्विलक निष्क्रयमूल्य अर्जन करने का कोई रास्ता न पा चोरी करता है।)

नाना स्तर की गणिकाओं के कामों में अन्तर होता था। राजा, वणिक और धनी लोगों के प्रासादों में गणिकाओं को नाना भूमिकाओं में पाया जाता है। गांधारी के गर्भवती होने पर धृतराष्ट्र को गणिका की आवश्यकता पड़ी थी (महाभारत, आदिपर्व ११५ : ३६)। जैन ग्रन्थ वासुदेवहिण्डि में स्त्री के विकल्प की कथा है—कुलपति भरत के प्रासाद में पत्नी के अतिरिक्त एक और भोग्या नारी रहती थी। एक बार कुल के सभी लोगों ने अपनी-अपनी कन्या को भरत के पास भेजा और ये सभी एक साथ भरत के प्रासाद में उपस्थित हुईं। ऐसी स्थिति में रानी प्रासाद छोड़कर जाने को उद्यत हो गयीं। तब तै हुआ कि ये अंतःपुर के बाहर राजा की परिचर्या करेंगी और बाद में इन्हें गण या गोष्ठी को दे दिया जायेगा। तब ये गणिका बन जायेंगी। ऐसा लगता है कि गणिका शब्द की व्युत्पत्ति बतलाने के लिए यह कथा गढ़ ली गयी हो। रामायण-महाभारत में गणिका की नाना भूमिकाओं का उल्लेख प्राप्त होता है। युद्धयात्रा के समय पाण्डव-सेना के साथ युद्ध के उपकरण और गाड़ी में गणिकाएँ भी थीं (महाभारत उद्योगपर्व ११५ : १८-१६) युद्ध के पहले युधिष्ठिर ने गणिकाओं की अभ्यर्थना की थी (उद्योगपर्व १५ : ५१-५८)। वन जाने के समय भी पाण्डवों के

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

साथ रथ, पण्यद्रव्य और गणिकावास था, सम्भवतः सेना के मनोरंजन के लिए (वनपर्व २३८ से)। युद्ध में जयलाभ करने के बाद राजा विराट ने सुन्दरी नारियों को शृङ्गार करके समवेत जनता का मनोरंजन करने का निर्देश दिया था (विराटपर्व ६४ : २४-२६)। स्पष्ट है कि इस प्रकार का मनोरंजन करने का आदेश कुलवधुओं को नहीं दिया जा सकता था, दिया जा सकता था केवल गणिकाओं को। युद्ध रोकवाने के लिए कृष्ण के हस्तिनापुर आने पर दुर्योधन द्वारा की गयी उनके आतिथ्य की व्यवस्था में एक विश्रामागार और वहाँ सेवारत अनेक नारियाँ थीं। धृतराष्ट्र ने यह आदेश भी दिया था कि वेश्याएँ अपने पुत्रों को साथ लेकर कृष्ण के आगे-आगे चलें। रामायण में विलास के उपकरणों की सूची में वेश्या और गणिका नामों का उल्लेख है। असल में गणिका थी ऐश्वर्य की परिचायक और उनकी संख्या निर्भर करती थी गृहस्वामी की सम्पदा के अनुपात में। और ऐसा सम्भव हो पाया था समाज में एक श्रेणी के धनी लोगों के हाथों में खर्च के बाद बची प्रचुर धनराशि जमा होने के कारण। नागरिक सभ्यता के विकास और वाणिज्य के प्रसार के पहले ऐसा होना सम्भव नहीं था। शस्य, गोधन, हीरा-जवाहरात आदि जैसे धनी व्यक्ति के ऐश्वर्य के परिचायक थे वैसे ही परिचायक थी क्रीतदासी और भोग्या नारियों की संख्या। राजा और धनिकों के प्रासादों में जो सैकड़ों स्त्रियाँ रहती थीं, उनमें से सभी केवल वेश्या की तरह नहीं रहती थीं। वे नाना प्रकार के काम करती थीं और उसी रूप में वे समाज में परिचित होती थीं तथापि वे सभी होती थीं भुजिष्या अर्थात् जिसके श्रम का भोग उसका स्वामी करे। वह श्रम उसके लिए मूलतः निर्धारित काम तक ही सीमित नहीं होता था। छत्रधारिणी, चंवरधारिणी, संवाहिका, ताम्बूल करंकवाहिनी, आदि अपने निर्धारित काम के अतिरिक्त गृहस्वामी तथा परिवार के अन्यान्य लोगों की स्नान, मालिश, शृङ्गार, वस्त्राभूषण पहनने इत्यादि में सहायता करती थीं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

शिल्पदारिका, सैरिन्ध्री (नौकरानी), कौशिकस्त्री, कुम्भदासी आदि नाना वृत्तियों के लिए ये राजा या धनिकों के अंतःपुर में आती थीं।

कामशास्त्र में उल्लेख प्राप्त होता है कि काव्य, शिल्प नाटक आदि विषयों पर गणिकाएँ राजा या धनिक नागरिकों के दलबल के साथ आलोचना करती थीं, धनिकों के यहाँ आयोजित उत्सव-गोष्ठियों में भाग लेती थीं। विभिन्न वणिकों या धनिकों के यहाँ ये गोष्ठियाँ आयोजित होती थीं। वहाँ मद्यपान का प्रचुर आयोजन होता था और वह सर्वप्रथम गणिकाओं को ही परिवेशित किया जाता था मानों प्रमुख अतिथि वे ही हों। बीच-बीच में पूरी मण्डली सवारियों पर चढ़कर नगर से बाहर जाती थी। वहाँ पर मुर्गे या भेड़े की लड़ाई या अभिनय का आयोजन होता था। संध्या समय सब लोग लौट आते थे। गर्मियों में जलक्रीड़ा और वसन्त ऋतु में वसन्तोत्सव आदि ऋतु के अनुकूल उत्सव होते थे (कामसूत्र १ : ४ : ३४-४१, ४२)। ग्राम-वासी इन उत्सवों को देखकर चर्चा करेंगे और स्वयं अनुकरण करेंगे (ऐसा उद्देश्य रहता था) (कामसूत्र १ : ४ : ४६)। गणिकाएँ भी अवश्य ही इन आयोजनों में आनन्द प्राप्त करती थीं लेकिन इनका आयोजन होता था मुख्यतः राजा, वणिक या धनिक नागरों के स्वार्थ के लिए, उनके निर्देश पर। गणिकाएँ कुछ थीं अलंकरण और कुछ परिमार्जित आमोद-प्रमोद का साधन। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि इस समाज में कुलनारियों की शिक्षा की व्यवस्था नहीं थी। मनुसंहिता में कहा गया है कि नारी के लिए विवाह ही उपनयन है, पतिसेवा वेदाध्ययन और पति के घर में वास गुरुगृह में वास (२ : ६७) अतः कुलनारी के लिए शिक्षा की कोई सुविधा ही नहीं थी। घर-गृहस्थी का काम, सन्तान का जन्म, श्वसुर कुल के सब लोगों की सेवा, पति तथा बालबच्चों की देखरेख में उसके दिन कटते थे अतः रूप-यौवन ढल जाने के बाद अनेक पतियों के लिए उनके साहचर्य में कोई आकर्षण नहीं रह जाता था। दूसरी ओर गणिका की शिक्षा-तालिका बड़ी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

साथ रथ, पण्यद्रव्य और गणिकावास था, सम्भवतः सेना के मनोरंजन के लिए (वनपर्व २३८ से)। युद्ध में जयलाभ करने के बाद राजा विराट ने सुन्दरी नारियों को श्रृङ्गार करके समवेत जनता का मनोरंजन करने का निर्देश दिया था (विराटपर्व ६४ : २४-२६)। स्पष्ट है कि इस प्रकार का मनोरंजन करने का आदेश कुलवधुओं को नहीं दिया जा सकता था, दिया जा सकता था केवल गणिकाओं को। युद्ध रोकवाने के लिए कृष्ण के हस्तिनापुर आने पर दुर्योधन द्वारा की गयी उनके आतिथ्य की व्यवस्था में एक विश्रामागार और वहाँ सेवारत अनेक नारियाँ थीं। धृतराष्ट्र ने यह आदेश भी दिया था कि वेश्याएँ अपने पुत्रों को साथ लेकर कृष्ण के आगे-आगे चलें। रामायण में विलास के उपकरणों की सूची में वेश्या और गणिका नामों का उल्लेख है। असल में गणिका थी ऐश्वर्य की परिचायक और उनकी संख्या निर्भर करती थी गृहस्वामी की सम्पदा के अनुपात में। और ऐसा सम्भव हो पाया था समाज में एक श्रेणी के धनी लोगों के हाथों में खर्च के बाद बची प्रचुर धनराशि जमा होने के कारण। नागरिक सभ्यता के विकास और वाणिज्य के प्रसार के पहले ऐसा होना सम्भव नहीं था। शस्य, गोधन, हीरा-जवाहरात आदि जैसे धनी व्यक्ति के ऐश्वर्य के परिचायक थे वैसे ही परिचायक थी क्रीतदासी और भोग्या नारियों की संख्या। राजा और धनिकों के प्रासादों में जो सैकड़ों स्त्रियाँ रहती थीं, उनमें से सभी केवल वेश्या की तरह नहीं रहती थीं। वे नाना प्रकार के काम करती थीं और उसी रूप में वे समाज में परिचित होती थीं तथापि वे सभी होती थीं भुजिष्या अर्थात् जिसके श्रम का भोग उसका स्वामी करे। वह श्रम उसके लिए मूलतः निर्धारित काम तक ही सीमित नहीं होता था। छत्रधारिणी, चंवरधारिणी, संवाहिका, ताम्बूल करंकवाहिनी, आदि अपने निर्धारित काम के अतिरिक्त गृहस्वामी तथा परिवार के अन्यान्य लोगों की स्नान, मालिश, श्रृङ्गार, वस्त्राभूषण पहनने इत्यादि में सहायता करती थीं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

शिल्पदारिका, सैरिन्ध्री (नौकरानी), कौशिकस्त्री, कुम्भदासी आदि नाना वृत्तियों के लिए ये राजा या धनिकों के अंतःपुर में आती थीं।

कामशास्त्र में उल्लेख प्राप्त होता है कि काव्य, शिल्प नाटक आदि विषयों पर गणिकाएँ राजा या धनिक नागरिकों के दलवल के साथ आलोचना करती थीं, धनिकों के यहाँ आयोजित उत्सव-गोष्ठियों में भाग लेती थीं। विभिन्न वणिकों या धनिकों के यहाँ ये गोष्ठियाँ आयोजित होती थीं। वहाँ मद्यपान का प्रचुर आयोजन होता था और वह सर्वप्रथम गणिकाओं को ही परिवेशित किया जाता था मानों प्रमुख अतिथि वे ही हों। वीच-वीच में पूरी मण्डली सवारियों पर चढ़कर नगर से वाहर जाती थी। वहाँ पर मुर्गे या भेड़े की लड़ाई या अभिनय का आयोजन होता था। संध्या समय सव लोग लौट आते थे। गर्मियों में जलक्रीड़ा और वसन्त ऋतु में वसन्तोत्सव आदि ऋतु के अनुकूल उत्सव होते थे (कामसूत्र १ : ४ : ३४-४१, ४२)। ग्राम-वासी इन उत्सवों को देखकर चर्चा करेंगे और स्वयं अनुकरण करेंगे (ऐसा उद्देश्य रहता था) (कामसूत्र १ : ४ : ४९)। गणिकाएँ भी अवश्य ही इन आयोजनों में आनन्द प्राप्त करती थीं लेकिन इनका आयोजन होता था मुख्यतः राजा, वणिक या धनिक नागरों के स्वार्थ के लिए, उनके निर्देश पर। गणिकाएँ कुछ थीं अलंकरण और कुछ परिमार्जित आमोद-प्रमोद का साधन। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि इस समाज में कुलनारियों की शिक्षा की व्यवस्था नहीं थी। मनुसंहिता में कहा गया है कि नारी के लिए विवाह ही उपनयन है, पतिसेवा वेदाध्ययन और पति के घर में वास गुरुगृह में वास (२ : ६७) अतः कुलनारी के लिए शिक्षा की कोई सुविधा ही नहीं थी। घर-गृहस्थी का काम, सन्तान का जन्म, श्वसुर कुल के सव लोगों की सेवा, पति तथा वालवच्चों की देखरेख में उसके दिन कटते थे अतः रूप-यौवन ढल जाने के वाद अनेक पतियों के लिए उनके साहचर्य में कोई आकर्षण नहीं रह जाता था। दूसरी ओर गणिका की शिक्षा-तालिका वड़ी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

लम्बी है। स्वयं काव्य-नाटक रचने, गायन-वादन तथा अभिनय करने और सारी कलाओं के सम्बन्ध में चर्चा करने की योग्यता उनमें होती थी। फलस्वरूप फ्रांस की सलां की मालकिनों और जापान की गीशा लड़कियों की तरह इनका मानसिक उत्कर्ष पुरुषों को आकृष्ट करता था। उपयुक्त शिक्षा-दीक्षा के अभाव में कुलनारियों में वह योग्यता नहीं होती थी। राष्ट्र के खर्च पर गणिका की शिक्षा की व्यवस्था होती थी और उसका स्तर काफी ऊँचा रहता था। कहने का तात्पर्य यह कि राज्य के संचालकों का उद्देश्य होता था कि परिमार्जित रुचि और शिक्षा के अधिकारी पुरुष गणिका के साथ ही मानसिक साहचर्य प्राप्त करें, पत्नी के साथ नहीं। एक तो राज्य गणिका से बड़े परिमाण में राज्य कर पाता था, दूसरे गणिकाएँ राज्य के चर का काम भी करती थीं। शिक्षा-दीक्षा, रुचि का उत्कर्ष और यौवन की मादकता से शत्रुपक्ष के उच्चपदस्थ व्यक्तियों को आकृष्ट करके उनसे गुप्त संवाद प्राप्त करके गणिकाध्यक्ष के माध्यम से राज्य के मन्त्री तक पहुँचाना, आवश्यकतानुसार शत्रुओं को पकड़वा देना आदि इनका करणीय होता था। तात्पर्य यह कि गणिका और गणिकालय राज्य की स्वार्थपूर्ति ही करते थे।

इसके अतिरिक्त धर्मग्रन्थों और साहित्य में बार-बार दक्षिणा की वस्तुओं की सूची में हाथी, घोड़ा, रथ, भूमि, अलंकार आदि के साथ नारी का उल्लेख भी किया गया है। ध्यान देने योग्य है कि यह दक्षिणा दी जाती थी यज्ञ के पुरोहित को और वह भी सैकड़ों, हजारों में। इनकी अलग-अलग श्रेणियाँ भी थीं यथा संतानवती, निःसंताना, विवाहिता और कुमारी। मन में प्रश्न उठता है ऋत्विक पुरोहित इतनी स्त्रियों का क्या करते थे? अवश्य ही इनमें से कुछ का भोग वस्तु के रूप में भोग करते रहे होंगे लेकिन बाकी का? क्रीतदासी या गणिका वृत्ति अपनाने के सिवा इनकी और क्या गति हो सकती थी।

उद्योतन सूरी के कुवलयमाला ग्रन्थ के अनुसार स्वर्ग में इन्द्र की

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अप्सराएँ भृंगार (सोने का जलपात्र) वहन करती थीं, छत्र, मुकुर, व्यजन, वीणा, वस्त्र इत्यादि वहन करती थीं। ललितविस्तर में राज प्रासाद की गणिकाओं द्वारा भरा हुआ कुम्भ, माला, अलंकार, सिंहासन, छत्र, चँवर, सुगन्धित, जलकुम्भ आदि वहन किये जाने का उल्लेख है, बाणभट्ट में गणिकाएँ राजा को स्नान कराती हैं। नाना स्थानों में इनके नाना नाम हैं—मंदिर में देववेश्या, प्रासाद में राजवेश्या, ब्राह्मण की ब्रह्मवेश्या और तीर्थ की तीर्थांगा। ब्रह्म पुराण के अनुसार एकाम्र तीर्थ में बड़ी संख्या में वेश्याएं रहती थीं (४०:३०-३५)। बौद्ध समाज या उत्सव के समय, युद्ध के लिए यात्रा करने के समय, विजयोत्सव के अवसर पर, राजा के विवाह या पुत्र जन्म के उत्सव में, यज्ञ या अन्य अवसरों पर सदा ही गणिकाओं के दल के दल समवेत अतिथियों के मनोरंजन के लिए नियुक्त होते थे। युधिष्ठिर के अश्वमेध यज्ञ के समय अन्यान्य मित्र राजाओं ने यज्ञ के लिए नाना प्रकार की वस्तुओं के साथ अनेक नारियों को भी भेंट स्वरूप भेजा (आश्वमेधिक पर्व ८५ : १८)। युधिष्ठिर स्वयं भी उसी यज्ञ में अतिथि राजाओं के स्वागत-सत्कार के निमित्त दान-दक्षिणा के साथ अनेक नारियाँ भी देते हैं (आश्वमेधिक पर्व ८० : ३२)। राजाशशविन्दु अपने अश्वमेध यज्ञ में हजार-हजार नारियों का दान करते हैं (द्रोण पर्व ६५ : ६)। भगीरथ ने भी हजारों-हजारों सुसज्जिता सुन्दरी नारियों को दक्षिणा में दिया था (द्रोणपर्व ६० : १, २ ; शांति पर्व २९ : ६५)। श्राद्ध की दक्षिणा की सूची में भी अनेक नारियों के देने की बात है (आश्रमवासिक पर्व १४ : ४, ३९ : २० ; महाप्रस्थान पर्व १ : ४ ; स्वर्गारोहण पर्व ६ : १२,१३)। वीर की तरह युद्ध करके वीरगति पाने से स्वर्ग में पुरस्कार में मिलती थीं असंख्य सुन्दरियाँ (वनपर्व १८६-८७ ; कर्णपर्व ४९ : ७६, ७८ ; शांतिपर्व ६४ : १७, ३० ; ९६ : १८, १९, ८३, ८५-८६, ८८, १०६ ; रामायण अयोध्याकांड ७१ : २२, २५, २६ ; सुन्दरकांड २० : १३)। परवर्तीकाल में संस्कृत साहित्य में इस तरह के प्रचुर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उल्लेख प्राप्त होते हैं (कुमारसंभव १६ : ३६, ४८ ; रघुवंश ७ : ५० ; किरातार्जुनीय ९ : ५१ ; शिशुपालवध १८ : ६०, ६१। इनके अतिरिक्त सुबन्धुवाण में तथा अन्यत्र भी इसके प्रचुर उल्लेख प्राप्त होते हैं)

कही-कहीं गणिका के परिवार की चर्चा भी की गयी है। गणिका की माँ ही गणिकालय की कर्ता-धर्ता होती थी। गणिका की वहन होती थी प्रतिगणिका अर्थात् आवश्यकता पड़ने पर जो उसका विकल्प हो सके। भाई को गाने-वजाने या अभिनय करने में कुशल होना होता था और राष्ट्र द्वारा परिचालित मंच पर कम से काम आठ वर्षों तक अभिनय करना पड़ता था, संगीत, वाद्य के कार्यक्रमों में योग देना होता था। उसकी शिक्षा की व्यवस्था और आर्थिक व्यवस्था राष्ट्र ही करता था। उसकी मुक्ति की कीमत गणिका से भी अधिक होती थी। उसकी स्थिति कम से कम इन आठ वर्षों में ग्रीस या रोम साम्राज्य के क्रीत-दासों जैसी होती थी। कहीं कहीं गणिका के विवाह का उल्लेख भी प्राप्त होता है। गणिका के पति को भी संगीत या अभिनय में भाग लेना पड़ता था। यह अभिनय गणिकालय में राष्ट्र के आदेश और राष्ट्र के ही खर्च से होता था (कामसूत्र ७ : २३, २४)। कभी-कभी गणिका का विवाह प्रतीक रूप में एक अनुष्ठान मात्र होकर रह जाता था। नारद स्मृति के अनुसार अब्राह्मण के लिए निम्न वर्ग की स्वैरिणी, वेश्या, दासी या निकाशिनी (अर्थात् जो अंतःपुरचारिणी न हों) आदि के साथ सम्पर्क रखने में कोई दोप नहीं है वशर्ते कि ये स्त्रियाँ किसी की पत्नी न हों (७४, ७९) अर्थात् स्वैरिणी, वेश्या, दासी या निकाशिनी किसी की विवाहित हो सकती थीं। याज्ञवल्क्य स्मृति में भी इसे दोष नहीं माना गया है (२ : २९०)। स्कंदपुराण के अनुसार वेश्या एक स्वतंत्र जाति है, उसका अपने वर्ण या अपने से ऊँचे वर्ण के पुरुप के साथ सम्बन्ध हो तो इसमें पुरुप दण्डनीय नहीं होता वशर्ते कि वह अवरुद्धा या किसी अन्य की रक्षिता न हो। यदि हो तो उसके लिए प्रायश्चित्त का विधान है प्राजापत्य (२ : २९०)। यह मात्र एक

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

दिन पालन करना होता है, अत्यन्त सामान्य प्रायश्चित्त है। साहित्य में किसी वेश्यागामी के प्राजापात्य प्रायश्चित्त करने का कोई प्रमाण नहीं प्राप्त होता। वात्स्यायन द्वारा गणिका के जीवन में प्रेम की सम्भावना को सिद्धान्तरूप में स्वीकार किया गया है (कामसूत्र १ : ६२-६५) अर्थात् ईसापूर्व दूसरी शताब्दी में भी उसमें मानवसुलभ आवेग की सम्भावना को एकदम उड़ा नहीं दिया गया था जैसा कि परवर्ती काल के शास्त्रों में किया गया। अश्वघोष के एक खण्डित नाटक और शूद्रक के मृच्छकटिक में गणिका के प्रेम का उल्लेख है और वह प्रेम वास्तविक सच्चा आवेग था, इसमें कोई सन्देह नहीं। इसके अतिरिक्त कथासरित् सागर, कलाविलास एवं अन्यान्य ग्रन्थों में भी ऐसे प्रसंग बिखरे पड़े हैं।

कलाविलास में एक उपाख्यान है। राज्यच्युत् राजा विक्रम निराश्रित हो आते हैं गणिका विलासवती के पास। दोनों के प्रेम का सविस्तार वर्णन किया गया है। विलासवती धनी थी। अपनी सारी सम्पत्ति खर्च करके वह विक्रम को अपना राज्य पाने में सहायता करती है। कृतज्ञता से भरकर विक्रम उससे विवाह करते हैं। एक दिन विलासवती को उदास देख विक्रम उदासी का कारण पूछते हैं। वह स्वीकार करती है कि उसका किसी से प्रेम था और उस पूर्व प्रणयी को प्राप्त करने के लिए उसका मन व्याकुल हो रहा है। राजा की अनुकूलता से दोनों प्रेमी युगल का मिलन होता है। लेकिन उसके बाद राजा को मन्त्री की चेतावनी याद आती है कि गणिका का विश्वास कभी मत करना। इस कथा के द्वारा गणिका के प्रति समाज में व्याप्त अनादर का भाव, विद्वेष, प्रतिकूलता और उसके चित्तचांचल्य के प्रति द्विधाहीन विश्वास सभी का संकेत मिलता है। महत्व नहीं दिया है तो कहानी के पूर्वार्द्ध को जिसमें वह अकुण्ठित और अयाचित स्वार्थत्याग द्वारा राजा का मंगल करती है। इस सम्भावना को समझते हुए भी कि राजा उसकी मनोकामना नहीं भी पूरी कर सकते हैं, विलासवती

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ने अकृपण भाव से राजा के लिए आत्मत्याग किया था। समाज की स्वार्थपरता और अकृतज्ञता का यह एक अच्छा प्रमाण है।

गणिकालय की कर्त्ता-धर्ता गणिकामाता का यह कर्त्तव्य था कि वह गणिका को लांछित या प्रताड़ित न होने दे। साथ ही हर तरह से उसके स्वार्थों की रक्षा करना भी उसका काम था। नाना ग्रन्थों (जैसे कुट्टनीमत, देशोपदेश आदि) में इस सम्बन्ध में विस्तृत निर्देश दिये गए हैं। इनमें से अधिकांश का सम्बन्ध प्रार्थियों को यथासम्भव वंचित रखने से है—कन्या बीमार है, वह स्वयं थकी हुई है, मन खिन्न है, कोई दूसरा अधिक वस्त्रालंकार देने को राजी है आदि। कन्या के ऋण, अभाव या असुविधा की सूचना देकर भी प्रार्थी को दूर रखा जा सकता था (दशरूपक २ : ३४ ; समयमातृका १ : ४०, ४५ ; कामसूत्र ७ : १ : १३-१७)। इसके अलावा होती थी कुट्टनी जो गणिकामाता न होकर कोई वृद्धा गणिका भी हो सकती थी। इसका मुख्य काम होता था उपयुक्त धनी, उदार, सत् और वांछनीय प्रार्थी की खोज करना और दोनों के बीच मध्यस्थता करना, कलह करवाना और मिटाना, गणिका के स्वार्थ हेतु प्रार्थी को ठगने या उसे धोखा देने की व्यवस्था करना आदि। कुट्टनी या शम्भली विगतयौवना गणिका होती थी। स्वयं गणिका वृत्ति करने की उम्र बीत जाने पर इस विकल्प वृत्ति से वह अपना भरण-पोषण करती थी और हो सकता है कुछ उपार्जन भी कर पाती रही हो। कामसूत्र में चण्डाली, मुण्डिता और वृद्धा गणिका के साथ कुट्टनी का भी उल्लेख प्राप्त होता है। कुट्टनी मत में भी यही (५३२) है। समयमातृका (८ : १०२, १०३, ११२) और शार्ङ्गधर पद्धति (४०५) में भी इनके उपार्जन कर पाने की अक्षमता और इनकी दरिद्रता का उल्लेख है। सारी वृद्धा गणिकाएँ तो कुट्टनी या शम्भली हो नहीं पाती थीं और जो नहीं हो पाती थीं उन्हीं की संख्या अधिक होती थी। उनकी दुर्दशा की हम कल्पना भी नहीं कर सकते। जब ये उपार्जन करती थीं तब काफी आराम से रहती थीं ; कुछ विलास की

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भी अभ्यस्त होती थीं। यौवन ढल जाने पर उपार्जन की क्षमता समाप्त हो जाती थी। ऐसे में इनके लिए कहीं कोई व्यवस्था नहीं थी। केवल ऊपरी स्तर की कुछ सुपरिचिता, रूपवती और गुणवती गणिकाओं के लिए या फिर जो धनी होने के कारण प्रख्यात थी, उनके लिए कुछ विकल्प वृत्ति (रसोई का काम, पशम या रूई बुनने का काम) या राष्ट्र की ओर से कुछ अर्थदान की व्यवस्था थी। सहज ही समझा जा सकता है कि राष्ट्र के अपने इस कर्त्तव्यपालन से विमुख होने पर वृद्धा गणिकाएँ एकदम लाचार हो जाती थीं। एक तो उस युग में श्रमिक संघों के माध्यम से साधारण श्रमिकोंकी स्वार्थ रक्षा दुर्लभ थी फिर गणिका वृत्ति इतनी घृणित थी कि समाज वृद्धा गणिका को आवर्जना के अतिरिक्त और कुछ नहीं समझता था। फलस्वरूप कानून में व्यवस्था होने पर भी उस सुविधा को उपलब्ध करने का उनके पास कोई उपाय नहीं था। वैसे अर्थशास्त्र के अतिरिक्त और कहीं कानूनी व्यवस्था का उल्लेख भी नहीं है।

देशोपदेश में एक प्रसंग आता है कि साठ वर्ष की एक वृद्धा गणिका तरुणी सजकर व्यवसाय में उतरने पर दण्डित की जाती है (३ : ३३)। सबसे पीड़ादायक कथा मिलती है समयमातृका के एक करुण उपाख्यान में। कंकाली नाम की सराय के मालिक की लड़की सात वर्ष की उम्र में ही बाजार में बेच दी जाती है। सारा यौवन बीतता है गणिका वृत्ति में, इसके-उसके पास हाथ-बदल होने में। रूप-यौवन समाप्त हो जाने के बाद प्रारम्भ हुई नाना वृत्तियों का सहारा ले पेट भरने की दुश्चेष्टा। तीर्थस्थान में तीर्थयात्रियों को प्रलुब्ध करने की चेष्टा में वह पकड़ी जाती है और जेल में डाल दी जाती है। जहाँ वह एक पहरेदार की हत्या करके एक मठ में भाग जाती है लेकिन कम परिश्रम की अभ्यस्त होने के कारण वह मठ का कष्ट नहीं सह पाती और भिक्षा माँगकर किसी तरह दिन काटने लगती है। इसी बीच पड़ा दुर्भिक्ष और भिक्षा भी बन्द हो गयी। तब वह एक छोटी बच्ची की धात्री का काम पकड़ती है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अनभ्यास और प्रौढ़ावस्था के कारण वह इतना परिश्रम नहीं सह पाती और एक दिन लड़की का सोने का हार चुराकर भाग जाती है। हार बेचकर मिला रुपया समाप्त हो जाने पर वह जुआ खेलने की कौड़ी लेकर धोखे से लोगों को ठगकर रोजगार करने लगी। कुछ दिन मजे में चला लेकिन एक दिन वह पकड़ी गयी और फिर चालू हुआ भिक्षा का क्रम। भूख की ज्वाला असह्य होने पर वह एक मंदिर में छिपकर भगवान के नैवेद्य की सामग्री चोरी करके अपना पेट भरने लगी लेकिन वहाँ भी पकड़ी जाती है। तब वह शुरू करती है मद बेचने का काम। उससे पूरा नहीं पड़ता तो वह गणक वृत्ति अपना लेती है। वहाँ भी पकड़ी जाने पर कुछ दिन तक वह अभिनेत्री बनकर गुजारा करती है। लेकिन उसके लिए पर्याप्त योग्यता न होने के कारण निरुपाय हो उसने पगली बनकर घूमना शुरू किया। एक दिन अचानक उसके दिमाग में एक चालाकी का विचार आया। कंकाली ने यह प्रचार किया कि अपने जादू से वह शत्रु-सैन्य को पक्षाघात से अशक्त कर दे सकती है। यह सुनकर राजा स्वयं उसे साग्रह प्रासाद में स्थान देते हैं। कुछ दिन आराम से चलता है। तभी समाचार आया कि राजा पर आक्रमण होनेवाला है। कंकाली ने समझ लिया कि 'यः पलायते सा जीवित।' स्वदेश लौटकर हारकर उसने कुट्टनी वृत्ति का सहारा लिया (समयमातृका २ : २८-८०)। कहने की आवश्यकता नहीं कि अनेक गणिकाओं की जीवनगाथा का परिचय इस उपाख्यान से प्राप्त होता है। इस कथा में हल्के-फुल्के ढंग से एक असहाय वृद्धा की केवल जीवित रहने की चेष्टा और समाज का कोई दरवाजा खुला न होने के कारण अन्त में हारकर कुट्टनी वृत्ति में लौट आने की करुण कथा का ही वर्णन है। छोटी उम्र में जब रूप-यौवन रहता है तब इन्हें थोड़े आराम से रहने की आदत पड़ जाती है, शारीरिक श्रम का अभ्यास नहीं रहता। उम्र हो जाने पर नए सिरे से परिश्रम करना सम्भव नहीं होता फलस्वरूप वृद्धावस्था में पेट भरने तक का कोई ऐसा रास्ता नहीं रह जाता गणिका के सामने। उस दृष्टि से

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कंकाली की किस्मत अच्छी थी कि उसे कुट्टनी का काम तो मिल गया अन्यथा सौ में से निन्यानवे गणिकाओं को कोई सहारा नहीं होता, न उनके पास अपनी सम्पत्ति होती है और न ही रिश्तेदारों का बल होता है। अर्थोपार्जन के उपयुक्त किसी विकल्प वृत्ति की शिक्षा भी उन्हें नहीं प्राप्त होती फलस्वरूप बुढ़ापे में वे जीवन संग्राम में जल तरंगों के थपेड़े खाते काठ के टुकड़े के समान इधर-उधर डूबती उतराती रहती हैं।

कुट्टनी के अतिरिक्त भी गणिका के सहायक होते हैं। वे हैं पीठमर्द या विट। पीठमर्द हुए नागरकों के शिक्षक और सहचर, उनके इंगित पर किसी नारी को प्राप्त करवाने में पीठमर्द सहायता करता है (दशरूपक २ : ८)। विट नागरकों के भी होते हैं और गणिकाओं के भी। गणिका के विट होते थे धनी घर के लड़के जो अपनी धन-सम्पत्ति बरबाद करके गरीब हो जाते थे। ये शिक्षित, वाक्पटु, गणिका की परिचर्या में कुशल मीठे स्वभाववाले और बुद्धिमान होते थे। कौन सी बात मुँह तक लाने की है और कौन सी नहीं, यह वे जानते थे, न कही गयी बात भी आवश्यकतानुसार समझ लेते थे, प्रार्थी और गणिका का मिलन करवाते थे, कलह मिटाते थे, गणिका की हर तरह की स्वार्थ-सिद्धि के प्रति सचेष्ट रहते थे, उसके अनुकूल काम और बात करते थे। चतुर्भाणी और भाण के अन्तर्गत आने वाले अन्यान्य एक पात्री एकांकियों में विट की भूमिका अच्छी तरह समझी जा सकती है। मृच्छकटिक नाटक में भी वसंतसेना का विट एक महत्वपूर्ण चरित्र है।

वैदिक युग से ही साहित्य में गणिका के दर्शन होने लगे थे। शांख्यायन आरण्यक में पुंश्चली की बातचीत और अथर्ववेद के व्रात्यसूक्त में पुंश्चली के साथ मागध की उपस्थिति का उल्लेख है। परवर्ती साहित्य में गणिका की उत्पत्ति को लेकर अनेक काल्पनिक कथाएँ प्राप्त होती हैं। महाभारत के मौपलपर्व में यादव और वृष्णिवंश की नारियों को दस्यु हरण करके ले जाते हैं, फलस्वरूप वे गणिका हो जाती हैं। ऋषि दाल्भ्य चैकितायन और श्वेतकेतु के भतीजे अष्टावक्र, अधिवासी मद्रों को

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कुरुपांचाल और सिंधुसौवीर अंचलों में कामशास्त्र की शिक्षा देते थे जिसका एक अंश गाणिक्य या गणिका से सम्बन्धित होता था। महाभारत (कर्णपर्व २७ : ३०, ५१-४६) और मत्स्यपुराण (अध्याय ७०) में गणिका के उद्भव के सम्बन्ध में अन्य कथा मिलती है। क्षेमेन्द्र ने अपने समयमातृका ग्रन्थ में कहा है कि दुश्चरित्रा माताएं पर पुरुषों द्वारा भुक्त अपनी कन्याओं को दूसरों को दान दे देती थीं और ये ही गणिका बन जाती थीं (३ : १८)।

ठीक किस समय और कैसे समाज में गणिका, गणिका के रूप में आयी यह निर्णय करना आज कठिन है तथापि साहित्य में यत्र-तत्र प्राप्त कुछ सूत्रों से यह अनुमान किया जा सकता है कि किन-किन रास्तों से गणिकाएं समाज में प्रवेश करती थीं। जैसे वात्स्यायन ने कामसूत्र में विशद वर्णन किया है कि कैसे कोई पुरुष किसी कुल कन्या को प्रलुब्ध करके, उसे अपने अनुकूल बनाकर उसका भोग कर सकता (३ : ५ : १४-२६)। भोगी जाने के बाद इन कन्याओं का समाज में क्या स्थान हो सकता था? सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि इनमें से अधिकांश गणिकालय का रास्ता पकड़ने को बाध्य होती थीं। संस्कृत में दो शब्द हैं—जायाजीवी और जायोपजीवी अर्थात् जो पुरुष स्त्री के उपार्जन पर जीवनयापन करे। यह उपार्जन गणिकावृत्ति से होता था। जायाजीवी का पाप उतना बड़ा नहीं था, वह उपपातक मात्र माना जाता था। साधारण चंद्रोयण व्रत से उसका प्रायश्चित्त हो जाता था (विष्णुपुराण अध्याय ३७; याज्ञवल्क्य स्मृति २४०)। ये स्त्रियां घर में रहकर ही गणिकावृत्ति का सहारा ले उपार्जन करतीं और परिवार का भरण-पोषण करती थीं। उत्सव, युद्ध में विजय, यज्ञ, दान, दक्षिणा आदि में एक वस्तु के रूप में नारी का भी दान किया जाता था। इसमें ऐसी अभागिनें भी होती थीं जिनके देह के विनिमय के मूल्य से अन्य एक व्यक्ति पुण्य कमाता था (महाभारत उद्योगपर्व अध्याय ११४-११८)। एक धनी श्रेष्ठी की कथा सुनने में आती है जो

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अपनी असामान्या रूपवती कन्या के लिए एक रात के लिए जो मूल्य निर्धारित करते हैं वह काशिराज के पूरे राजस्व के समतुल्य था फलस्वरूप प्रार्थी मिलते ही नहीं थे। अन्त में कन्या ने अपनी राशि आधी घोषित कर दी और इस प्रकार अर्द्धकाशी कहलायी। अतः स्पष्ट है जायाजीवी का केवल पति ही नहीं वरन् गरीब, अभागा या अर्थलोभी निष्ठुर पिता भी गणिका वृत्ति से जुड़ा होता था। लेकिन यदि हम संख्या की दृष्टि से विचार करें तो वास्तव में गणिकावृत्ति करनेवालियों में दान-दक्षिणा में वितरित स्त्रियों का ही आधिक्य था क्योंकि इनकी संख्या अनगिनत होती थी। नारी को, मुख्यतः सुन्दरी तरुणी को यज्ञ, दहेज, श्राद्ध, युद्धजय, दान, दक्षिणा आदि में देने के असंख्य उल्लेख रामायण में हैं (अयोध्याकांड ११-१२,२५-२६; किष्किंधाकांड २० : १३; २४, ३४ एवं अन्यत्र भी)। महाभारत में भी (वनपर्व १८६ : ७, कर्णपर्व ४९ : ७६-७८; शान्तिपर्व ९८ : ४५; अनुशासनपर्व ९६ : १८, १९, ८२) गणिका सभा की शोभा बढ़ानेवाली और युद्ध तथा शिकार करने के समय मनोरंजन करनेवाली कही गयी है। अभिज्ञान शाकुन्तल के दूसरे अंक में दुष्यन्त की मृगयासहचारिणी यवनियों का उल्लेख प्राप्त होता है। कुमार सम्भव (१६ : ३८, ४८), रघुवंश (७ : ५०) और परवर्ती काव्यों में नारी विलास के उपकरण के रूप में अनेक बार दिखलाई पड़ती है। युद्धक्षेत्र से अन्यान्य जीती गयी वस्तुओं की तरह अर्जुन पराजित पक्ष की नारियों को भी लाते हैं (वनपर्व ८ : २७)। विराटराज अर्जुन के शौर्य एवं विजय से प्रसन्न हो पुरस्कारस्वरूप उन्हें अनेक तरुणी सुन्दरियाँ प्रदान करते हैं (विराटपर्व ३४ : ५)। युद्धक्षेत्र में कर्ण ने घोषणा की थी कि जो अर्जुन को पहचनवायेगा उसे वे एक सौ सुन्दरियाँ दान में देंगे (द्रोणपर्व ३८ : ४)। जो राजा सुन्दरियों का दान नहीं करते थे निन्दासूचक नाम "राजकलि" से अभिहित किया जाता था अर्थात् राजाओं में जो कलिस्वरूप हो (शान्तिपर्व १२ : ३६६)। द्रौपदी के

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विवाह में दहेज के साथ एक सौ सुन्दरी तरुणियां थीं (आदिपर्व १९८/१३), सुभद्रा के विवाह के समय अतिथियों के स्नान एवं सुरापान आदि की सहचरी थीं एक हजार सुन्दरी तरुणियां (आदिपर्व २२९/४९, ५०) : अश्वमेध यज्ञ के बाद अन्यान्य भोग्यवस्तुओं के साथ युधिष्ठिर असंख्य सुन्दरी तरुणियों को अतिथियों के बीच वितरित करते हैं यह हुआ उनके अतिथि सत्कार का एक ढंग। (आश्वमेधिक पर्व ८०/३२)। राजा शशविन्दु ने भी अपने अश्वमेध यज्ञ में अनेक सुन्दरी नारियों का दान किया था। (द्रोणपर्व ६५/६)। सुन्दर वस्त्र और अलंकार से सज्जिता कई सौ सुन्दरियों का दान राजा भगीरथ ने किया था (द्रोणपर्व ६०/१-२ ; शांतिपर्व २९/६५)। सगर ने भी ऐसी अनेक सुन्दरी कन्याओं को ब्राह्मणों को भेंट में दिया था, राजा वेन ने दिया था, ऋषि अत्रि को। महाभारत में ऐसा भी कहा गया है कि ब्राह्मणों को सुन्दरी कन्याएं दान करने का फल बहुत बड़ा होता है (वनपर्व ३१५/२, ६ ; २३३/४; विराटपर्व १८-२१ ; शान्तिपर्व, ६८।३३, १७१। ५, १७३। १६) इसके कारण दाता स्वर्ग में प्रचुर पुरस्कार प्राप्त करता है अर्थात् स्वर्ग में बहुत बड़ी संख्या में अप्सराएं उसे तृप्त करेंगी (अनुशासन पर्व १४५/२)। कहना न होगा कि इस प्रकार के पुण्य और पुरस्कार का लोभ दिखलाकर ब्राह्मण अनेक सुन्दरी नारियों को दान में प्राप्त करते थे। हां, दाता को अवश्य ही स्वर्ग की अप्सराओं के साहचर्य लाभ के लिए मृत्यु तक प्रतीक्षा करनी पड़ती थी। बात सहज ही समझ में आती है कि पृथ्वी की गणिका का काल्पनिक रूपायन होता था स्वर्ग की अप्सरा में। पिता पुरखों के श्राद्ध के अवसर पर दान सामग्री की तालिका में हजारों-हजारों सुन्दरी तरुणियों का उल्लेख भी प्राप्त होता है। उन्हें पाने वाले होते थे पुरोहित ब्राह्मणगण (आश्रमवासिक-पर्व १४। ४, २०, ३९ ; महाप्रस्थान पर्व १। ४ ; स्वर्गारोहण पर्व ६। १२, १३)। अनुमान किया जा सकता है कि इन औरतों की क्या परिणति होती रही होगी। हम विचार करें तो सहज ही समझ में आयेगा कि

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इतनी स्त्रियों के भरण-पोषण का दायित्व उठाने की क्षमता ऋत्विक पुरोहितों की नहीं होती थी। अतिशयोक्ति छोड़ भी दें तो भी इनकी संख्या भयावह रूप से बड़ी होती थी अतः थोड़े दिनों बाद ही ये क्रीतदासी या गणिका में परिणत होती थीं। और यह सब होता था धर्मयाजकों के माध्यम से ही क्योंकि इन दक्षिणाओं को ग्रहण करने वाले वे ही होते थे। अतिथि, मित्र, प्रियजन आदि अन्य लोग जिन्हें उत्सव में या अन्य किसी उपलक्ष्य में दान रूप में नारियाँ प्राप्त होती थीं, वे भी अवश्य ही इनमें से अनेक को दासीत्व या गणिकात्व के निमित्त बेच देते थे। इसके अतिरिक्त अन्य अनेक सूत्रों से नारी गणिकालय में आती थी। विवाह में नारी का कौमार्य—पुरुष का नहीं—जब अत्यावश्यक मानदण्ड हो गया तब जिस किसी भी कारण से, स्वेच्छा से या अनिच्छा से, जिस तरुणी का कौमार्य भंग हो जाता था वह विवाह के लिए अयोग्य करार कर दी जाती थी। और विवाह ईसापूर्व चौथी शताब्दी या उसके भी पहले से स्त्री के लिए कैसा अलंघनीय विधान हो गया था इसके प्रमाण स्वरूप महाभारत में अनेक कथाएं प्राप्त होती हैं। एक में एक वृद्धा तपस्विनी को भी सुनना पड़ता है कि कम से कम एक रात के लिए ही सही किसी पुरुष की भार्या बनना स्वीकार न करने पर उसके लिए स्वर्ग में प्रवेश निषिद्ध होगा। असल में विवाहित जीवन से बाहर स्त्री की कोई भूमिका ही नहीं थी दो एक ब्रह्मवादिनी या पंडित कौशिकी का उल्लेख करके इस सत्य को झुठलाया नहीं जा सकता। जिस नारी का कौमार्य भंग हो चुका हो उसके लिए विवाह की दुनिया के सब द्वार बंद थे, खुला था तो गणिकालय ले जानेवाला प्रशस्त्र मार्ग ही। जो समाज नारी के सतीत्व की सुरक्षा के प्रति इतना तत्पर था वही समाज इस तरह नारी को गणिकात्व स्वीकार करने को बाध्य करता है, यह उसके लिए अनिवार्य हो जाता है। इसमें पुरुष का स्वार्थ निहित था जिसकी चर्चा थोड़े बाद में की जायेगी। इसके अतिरिक्त राजा को गांव या शहर की सुंदरी तरुणी का इच्छानुसार भोग करने का

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अधिकार प्राप्त था। विदर्भ के राजा लोग सुन्दरी तरुणियों का कुछ दिनों तक भोग करने के बाद उन्हें लौटा देते थे। वत्सगुल्म राज्य में राजा मंत्री-पत्नी को प्रासाद में बुलवाते तो उन्हें जाना पड़ता था। संभव है इस प्रकार लौटी तरुणियों में से कुछ से राजा के अनुगत कभी-कभी विवाह कर लेते रहे हों लेकिन शेष की क्या परिणति होती थी इसका अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है।

सुंदरी नारी को खरीदकर देवालय में देने से दाता को पुण्यलाभ होता था इसलिए देवदासी-दान का पुण्य अर्जन करने के लिए लोग गरीब माता-पिता से उनकी कन्याओं को खरीदकर उनका दल का दल मंदिर में भेज देते थे। वहाँ वे पुरोहितों की भोग्या भी बन जाती थीं इस प्रकार दाता को लाभ होता था—इस पर देवता भी प्रसन्न होते थे और पुरोहित भी।

अनादि काल से सभी समाजों में युद्ध में प्राप्त बंदिनी नारियों ने गणिकालय में संख्या वृद्धि की है। अवश्य ही अनेक बार वे सीधे नहीं वरन् घूमघाम कर वहां पहुंचती थीं। पहले सेनापति या राजा के अंतःपुर में अन्य अनेक नारियों के साथ केवल एक पुरुष की भोग्या के रूप में अनेक दिन बीतते थे। फिर वे गृह स्वामी के दूसरे पुरुष रिश्तेदारों की भोग्या बनकर कुछ समय काटती थीं। सबसे अन्त में आती थीं गणिकालय में। युद्ध के अतिरिक्त देश के दुर्दिन अर्थात् अकाल या राष्ट्रविप्लव आदि के समय गरीब माता पिता भरण पोषण में अक्षम होने पर कभी-कभी कन्याओं को बेच देते थे। कभी वे पहले धनिकों के घर, राजा के अन्तःपुर या मन्दिरों में स्थान पाती थीं और रूप यौवन ढलने पर गणिकालय में आती थीं और कभी सीधे। गणिकालयों में सीधे भी लड़कियों को खरीदने की व्यवस्था थी।

गणिका की कन्या गणिका और पुत्र बन्धुल होते थे। मृच्छकटिक नाटक में बन्धुल अपना बड़ा करुण परिचय देते हैं - दूसरे के घर में लालित, दूसरों के अन्न से पुष्ट, पराये पुरुष द्वारा पर नारी से हमारा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जन्म होता है। गणिका की कन्या का भी यही परिचय होता था अतः उसके लिये समाज के सब रास्ते बंद होते थे, जीवन धारण के लिए उसके पास एकमात्र उपाय होता था गणिका वृत्ति का स्वीकार। कभी वह गणिका, कभी रूपाजीवा, कभी अवरुद्धा और रूप-यौवन, विद्या, गुण आदि से हीन होने पर साधारण वेश्या ही रहती थी।

जिस समाज में 'सती' शब्द का कोई पुल्लिंग प्रतिशब्द न हो, जिस समाज में "चरित्र" शब्द से केवल यौनशुचिता का बोध होता हो जिस समाज में पुरुष की यौन मधुकरी वृत्ति को चिरकाल से नाना रूपों में प्रश्रय दिया जाता रहा हो, उसी समाज में नारी के अत्यंत साधारण स्खलन को बराबर कठोर रूप में दण्डित किया जाता रहा है। समाज के कठोर दण्ड और आत्मधिक्कार के कारण पिता और पति के घर के दरवाजे जब सहज ही बंद हो गए तब भ्रष्टा नारियों को सामान्य से स्खलन की बड़ी ऊंची कीमत चुकानी पड़ी गणिकालय में सारा जीवन काटकर। विशेष कर जब समाज ने प्रायः दो हजार वर्षों से स्त्री को कमाने योग्य शिक्षा से वंचित रखा हो और सत्पथ पर चलते हुए सम्मानपूर्वक जीविका अर्जित करना जब उसके लिए एकदम असम्भव हो गया हो तब यही वृत्ति उसके रोटी-कपड़े का एकमात्र सहारा ठहरती थी। और दान, दक्षिणा या दहेज के रूप में (शर्मिष्ठा-देवयानी की कथा द्रष्टव्य) दी गयी नारी दूसरों की भोग्या बनती थी रोटी-कपड़े के अतिरिक्त उसे और कुछ पाने का अधिकार नहीं था। उसका यदि कोई आर्थिक मूल्य था तो केवल गणिका के रूप में ही।

लेकिन एक मनुष्य के रूप में उसे समाज से मिली विशुद्ध अवज्ञा, घृणा और तिरस्कार। मृच्छकटिक की नायिका वसंतसेना की बात ही लें (साहित्य में केवल उसी का पूरा चित्र हमारे सामने आता है)। रूप और यौवन में वह अतुलनीय थी, शिक्षा-दीक्षा, रुचि, चरित्र, उदारता आदि में वह बेजोड़ थी। उज्जयिनी के लोग उसके उल्लेख का अलंकार-स्वरूप; उज्जयिनी की नगरलक्ष्मी आदि कहकर करते थे।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

लेकिन उसका अनुचर विट उसे बराबर स्मरण दिलाता रहता है कि वह श्मशान में लगे जुही के पेड़ के फूल के सामान है जिसका उपयोग किसी शुभ काम में नहीं किया जाता ; वह वेश्या है, सर्वजन भोग्या है खरीदने-बेचने की एक वस्तु मात्र है; उसकी अपनी पसंद-नापसंद या उसे अच्छा-बुरा लगने का प्रश्न ही नहीं उठता । यदि गणिकाओं में श्रेष्ठ वसंतसेना का प्राप्य यह था तो फिर दूसरों की बात ही क्या । जिसका नाम नगरशोभिनी, नगरमंडना और जनपदकल्यानी हो उसके लिए प्रयुक्त दूसरे नामों से गहरी घृणा और अवज्ञा ही व्यक्त होती है । गणिका के प्रति समाज का यह दोहरा मनोभाव ध्यान देने योग्य है ।

गणिका-गमन पाप था तथापि उसका प्रायश्चित्त अत्यंत सामान्य । गणिका-संसर्ग के पाप के निमित्त अनेक धर्मशास्त्रकारों ने प्राजापत्य नामक प्रायश्चित्त का विधान किया है (विष्णुपुराण १०३,४ ;अत्रिसंहिता २६७, संवर्तसूत्र १६१; पराशर संहिता १०:१५) । महाभारत में भी शांति पर्व और अनुशासनपर्व में गणिका के बारे में अनेक निंदाजनक उक्तियां हैं और कहा गया है कि गणिका संसर्ग से पाप होता है । गणिका का अन्न ग्रहण करना पाप हैं, उसका स्पर्श वर्जित । महाभारत के अनुसार नगर के दक्षिण ओर, यम की दिशा में गणिकालय का निर्माण होना चाहिए । मानसोल्लास नामक एक ग्रंथ में कहा है कि गणिकालय प्रत्यंत देश में अर्थात् लोगों के रहने की सीमा के बाहर होंगे (लेकिन ग्रीस में नगर के सुन्दरतम अंचल में गणिकालय होते थे । मृच्छकटिक नाटक से भी लगता है कि वसंतसेना का सतमहला प्रासाद नगर के बीच ही था । चतुर्भाणी से भी ऐसा ही लगता है) । रूप, गुण, विद्या, बुद्धि, आकर्षण और माधुर्य आदि का समन्वय होने पर ही 'गणिका' पद प्राप्त होता था (कामसूत्र १ : ३ : २०) । कौटिल्य का कहना है कि गणिकाध्यक्ष गुणवती, सुन्दरी तरुणी को ही गणिका संज्ञा देंगे (अर्थशास्त्र २ : २७) ऐसी गुणवती, रूपवती गणिका का जब समाज की दृष्टि में यह स्थान था तब रूपाजीवा, वेश्या, स्वैरिणी आदि

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

को किस दृष्टि से देखा जाता होगा, इसे आप सहज ही समझ सकते हैं।

गणिका का प्रमुख प्रत्यक्ष अपराध यह होता है कि वह अपने रूप-गुण और शिक्षा-दीक्षा से कुलपुत्रों को प्रलुब्ध करती है। दूसरा अपराध यह कि नाना छल और चतुराई से वह कुलपुत्रों का अर्थ शोषण करती है। वैशिकतन्त्र जैसे गणिका सम्बन्धी प्रायः सभी ग्रन्थों में इस बात की विस्तृत चर्चा की गयी है कि गणिकामाता, गणिकालय की कर्त्री या स्वयं गणिका अपने प्रार्थी से कैसे छल से अर्थ निकलवा ले सकती है। कामसूत्र में वात्स्यायन ने स्पष्ट लिखा है कि नागरक जो यों ही देता है उससे अधिक वसूलने के लिए गणिका को उससे उसके (प्रार्थी) और अपने गहने-कपड़े चोरी जाने की झूठी बात कहे, बार बार अपने अभाव का रोना रोये, मौका देखकर यह भी सुनाये कि दूसरा नागरक उसे और अधिक धन, वस्त्र और अलंकार देने को सहमत है। (६ : २/३-२३)। ये सारी सिखावन पुरुषों द्वारा रचित ग्रन्थों में ही मिलती हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि वात्स्यायन की इस निर्देशावली के पीछे यही धारणा थी कि गणिका के ठगे जाने की सम्भावना है, उसे अपने स्वार्थों के प्रति स्वयं सचेत होना चाहिए, सारे उपायों से अधिकाधिक अर्थ उपार्जन करने की चेष्टा करनी चाहिए ताकि उसका वर्तमान जीवन-यापन हो सके और बुढ़ापे के सहारे के रूप में जो अर्थ उसके काम आ सके। गणिकावृत्ति मूलतः एक व्यावसायिक सम्पर्क है और अर्थशास्त्र में जिस तरह वणिक को उसकी श्रीवृद्धि के लिए उपदेश दिया जा सकता था, कामशास्त्र में गणिका को अपनी स्वार्थरक्षा के लिए वैसे ही उपदेश दिया गया है। इन सब ग्रन्थों की रचना गणिकाओं ने नहीं की थी, की थी समाज के पुरुषों ने ही और इनमें विस्तृत निर्देशावली का एक ही उद्देश्य था—प्रार्थी को ठगकर या यथासंभव उसे वंचित करके उससे पैसे ऐंठना। पर मजे की बात यह है कि जब गणिका इन निर्देशों के अनुसार आचरण करती है तब उस

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पर भर्त्सना और निद्रा की बौछार की जाती है। दूसरी ओर कानून की ओर देखते हैं कि गणिका की स्वार्थ रक्षा के लिए अर्थदण्ड के जो कानून बनाये गये हैं उनकी भिन्न-भिन्न धाराओं में प्रतिकार का गहरा भाव निहित है। गणिका और उसकी कन्या के ऊपर बलात्कार से प्रारम्भ करके अपमान, लांछना, अंगच्छेद (हाथ या कान काट लेना), अन्यान्य शारीरिक अत्याचार, सम्पत्ति-हरण आदि नाना प्रकार के निर्यातन और लांछन उसके हिस्से आते थे। समाज में उसका कोई मूल्य और स्थान नहीं था, उपार्जन ही उसका एक मात्र सहारा था लेकिन उस उपार्जन में भी धूर्तों और लम्पटों के चंगुल से वह मुक्त नहीं रह पाती थी। बीमार पड़ने पर उसकी देख-रेख करने वाला कोई नहीं था, बुढ़ापे में उसका भरण करने वाला कोई नहीं था। नाते-रिश्ते वालों और बन्धु-बांधवों के संग-साथ से वंचित गणिका यदि हर उपाय से अपनी सम्पत्ति बनाये रखने और उसे बढ़ाने की चेष्टा करे तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। यह वह कैसे कर सकती थी इसका निर्देश विभिन्न ग्रंथों में दिया गया है। ऐसी स्थिति में उसका करणीय क्या हो? क्या वह अपने स्वार्थ, अपने भविष्य और रोटी-कपड़े की चिंता न करें? यह तो स्पष्ट है कि उसे ठगने में कुलपुत्रों को कोई द्विधा नहीं होती थी। तात्पर्य यह कि यह सारा सम्पर्क-सम्बन्ध ही पारम्परिक प्रतारणा पर आधारित होता है, तथापि इसका दोष मढ़ा जाता है गणिका के सिर, कुलपुत्रों के नहीं।

समयप्रदीप ग्रंथ में यात्रा के लिए अनुकूल समय की गणना के प्रसंग में जिन शुभ लक्षणों का उल्लेख किया गया है वे हैं—बछड़ा सहित गाय, बैल, घोड़ा, रथ, दक्षिणावर्त अग्नि, देवी प्रतिमा, भरा हुआ कुम्भ, माला, पताका, सफेद चावल आदि। साथ ही है "द्विज नृप गणिका।" इन सबको "द्रष्टव्य श्रुत्वा पठित्वा च फलमिह लभते मानवो गंतु कामः" देखकर, सुनकर, पढ़कर, यात्रा के लिए प्रस्तुत होनेवाला व्यक्ति फल लाभ करता है (विष्णु स्मृति २१ में भी है)। इसी तरह दुर्गा की प्रतिमा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

बनाने के लिए विभिन्न स्थानों से इकट्ठी की जानेवाली मिट्टी में गणिका के घर की मिट्टी, एक आवश्यक उपादान है। महाव्रत यज्ञ में पुंश्चली और ब्रह्मचारी के संवाद या व्रात्यसोम में पुंश्चली और मागध व्रात्य के सहचर की कथा के द्वारा इस रहस्य का सम्भवतः समाधान प्राप्त हो सकता है। नृतत्व के ग्रन्थों में क्षेत्र (खेत) को फलप्रसू करने की एक एक प्रणाली थी क्षेत्र के ऊपर ही नारी-पुरुष का मिलन होना। यह प्रचलित थी पृथ्वी के विभिन्न अंचलों में। यौन शक्ति के प्रतीक के रूप में ही गणिका को इन सब यज्ञीय अनुष्ठानों में स्थान मिला था। धीरे-धीरे वह यौनता का प्रतीक ही बन गयी और इसीलिए शस्य की अधिष्ठात्री देवी दुर्गा की मूर्त्ति के निर्माण के लिए उसके घर की मिट्टी अपरिहार्य हो गयी, इसीलिए यात्रा के अन्यान्य शुभ लक्षणों के प्रसंग में उसे भी स्थान प्राप्त हुआ। इस श्लोक में प्रयुक्त शब्द ध्यान देने योग्य हैं—फलमिह लभते। यद्यपि गणिका का जननीत्व गौण है तथापि उसका योनत्व उर्वरता का बीज वहन करता है इसीलिए कृषिजीवी समाज में वेदों से लेकर दुर्गापूजा तक उसे यह स्थान प्राप्त था।

समाज की यह दोहरी मानसिकता तात्पर्य पूर्ण है। समाज के कर्णधार किसी-किसी तरह तै नहीं कर पा रहे थे कि गणिका के प्रति उनका क्या मनोभाव हो। कामसूत्र और अर्थ शास्त्र के अनुसार राजा, धनिक, वणिक, नागरिक सभी अंकुठ भाव से गणिका का साथ करते हैं, शास्त्र इसका निर्देश देते हैं आनन्द अनुष्ठान और भोग विलास के रूप में, निर्देश देते हैं ताकि नागर लोग इस "गोष्ठी" उत्सव को देखकर इसका वर्णन करें, अनुकरण करें। पुराण में गणिका के लिए अलग से एक व्रत का विधान दिया गया है—अनंगव्रत (विष्णुपुराण अध्याय ७०) जिससे उसकी वृत्ति सफल हो। अतः समाज में गणिका के प्रति दो स्पष्ट मनोभाव प्राप्त होते हैं। पहला जिसके अनुसार गणिकावृत्ति अशुभवृत्ति है तथापि प्रयोजनीय है और दूसरे के अनुसार गणिका पूरी तरह अशुभ और परिहार्य है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मनुष्य तो जानता है कि अन्य दूसरी वृत्तियों की तरह इस वृत्ति का भी चलन हुआ समाज के एक अंश के पुरुषों की आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिए। कोई बच्ची जन्म से वेश्या नहीं होती, समाज ही अपनी आवश्यकता की पूर्त्ति के लिए उसे वेश्या में परिणत करता है। यद्यपि गणिकावृत्ति को अपनानेवालियों में से अधिकांश रूप और गुण में हीन होने के कारण उपार्जन में दीन होती थीं तथापि जिन कुछेक शिक्षिता नारियों के मोह में कुलपुत्र आकृष्ट होते थे, उनके सम्बन्ध में एक विद्वेष का भाव रहता है क्योंकि घर में स्त्री-पुत्र की अवहेलना करके एक और नारी को अर्थ और प्रेम देने में ग्लानि और अपराधबोध निहित रहता है। इसके लिए स्वयं अपने को वह दोष नहीं देता, देता है गणिका को जो नरक का द्वार होती है। इस सारी व्यवस्था में निहित अनेक मूलगत अन्यायों की ओर उसका ध्यान ही नहीं जाता तथापि सम्भवतः अपने अवचेतन में वह इसे जानता है इसीलिए उसकी चेतन सत्ता सारे अपराध का दायित्व गणिका के मत्थे मढ़ अपने दोष को धो डालना चाहती है। अपनी स्त्री से तृप्त न होने पर जो पुरुष दूसरी नारी के साथ की कामना करता है वह भी तो जानता है कि अपने पति से अतृप्त रहने वाली नारी के लिए समाज ने कोई विकल्प व्यवस्था नहीं रखी है। व्यवस्था होने पर भी सम्पत्ति पर अधिकार न होने के कारण वासना की पूर्त्ति के लिए अर्थ-संग्रह करना नारी के लिए सम्भव नहीं था। अतः यह असमान समाज व्यवस्था भी तो पुरुष की ग्लानि का एक कारण थी। तीसरे, और मुख्यतः, जो समाज व्यवस्था एक नारी के लिए स्वस्थ जीवन-यात्रा का सब रास्ता बन्द करके इस विकृत जीवन यापन के लिए उसे बाध्य करती है, जिस वृत्ति के कारण उसकी स्वस्थ अन्तर्वृत्तियों और सबसे ऊपर उसकी मनुष्यता का चरम अपमान होता है, वह समाज लाचारी में अपने सारे कलंक का बोझ गणिका की निष्प्रतीकार वृत्ति के ऊपर लादता रहा है। जरूरत न होती तो गणिका का जन्म ही न होता और

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जरूरत पड़ी है पुरुषों को—इतना ही नहीं, जरूरत उन अपेक्षाकृत धनी पुरुषों को पड़ी जो अपने उद्वृत्त धन का भोग करना चाहते थे। जरूरत पूरी करने की इस सारी व्यवस्था में एक ओर असहाय कुलनारी का अपमान है तो दूसरी ओर भी एक असहाय नारी—गणिका की मानवी सत्ता का घोर अपमान है। सारे प्राचीन साहित्य में इस अपमान का कोई उल्लेख नहीं है। वात्स्यायन ने स्पष्ट कहा है—धनवान की खोज में निकलने पर गणिका अच्छी तरह सज बजकर जाए "क्योंकि वह पण्य द्रव्य" है (कामसूत्र ६ : १ : ४)। एक सजीव व्यक्ति को द्रव्य में परिणत करना समाज के लिए ही कलंक की बात थी लेकिन इस बोध का कहीं चिह्न तक नहीं था। शिक्षा और अर्थ के असमान विभाजन के कारण ही एक व्यक्ति और उसका श्रम एक दूसरे व्यक्ति का उपभोग्य बन गया। इस असमानता के कारण एक ओर दास और क्रीतदास का जन्म हुआ तो दूसरी ओर गणिका का। अवश्य ही कुलवधू की स्थिति भी कोई ईर्ष्या करने लायक नहीं थी, वह भी अनेक सुयोग-सुविधा तथा मानवीय मर्यादाओं से अनेक रूपों में वंचित थी लेकिन उस वंचना के बदले में गणिका के इस अतिरिक्त कलंक और ग्लानि से वह मुक्त थी, उसका साथ ऐसा पाप नहीं था जिसके लिए प्रायश्चित्त करना पड़े, उसका अन्न ग्रहण किया जा सकता था तथा उसका स्पर्श भी (पर-पुरुषों को छोड़कर) वर्जित नहीं था।

ग्रीस और रोम में एरिस्टोफेनीज, मिराण्डार या टेरेन्स के नाटकों या संस्कृत के भाण आदि में गणिका का ऐसा लांछित चित्र नहीं मिलता लेकिन भाण समाज के निम्न वर्ग का साहित्य है और शायद इसीलिए जो वास्तविक है, समाज ने अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए व्यवस्था की सृष्टि कर रखी है और अपने स्वार्थ के लिए जिसे चालू कर रखा है, उसका स्वीकार उनके लिए सहज हुआ। संस्कृत साहित्य की मूल सम्भ्रांत धारा में वह द्वैध मानसिकता बराबर दिखलाई पड़ती है। गणिका के प्रति घृणा और तिरस्कार का भाव भी प्राप्त होता है तथापि

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

यह सदा बनी भी रही। दोनों आदि महाकाव्यों और पुराणों में तो है ही, कालिदास, भारवि, माघ, नैषध, कल्हण आदि की रचनाओं में भी यही देखने को मिलता है। जहाँ अवैध प्रणय के हजारों सरस विवरण अलंकार शास्त्र के हर पृष्ठ को सुशोभित किये हैं वहाँ गणिका के सम्बन्ध में ऐसा बनावटी नाक-भौं सिकोड़ना हास्यास्पद लगता है। जिस उच्चतर श्रेणी के स्वार्थ के लिए सम्भ्रांत साहित्य की रचना होती है, उसी के पास गणिकालय जाने का आर्थिक सामर्थ्य होता है और वही उसका प्रचुर उपयोग करता है, प्रमाण भरे पड़े हैं।

इस दोहरी मानसिकता का एक और प्रमाण प्राप्त होता है। यदि गणिका सचमुच पापिनी है और पाप के संस्पर्श से दूर रहना चाहिए इस नीति को हम मानें तो पाप-द्वारा अर्जित धन के दान को तो समाज को अस्वीकार करना ही चाहिए। लेकिन तथ्य यह है कि गणिका द्वारा अर्जित धन का भोग करने में समाज को कोई दुविधा नहीं होती। गणिका अर्द्धकाशी ने अनेक लोकोपकारी कामों के लिए अपनी विशाल सम्पत्ति दान में दे दी थी और बहुत बड़ी राशि भगवान बुद्ध के चरणों में अर्पित की थी। लेकिन बुद्ध या उपकृत जनता किसी ने इसे अस्वीकार नहीं किया। जैन ग्रन्थ बृहत्कल्पभा के अनुसार एक गणिका ने एक चित्रशाला की प्रतिष्ठा की थी, दूसरी गणिकाओं, गरीबों और जैन मठों को प्रचुर दान दिया था। धनी गणिकाओं ने सेतु, कूप, उद्यान, मंदिर, मठ, चैत्य कुंज, पुष्करिणी आदि दान करके देशवासियों का उपकार किया था। अनेक देवदासियों ने भी लोगों की भलाई के लिए प्रचुर काम किये थे। बौद्ध साहित्य में गणिका आम्रपाली ने बुद्ध और उनके भक्तों के लिए आम का बगीचा दान किया था। कहने का तात्पर्य यह कि समाज ने पूरी तरह इनका और इनके अर्थ का भोग किया तथापि यही माना कि इन्हें स्पर्श करने से पाप होता है, इनका अन्न ग्रहण करने पर प्रायश्चित्त करना चाहिए।

असम्मान, लांछना, अत्याचार और वंचना के बीच जीवनयापन

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

करने वाली इन नारियों को कभी भी पूरी तरह मनुष्य माना ही नहीं गया। तथापि जो पुरुष इतनी धार्मिक प्रवृत्ति वाला और इतना पुण्यात्मा है कि बराबर गणिका से दूर रहने का निर्देश देता है उसी पुरुष की निर्बंध कामना और वासना नारी को गणिका में रूपांतरित करती है। परदेश के साथ वाणिज्य होते थे और आने-जाने के लम्बे रास्तों के किनारे-किनारे विकसित हुए थे समृद्ध जनपद और नगर। अतिरिक्त धन लोगों के पास जमा होने लगा। युद्ध और वाणिज्य के दौरान अनेक बार पुरुष को लम्बे अरसे तक परिवार से दूर रहना पड़ता था। तब वह अपने बचे नगद रुपयोंसे जैसे खाने-पीने की चीजें खरीदता था वैसे भोग्या नारी भी खरीदता था। अतः आवागमन के पथ के दोनों ओर बसे समृद्ध नगरों और राजधानी में बने विलास के निकेतन गणिकालय। धनी लोग वहाँ आकर थोड़े समय के लिए गणिका साहचर्य लाभ कर अपना मन-रंजन करते थे—उन्हीं ने उसे नाम दिया मुहूर्तिका अर्थात् थोड़े समय की सहचरी। और इन प्रसिद्ध गणिका-पल्लियों से बहुत दूर, नगर और गाँव के बाहरी अंचल में रहती थीं अपेक्षाकृत रूप-यौवनहीन, शिक्षा-दीक्षा से वंचित कुलटा, स्वैरिणी एवं वारांगना। इनका आकर्षण कम था, उपार्जन भी कम था। सुरक्षा भी अनिश्चत होती थी। जरती गणिकाओं के लिए आर्थिक एवं शारीरिक सुरक्षा के जो कानून थे भी, वृद्धावस्था में भरण-पोषण के लिए जो वृत्ति की व्यवस्था थी भी, वह इन असहाय, दरिद्र, उपहास्य गणिकाओं का होकर कौन राष्ट्र से वसूल करके उन्हें दिलवाता। अतः हम सहज ही अनुमान कर सकते हैं कि इन प्रांतवासिनियों को कितने कठोर जीवन संग्राम का सामना करना पड़ता था। जिस देश में कुलकामिनियों का स्थान ही पुरुषों के चरण-तले था वहाँ रूप-यौवन और शिक्षा-दीक्षा से समृद्ध वेश्याओं को तो फिर भी घृणामिश्रित एक जटिल आकर्षण प्राप्त होता था लेकिन सम्बल-हीन कुरूपा या उम्रवाली वेश्याओं के भाग्य में तो समाज की

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पुंजीभूत घृणा और अवज्ञा ही जुटती थी। संख्या इनकी ही अधिक थी। जिस वृत्ति (पेशा) का आधार कुलपुत्रों या स्वाधीन पुरुषों की वासना ही हो और जो उनके निरन्तर साहचर्य के अभाव में समाप्त हो गयी होती, वह वृत्ति बनी रही और इस वृत्ति को कायम रखने वाले पुरुष समाज में अर्थ, शिक्षा और अधिकार की दृष्टि से प्रतिष्ठित रहे। इतना ही नहीं गणिका साहचर्य उनके गौरव को बढ़ाता ही था तथापि जिस गणिका का वे साहचर्य लाभ करते थे उसका भविष्य अनिश्चित ही रहता था। बीमार होने पर, शोक में, अकेली रह जाने पर या फिर बुढ़ापे में अक्षम हो जाने पर उसे किसी सहारे का भरोसा नहीं रहता था। इसके ऊपर से समाज में उनके लिए था अस्पृश्यता और अपरिसीम अपमान का भाव। समाज ने अपने स्वार्थ के लिए इस अत्यन्त अस्वस्थ और अपमानजनक वृत्ति को जीवित रखा लेकिन गणिकाओं के प्रति अपने कर्तव्य का पालन एकदम नहीं किया।

———

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्राचीन भारतीय नारी के आर्थिक अधिकार

वैदिक युग की नारियों के आर्थिक अधिकारों के सम्बन्ध में हमें बहुत कम जानकारी है। प्रस्तुत निबंध में दोनों महाकाव्यों, धर्मसूत्र, बौद्ध और जैन साहित्यों से आवश्यकतानुसार प्रमाण देते हुए उपर्युक्त विषय का विवेचन किया जा रहा है। समापन किया जायगा कुछ परवर्ती धर्मशास्त्रों के मतों के उल्लेख एवं विवेचन-विश्लेषण के साथ। अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से विषय को सात भागों में विभक्त किया गया है। यथा :

१. कुमारी कन्याओं के आर्थिक अधिकार
२. विवाह के समय स्त्रियों के आर्थिक अधिकार
३. विवाह के पश्चात् के अधिकार
४. पत्नियों के अधिकार
५. व्यभिचारिणी स्त्री के अधिकार
६. विधवाओं के अधिकार
७. वेश्याओं के अधिकार

वेद विशेषकर ऋग्वेद संहिता तत्कालीन युग में स्त्रियों की आर्थिक स्थिति के सम्बन्ध में मौन है। यद्यपि समय-समय पर कहीं-कहीं पुरुषों की आर्थिक स्थिति के बारे में कुछ आंकड़े प्राप्त होते हैं, उनके व्यवसाय और समृद्धि का भी उल्लेख प्राप्त होता है तथापि स्त्रियों से सम्बन्धित बहुत ही कम तथ्य उपलब्ध हैं। हमें ज्ञात है कि वैदिक युग में स्त्रियां ऊन धुनती थीं और शायद कातती भी थीं। पानी भरना और पशुओं की देखभाल का काम भी वे करती थीं तथापि हमें यह नहीं पता कि इन सेवाओं के लिये सामान्य भरण-पोषण के अतिरिक्त वे कुछ अर्जन भी करती थीं, या नहीं,। अवश्य ही स्त्रियां गृहस्थी के कामकाज की देखभाल करती थीं, रसोई घर और बच्चों का पूरा दायित्व उन पर होता था लेकिन अब की तरह तब भी इन कामों को आर्थिक तुला पर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नहीं तौला जाता था। फलस्वरूप इनके बदले में उन्हें कुछ पारिश्रमिक नहीं दिया जाता था। कुमारी कन्या की कोई अस्मिता नहीं थी, यह वह विवाह के बाद ही सीमित रूप में प्राप्त करती थी ऐसी ही परम्परा थी। ब्राह्मणों में बहुत स्पष्ट शब्दों में पुत्र को वरदान और कन्या को अभिशाप कहा गया है। अतः वत्सल माता-पिता के अतिरिक्त अन्य सभी के लिए लड़की एक कंटक थी जिसको विवाह होने तक किसी प्रकार सहन करना ही पड़ता था।

वैसे बाद में रचित एक संहिता में अत्रि ने कहा है कि अपने भाई की या पैतृक सम्पत्ति पर कुमारी कन्या का अधिकार होता है।[1] इस जायदाद को बेचने, गिरवी रखने या अपने पास रखने का उसे पूरा अधिकार था। अवश्य ही हमारे सामने कुलया कन्या, अमाजू और अमाजुता अर्थात् उम्रवाली अविवाहिता कन्याएं हैं। साहित्य में हमें इनके दर्शन नहीं होते सिवाय सदाचारी ब्रह्मचारिणी, सांकृत्यायनी या पंडित कौशिकी अर्थात् उपनिषद और ब्रह्मवादिनियों की आध्यात्मिक उत्तराधिकारिणियों के रूप में। इनके लिये जमीन जायदाद को बेचना या गिरवी रखना आदि का कोई महत्व नहीं था। सम्भवतः दूसरी उम्रवाली कुमारियाँ भी थीं जिन्हें न तो शिक्षा प्राप्त हुई थी और न ही जो साधना कर सकती थीं। इन्हें जीवन यापन के लिए—सम्भवतः अच्छी तरह जीवन और स्वतंत्र जीवन यापन के लिए—अर्थ की आवश्यकता पड़ती थी। संभव है विशेष परिस्थितियों में ये जमीन-जायदाद रखती हों लेकिन अत्रि भी दान देने के अधिकार का उल्लेख नहीं करते। इस सम्बन्ध में बाद में चर्चा की जायेगी।" "बेची या खरीदी गयी कन्या कभी भी पत्नी के रूप में ग्रहण नहीं की जानी चाहिए"।[2] उक्ति इस बात का प्रमाण है कि कन्याओं को बेचना—खरीदना होता था। कुछ धर्मग्रन्थों के अनुसार आपातकाल में ऐसा माता-पिता दोनों की सहमति से भी होता था। खरीदी गई पत्नी से उत्पन्न पुत्र को पिता का अन्तिम संस्कार सम्पन्न करने का अधिकार नहीं था। विवाह के

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

लिए कुमारी की सच्चरित्रता अर्थात उसके कौमार्य की सामाजिक स्वीकृति को कोई जब मर्जी आये तब धूमिल नहीं कर सकता था। विद्वेष के कारण ऐसा करने वाले को २२५ पण दंड भरना पड़ता था।[3] तात्पर्य यह कि उसकी सामाजिक प्रतिष्ठा का कुछ आर्थिक मूल्य था। अपनी कन्या के दोषों को वरपक्ष से छिपाकर जो उसका विवाह करता था उसे ९६ पण दंड भरना पड़ता था [4] एक ब्राह्मण यदि अपनी पत्नी की सखी से सम्बन्ध बनाता था (अनुमानतः कुमारी से) तो उसे साधारण प्रायश्चित्त करना पड़ता था तथा एक दुधारू गाय दान देने का विधान था।[5]

मनु के अनुसार ब्राह्मण भाइयों को अलग से पैतृक सम्पत्ति के अपने हिस्से का एक चौथाई भाग अविवाहिता बहन को देना चाहिए। ऐसा न करने से उनका अनिष्ट होगा।[6] गौतम के अनुसार ऐसी अविवाहिता लड़की जो जीवन में अच्छी तरह स्थापित नहीं हुई है अपनी मां के मृत पति की सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी होगी।[7] भाई लोग अविवाहिता कन्या का दहेज मां की मृत्यु के पहले दें या बाद में—इस सम्बन्ध में मतभेद है। लेकिन बौधायन और उनके बहुत पहले ईसा पूर्व आठवीं सदी के आसपास तैत्तिरीय संहिता में कहा गया है कि "स्त्रियो निरन्द्रिया अदायदिह"[8] अर्थात् आम तौर पर स्त्रियों (और विशेष परिस्थिति में बहनें) पारिवारिक सम्पत्ति में भागीदार होने की अधिकारिणी नहीं हैं।[9]

वागदत्त की मृत्यु पर अविवाहिता कन्या अपने पिता के पास ही रह जाती थी। यदि कुमारी कन्या का अपहरण हो जाय और अपहरणकर्ता उससे विवाह न करे तो अन्य किसी से वह कानूनन विवाह कर सकती थी।[10] गृहस्थ अपने अतिथियों को भोजन कराने से पहले नव-विवाहित पुत्रवधू, अविवाहिता कन्या, घर में रहने वाली बीमार महिला और गर्भवती स्त्री को भोजन करा सकता है।[11] कभी-कभी लड़कियों को कुछ शिक्षा दी जाती थी तथापि वेदों का अध्ययन

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उनके लिए वर्जित था। भारद्वाज सूत्र[12] में विवाह के लिए एक लड़की में अपेक्षित चार प्रेरकों का उल्लेख किया गया है यथा—धन, सौन्दर्य, बुद्धि और कुल। मानव गृह्यसूत्र ने बुद्धि के स्थान पर विद्या अर्थात् ज्ञान शब्द का प्रयोग किया है। बृहदारण्यक उपनिषद् में विदुषी कन्या को प्राप्त करने के लिए एक अनुष्ठान का उल्लेख प्राप्त होता है।[13] ये उल्लेख गार्गी, सुलभा और अन्यान्य विदुषी महिलाओं के प्रादुर्भावों के कारणों पर प्रकाश डालते हैं। यद्यपि व्याकरणाचार्यों ने महिला शिक्षिकाओं के लिए शब्द के स्त्रीलिंग रूप का विधान किया है।[14] तथापि यह जानने का हमारे पास कोई उपाय नहीं कि शिक्षण से वे कुछ अर्जन कर सकती थीं या नहीं। सम्भवतः नहीं पर हो सकता है अपवादस्वरूप करती भी रही हों। केवल बहुत बाद के एक तांत्रिक ग्रन्थ में कहा गया है कि एक गृहस्थ की कन्या को भी अपने पुत्र के समान ही शिक्षित करना चाहिए।[15]

आठ प्रकार के विवाहों में कुछ में कन्या का पिता वर-पक्ष को धन-राशि देता था। केवल असुर विवाह में वर के माता-पिता रुपये देते थे। असुर विवाह में वर कन्या के पिता एवं कन्या को अपनी इच्छा से रुपये देता था।[16] ब्राह्म, दैव तथा आर्ष प्रकारों में कन्या के पिता को अपनी सामर्थ्य के अनुसार वर पक्ष को रुपये, गहने, एक जोड़ी बैल और दूसरे उपहार देने पड़ते थे। ब्राह्म विवाह में श्रेष्ठ परिधान एवं अलंकारों से सुसज्जित कन्या दी जाती थी और आर्ष विवाह में एक बैल और गाय या दो बैल और दो गाय वर को देने के बाद कन्या दी जाती थी।[17] "असुर" नाम ही ऐसे विवाह के प्रति प्रचलित सामाजिक निरादर का परिचायक है। लेकिन विवाह में सम्पत्ति के हस्तांतरण का लाभ वधू या उसके माता पिता को मिलता था। स्त्री-धन अर्थात् वधू की सम्पत्ति तीन प्रकार की होती थी—"पण" अर्थात् वह राशि जिससे कन्या खरीदी जाती थी, "यातुक" अर्थात् विवाह के साथ कन्या को उसके सम्बन्धियों एवं मित्रों द्वारा दिया गया

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उपहार। याज्ञवल्क्य [18] के अनुसार—मित्र, मां, पति या भाइयों द्वारा दिया गया या विवाह के अवसर पर अग्नि-प्रदक्षिणा के समय प्राप्त राशि, या दूसरा विवाह करने के समय, पहली पत्नी को पति द्वारा प्राप्त राशि स्त्रीधन है। अपने सम्बन्धियों (माता या पिता के सम्बन्ध से हुए रिश्तेदार) द्वारा प्राप्त राशि और पारिश्रमिक या परिदान या विवाह के बाद पति द्वारा या अपने पिता के सम्बन्धियों द्वारा दी गयी भेंट भी स्त्रीधन है।[19] एक समय था जब समाज कन्या के पिता द्वारा वर से धन लिये जाने को बुरा मानता था। मनु के अनुसार[20] एक पण्डित पिता को कन्या-शुल्क नहीं लेना चाहिए क्योंकि लोभ के कारण शुल्क लेने से कन्या का पिता अपनी सन्तान को बेचनेवाला बन जाता है। कन्या या कन्या के पिता द्वारा एक जोड़ा गाय या बैल का लिया जाना भी कई शास्त्रकारों द्वारा दहेज माना गया है। कन्याशुल्क (का स्वीकार) चाहे वह बड़ा हो या नगण्य, लड़की बेचने के समान है। यहाँ ध्यान देने योग्य है कि वर को दहेज देने की प्रथा प्रारम्भ से ही दिखलाई पड़ती है तथापि उसे अस्वीकार करने के लिए वर के पिता से कभी किसी ने नहीं कहा और न ही इस आदान-प्रदान को विक्रय की संज्ञा दी गयी यद्यपि वास्तविकता में यह थी वह।

कन्याशुल्क के निषेध के फलस्वरूप वर-पण की ओर विशेष झुकाव होने लगा। यह कुषाण युग—जबकि मनु संहिता का प्रथम प्रारूप लिखा गया था—के दौरान प्रचलित होनेवाली हिन्दू धर्म व्यवस्था का अवश्यम्भावी परिणाम था। आधुनिक दहेज बृटिश शासन के दौरान दी जानेवाली ढिलाई की देन है।[21] दहेज का तात्पर्य ही है असमानता, संदिग्धता तथा भविष्य के बारे में अनिश्चितता।[22] वर को दिया जाने वाला दहेज अपने से ऊँची स्थिति वाले के साथ विवाह का परिचायक है और उन ऊँची जातियों में प्रचलित है जहाँ वंशानुक्रम परम्परा चलती है उस वर्ग में दहेज और निम्न वर्ग में कन्याशुल्क का चलन होता है और अपना स्तर उठाने के इच्छुक मध्यमवर्ग के परिवारों में दहेज तथा कन्याशुल्क दोनों का (चलन होता है)।[23]

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

चाहे दहेज हो या कन्याशुल्क दोनों ही समाज में समृद्धि के परिचायक हैं लेकिन कन्याशुल्क से अधिक दहेज। कन्याशुल्क को लेने के प्रति संकोच का भाव अनुमानतः कई सामाजिक परिवर्तनों का द्योतक है। समृद्धि—जिसके फलस्वरूप कन्या पक्ष वर पक्ष को दहेज दे पाता था—के साथ ही सम्भव है यह बड़े परिमाण पर होनेवाले युद्धों की समाप्ति का इंगित करता हो जिसके फलस्वरूप पुरुषों की संख्या कम हो गयी थी। अपने से ऊँची स्थिति वाले के साथ विवाह की इच्छा धन सम्पत्ति के माध्यम से समाज में और ऊपर उठने की लालसा पनपने लगी हो। यह भी सम्भव है कि देने-लेने की एक ऐसी धारणा भी बनी हो कि कन्या का पिता सोचने लगा हो कि कन्या के विवाह में वह जो देगा उसे पुत्र के विवाह में वसूल लेगा। और यह स्थिति निश्चित रूप से समाज में स्त्री के स्थान के पतन की सूचक है क्योंकि जब विवाह के द्वारा पुरुष एक कन्या को कुँवारेपन के कलंक से बचाता था तब कन्या का पिता इस भले काम के लिए उसे पैसे देता था। इसमें तड़क-भड़क और दिखावे की इच्छा भी रहती थी। ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों में मनु और साथ ही भगवद्गीता तथा वात्स्यायन का समाज पर विशेष प्रभाव था। उन्होंने आगामी दो सहस्राब्दियों के लिए परम्परा स्थिर कर दी। उन्होंने कई प्रकार के विवाहों का विधान कर दिया जिनमें प्रथम तीन में कन्या का पिता रुपये देता था, वर को उपहार देता था। केवल असुर विवाह में इसके विपरीत होता था। निंदार्थक नाम असुर विवाह संभवतः इस बात का इंगित है कि यह परम्परा द्राविड़ देश से आयी थी और अभी दो शताब्दियों पूर्व तक वहाँ यह बड़े रूप में प्रचलित थी।

लेकिन परवर्ती वैदिक युग से कन्याशुल्क का चलन चल पड़ा। उल्लेख प्राप्त है—इन्द्र, आंशिक रूप से उपयुक्त दामाद या बहनोई दोनों से देने में तुम अधिक हो।[24] कहने का तात्पर्य यह कि दोषपूर्ण वर धन से क्षतिपूर्ति करते थे। आपस्तंब धर्मसूत्र (२ : ६ : १३ : १०-११) में

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

दहेज और कन्याशुल्क को मिलाने का एक दृष्टांत प्राप्त होता है। उसके अनुसार —संतान का क्रय-विक्रय नहीं हो सकता। विवाह के समय सौ महान रथियों को भेंट स्वरूप देना चाहिए और फिर उन्हें देनेवाले को लौटा देना चाहिए। उनकी खरीद एवं प्रशंसात्मक उक्ति मात्र है, सम्बन्ध तो धर्म पर आधारित होता है। कौटिल्य के अनुसार—म्लेच्छों के लिए कन्या को बेचना गर्हित नहीं था।[25] याज्ञवल्क्य बड़े विवेकपूर्ण ढंग से कहते हैं कि पुत्र या कन्या का विक्रय नहीं किया जा सकता।[26] प्रस्तुत प्रसंग में मिताक्षर भाष्य का कहना है कि यद्यपि कोई अपनी पत्नी या पुत्री को बेच नहीं सकता तथापि वह उसका स्वामी है। हमें ज्ञात है कि पुत्र शुनः शेप को पिता ने बेच दिया था। पुत्रियों को बेचने के दृष्टांत भी उपलब्ध हैं।

दहेज कन्या के भरण-पोषण के शुल्क रूप में माना जाता है लेकिन इस सिद्धांत में कोई दम नहीं है क्योंकि वह घर के कामकाज में हाथ बंटाती है और भाग्य अच्छा रहा तो परिवार की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी भी पैदा करती है। इसे कन्यादान की दक्षिणा भी कहा जाता है। यह बात भ्रामक है क्योंकि दान के अनुपात में दक्षिणा बहुत बड़ी हो जाती है--दान में दी जाने वाली स्त्री की तो कोई सामाजिक अस्मिता नहीं। एस्थर बोसरूप के अनुसार बाहर के उत्पादक कामों से स्त्रियों के हट जाने पर दहेज की गणना क्षतिपूर्ति के रूप में की जाने लगी क्योंकि अब उनके स्थान पर दूसरे मजदूरों को पैसे देकर काम पर लगाना पड़ता था।[27] इसमें ऐतिहासिक सत्य हो सकता है। दहेज स्त्री-धन नहीं है क्योंकि यह वर के पिता को दिया जाता है। श्री एस. एन. श्रीवास्तव के अनुसार दक्षिण भारत कन्या-शुल्क का क्षेत्र था। यह प्रथा ब्राह्मणों में प्रचलित थी और वहीं से सामाजिक दृष्टि से ऊपर उठने की लालसा से यह उत्तर भारत में फैली।[28]

चूँकि दहेज कन्या के पिता द्वारा वर और उसके पिता को दिया जाता था अतः यह स्त्रीधन के अन्तर्गत नहीं आता था और इसके

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उपयोग या दुरुपयोग के बारे में स्त्री को कुछ भी कहने का अधिकार नहीं था। कन्याशुल्क देने के बाद होने वाली पत्नी की मृत्यु हो जाय तो वर दिया हुआ धन वापिस लौटा लेता है।[२९] अपरार्क द्वारा लिखित एक परवर्ती ग्रन्थ में स्पष्ट निर्देश है कि सौदायिक पर पत्नी का पूरा अधिकार होता था, वह अचल सम्पत्ति भी बेच या दे सकती थी। वह उसे पूरी तरह अपने अधिकार में रख सकती थी, उसके पति, बेटे या उसके (या पति के) भाई उस सम्पत्ति को न ले सकते थे न किसी को दे सकते थे, स्त्री का उस पर पूरा नियंत्रण होता था। लेकिन विवाह के समय पितृगृह में मित्रों एवं सम्बन्धियों द्वारा जो कुछ प्राप्त होता था वह निश्चित रूप से यौतुक होता था जो एक प्रकार का स्त्रीधन ही था। कन्या या वर के घर में विवाह के बाद वर-वधू को जो भेंट दी जाती थी वह सौदायिक थी और कम से कम उसके आधे भाग की अधिकारिणी वधू थी। मनु का कथन है—दूसरी पत्नी से विवाह करने पर पति पहली पत्नी को अपने स्थान से वंचित करने की क्षतिपूर्ति के रूप में समान राशि दे बशर्ते उसे कोई स्त्री-धन न दिया गया हो। लेकिन यदि स्त्रीधन दिया गया हो तो उसे आधी राशि दे।[३०]

लेकिन पुत्रहीना पुत्रिका द्वारा छोड़ी गयी पूरी सम्पत्ति का बिना दुविधा के पति हकदार होगा।[३१] विष्णु के अनुसार पुत्रहीन व्यक्ति की सम्पत्ति पहले, पत्नी, फिर बेटियों, फिर भाइयों और उनके लड़कों को दी जानी चाहिए।[३२]

इन ग्रंथों में स्थानीय तथा लौकिक कारणों से रीतिरिवाज और दृष्टिभंगी की भिन्नता दिखलाई पड़ती है। कुछ रचयिताओंने दूसरों की तुलना में अधिक मानवीय दृष्टि अपनायी है लेकिन आम तौर पर पत्नी के प्रति अनुदार रुख ही रहा है। दूसरे विवाह के समय पहली पत्नी को जो कुछ पति देता है वह पूरी तरह उसका होता है। नारद के अनुसार दूसरे विवाह के समय पति को पहली पत्नी को अपनी सम्पत्ति का एक तिहाई भाग देना चाहिए। और इसका वह जो चाहे

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कर सकती है—कम से कम सिद्धांतों में तो ऐसा विधान किया ही गया है। याज्ञवल्क्य[33] का कहना है कि दुर्भिक्ष, आवश्यक धार्मिक अनुष्ठान, बीमारी या अपने कारावास आदि जैसी आपात स्थितियों के अतिरिक्त पति को स्त्रीधन को हाथ लगाने का कोई अधिकार नहीं है। यद्यपि ये छोटी-छोटी स्थितियां अपकार करने वाली नहीं प्रतीत होती हैं लेकिन इनमें ऐसे प्रचुर बचाव के रास्ते हैं जिनके चलते पति इनकी अपने लिये सुविधाजनक व्याख्या कर सकता है। अन्यत्र याज्ञवल्क्य कहते हैं—पति के लिये दुर्भिक्ष, कर्तव्यपालन, बीमारी या कारावास के समय ली गयी पत्नी की सम्पत्ति लौटाना आवश्यक नहीं है।[34] एक और ग्रंथ में वे कहते हैं—ब्राह्म, दैव, आर्ष या प्राजापत्य पद्धतियों से विवाहिता संतान-हीना की सारी सम्पत्ति उसके पति को जाती है। बात साफ है कि समाज न इसकी कल्पना कर सकता था न सहन ही कर सकता था कि स्त्री के पास अपनी सम्पत्ति हो और वह उसकी व्यवस्था स्वयं करे। वशिष्ठ इसकी पर्याप्त स्पष्ट व्याख्या करते हैं स्त्री को पति के दूसरे विवाह पर या अपने परिवारवालों से जो प्राप्त होता है (सौदायिक या यौतुक) उसका शुल्क या विवाह के बाद उसे जो कुछ मिलता है, वह स्त्री की सम्पत्ति होती है, उसका स्त्रीधन होता है।[35] मनु की व्यवस्था है कि मां का दहेज पुत्री का हिस्सा है और पुत्र न होने पर पुत्री का पुत्र अर्थात् नाती नाना की सम्पत्ति का अधिकारी होगा।[36] साथ ही मनु यह भी कहते हैं[37] कि मित्र या रिश्तेदार जो अपनी बेवकूफी या कंजूसी के कारण अपने भरण-पोषण के लिये स्त्री की सम्पत्ति पर निर्भर करते हैं या वे दुष्ट लोग जो उसे सम्पत्ति का भोग नहीं करने देते, उसे कपड़े आदि से वंचित करते हैं वे नरक में जाते हैं। ध्यान देने योग्य है कि उसकी व्यक्तिगत सम्पत्ति केवल कपड़ों तक सीमित नहीं होती थी क्योंकि उक्त कथन के अनुसार ही वह इतनी होती थी कि कंजूस मित्र और रिश्तेदार उस पर निर्भर कर सकते थे।

मैत्रायणी संहिता, जो काफी प्राचीन ग्रन्थ है और जो ईसा पूर्व आठवीं सदी के आसपास रचित परवर्ती वैदिक ग्रन्थ माना जाता है,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

के अनुसार गाड़ी, कपड़े और सोने के गहनों आदि स्त्री-धन को बेचकर जीवनयापन करनेवाले रिश्तेदार पाप करते हैं और उन्हें परलोक में इससे बुरी परिस्थिति भोगनी पड़ती है।[38] अतः कपड़े आदि केवल बहाना था, श्वसुर पक्षवाले कभी-कभी सम्भवतः अधिकतर निर्लज्ज भाव से स्त्री द्वारा लायी गयी सम्पत्ति पर जीवनयापन करते थे। इस तरह स्त्रीधन द्वारा प्रमाणित तथ्य के बावजूद धनवान पिता की पुत्री ससुराल में व्यावहारिक रूप में (आर्थिक दृष्टि से) सुरक्षित नहीं होती थी। शिक्षा का वर्जन अर्थात् उपार्जन में सक्षम बनानेवाले काम के प्रशिक्षण के अभाव में, लोभी ससुरालवालों की बड़ी संख्या के बीच अकेली स्त्री के लिए जो कुछ उसका अपना था उसकी रक्षा करना ही कठिन था, आनन्द उठाने की बात तो दूर की थी। कहने का तात्पर्य यह कि ऐसा प्रायः हुआ करता था। अतः लेखक न तो कपोल-कल्पना कर रहे हैं और न ही भोले-भाले लोगों के दिमाग में कुछ अनुचित बैठा रहे हैं। हम नहीं जानते कि नरक जाने या इस लोक में शेष जीवन अधिक कष्ट में बीतने का भय कहाँ तक लोगों को बेचारी लड़की के स्त्रीधन पर निर्भर करने से विमुख रखता था। बिना अर्जन के प्राप्त सम्पत्ति का भी अधिकतर लोगों को आकर्षण लगता है। देवल का लेकिन कहना है कि कन्याशुल्क और लेन-देन से होनेवाला लाभ स्त्री का अपना धन होता है और उस पर पति का कोई नियन्त्रण नहीं होना चाहिए। जैमिनी भी कहते हैं कि स्त्री के पास कई तरह की सम्पत्ति होती है। लेकिन कात्यायन के अनुसार हस्तशिल्प द्वारा अर्जित या दूसरों द्वारा प्रेमपूर्वक दी गयी वस्तुओं का मालिक पति होता है। इसके अतिरिक्त जो बचता है वही स्त्री-धन होता है।[39] स्पष्ट है कि अधिक कुछ बचेगा ही नहीं क्योंकि इस सूक्त के अनुसार स्त्री द्वारा अर्जित और भेंट में प्राप्त वस्तुएं सब पति के अधिकार में होनी चाहिए। इनके अतिरिक्त और क्या स्त्रीधन बचेगा, सोचना भी कठिन है।

गृहस्थी की धनसम्पत्ति की व्यवस्था करने में पत्नी की क्या भूमिका होनी चाहिए ? आपस्तम्ब के अनुसार—पति-पत्नी पारिवारिक

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सम्पत्ति की व्यवस्था करते थे।[40] दार्शनिक ग्रन्थ पूर्वमीमांसा तक में कहा गया है कि "सम्पत्ति पर पति-पत्नी दोनों का संयुक्त अधिकार होता है।[41] संस्कृत शब्द दम्पत्ति के भारोपीय धातु से हम परिचित हैं। इसका मूल है डोमोस (domos) और पति अर्थात् गृहस्वामी और वह कौन होता था? दम्पत्ति। स्पष्ट रूप से आपस्तम्ब और पूर्वमीमांसा दोनों ही शब्द के मूल रूप को ग्रहण करते हैं।

व्यापार के लिए विदेश जाने के समय पति को पत्नी के भरण-पोषण की व्यवस्था अवश्य करके जाना चाहिए।[42] पति की अनुपस्थिति में पत्नी यदि मद्यपान करती है या सामूहिक नृत्यों में जाती है तो उस पर कृष्णलस का दण्ड लगाना चाहिए।[43] लेकिन पति या पुत्रों द्वारा लिये गए उधार को चुकाने के लिए पत्नी वाध्य नहीं है। ग्वाला, मदिरा-विक्रेता, अभिनेता, धोबी तथा शिकारियों की पत्नियों द्वारा लिया गया उधार उनके पतियों द्वारा परिसमाप्त कर दिया जाना चाहिए क्योंकि उनकी जीविका उन पर निर्भर करती है। अर्थात् वे अपनी पत्नियों के अर्जन से जीवनयापन करते हैं। जिस उधार को चुकाने का उसने (स्त्रीने) वचन दिया है और जिसके लिए उसने अपने पति के साथ सम्मिलित अनुबन्ध किया है और जो उसने स्वयं किया है उसे स्त्री को निश्चित रूप से चुकाना पड़ेगा। इसके अलावा और कुछ भी चुकाने को वह वाध्य नहीं है। "एक कर्जदार की पत्नी को लेनेवाले को उसके पति का कर्ज चुकाना होगा।[45] कर्ज चुकाने की बात का उठाना ही स्त्री की कर्ज चुकाने की आर्थिक क्षमता को मानकर चलता है। लेकिन ऐसी स्थिति में भुगतान गृहस्थी के सम्मिलित कोश से किया जाता था और जब वहाँ तक स्त्री की पहुँच नहीं होती थी तब शायद उसे अपने स्त्रीधन से ऐसा करना पड़ता था। इन सब के पीछे यही मनोवृत्ति काम करती लगती है कि स्त्री के पास सम्पत्ति नहीं होनी चाहिए अर्थात् वह सम्पत्ति रख ही नहीं सकती। मेधातिथि का कहना है कि स्त्री जो उपार्जन करती है वह पति का होता है।[46] आपस्तंब

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कहता है—कुछ पूर्ववर्ती लोगों की मान्यता थी कि गहने और अपने सपिण्डों से प्राप्त सम्पत्ति पर स्त्री का अधिकार होता है।[47] कहने का तात्पर्य यह है कि पितृगृह के साथ लाये गये गहनों पर भी स्त्री के अधिकार के प्रश्न को लेकर मतभेद था। बौधायन कहते हैं—माता के गहनों तथा और जो कुछ चलन चला आ रहा है उनकी उत्तराधिकारिणी स्त्री होती है।[48] मनु ने स्त्री-धन की ऊपरी सीमा तै कर दी है—अधिकतम २००० पण।[49] लेकिन इन शास्त्रकारों के अनुसार जमीन और मकान स्त्री-धन के अन्तर्गत नहीं आते संभवतः इसलिए क्योंकि इन्हें ससुराल नहीं ले जाया जा सकता। जैमिनी ने इस बात का समर्थन किया है कि कुछेक तरह की जायदाद पर स्त्रियों का अधिकार होता है और होना चाहिए। मनु के अनुसार स्त्री-धन के कुछ स्रोत होते हैं – विवाह के समय (प्राप्त धन), वधूयात्रा के समय (प्राप्त धन), माता-पिता एवं भाइयों द्वारा प्रेम भाव से दी गयी भेंट। कात्यायन स्त्री-धन में एक रोचक तत्व जोड़ते हैं—स्त्री द्वारा शिल्पकला से अर्जित धन और स्त्री को प्रेमपूर्वक दी गयी भेंट पर पति का अधिकार होता है, शेष सब कुछ स्त्री-धन होता है।[50] कितनी निर्मम बात है कि स्वअर्जित धन पर स्त्री का अधिकार नही होता। यौतुक का वास्तविक अर्थ है साथ बैठे हुए दम्पति (युवक) को जो दिया गया हो।[51] एक दुष्ट उड़ाऊ पत्नी को अपने स्त्री-धन पर अधिकार नहीं होता।[52] दुष्ट लोभी ससुरालवालों के लिये बहू के ऊड़ाऊपन को प्रमाणित करना और इस प्रकार जो कानूनन स्त्री का था उससे उसे वंचित करना कठिन नहीं होता। पति स्त्री को जो स्त्री धन देने का वचन देता है वह उसे पत्नी को देना पड़ता है।[53]

कन्याशुल्क का बोझ स्त्री को उठाना पड़ता था क्योंकि तब वह स्वयं और दूसरे लोग भी उसे खरीदी गयी वस्तु मानते थे। प्राचीन काल के ग्रंथों में मैत्रायणी संहिता है। उसके अनुसार पति द्वारा खरीदी गयी पत्नी का पर-पुरुष के साथ व्यभिचार करना बेईमानी है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

लेकिन हमें स्मरण रखना चाहिए कि दहेज प्रथा चलन होने पर पुरुष ने कभी अपने को खरीदी गयी वस्तु नहीं माना तथापि सच पूछा जाय तो पत्नी की तुलना में पति की खरीद कहीं अधिक बड़ी थी क्योंकि कन्याशुल्क दहेज की तुलना में नगण्य होता था ! दहेज तो कालांतर में सामाजिक प्रतिष्ठा का मानदण्ड बन गया, अनुचित और लज्जाजनक ढंग से रुपये ऐंठना तो था ही।

मनु का कथन है कि बलपूर्वक पत्नियों को नहीं रखा जा सकता, निम्नलिखित उपायों के द्वारा उन्हें नियंत्रण में रखा जा सकता है। उन्हें परिवार के धन के संचय एवं खर्च के काम में लगाना चाहिए अर्थात् पारिवारिक अर्थ व्यवस्था में लगाना चाहिए। अपने शरीर की, घर की, बिस्तर की, पहनने के कपड़ों की, घर के साज-सामान की सफाई के काम में लगाना चाहिए। घर में कैद और अपने पुरुष सम्बन्धियों की निगरानी के बावजूद (बुरी) स्त्रियां पूरी तरह सुरक्षित नहीं होतीं।[54] संतान की वैधता के प्रति निश्चित होने के लिए पत्नी को नियंत्रण में रखना आवश्यक था और उसका एक सहज उपाय था कि उसे घर के नाना प्रकार के कामों में लगा देना। इन कामों के एवज में पारिश्रमिक मिलेगा नहीं और इस प्रकार वह अपने को सदा परिवार पर एक बोझ ही मानती रहेगी।

पति की मृत्यु के बाद समाज स्त्री को एक आर्थिक जोखिम और बोझ मानने लगा। कृषि-प्रधान समाज में जहाँ संयुक्त परिवार की परम्परा थी, पारिवारिक कृषि योग्य जमीन का बंटवारा एक बड़ा खतरा था। पति की मृत्यु के बाद यदि पत्नी दुबारा विवाह करती तो उसका नया पति पारिवारिक खेत में पत्नी के हक की जमीन अवश्य मांगता। दूसरे भाइयों को ये दोनों ही स्थितियां असंगत होंगी। एक-दो को छोड़कर अन्य विधि-निर्माताओं ने व्यवस्था दे दी—विधवा को पति के शव के साथ जला दिया जाय। और यदि उसे जीवित रहने ही दिया जाय तो उन्होंने उसके लिए ऐसी व्यवस्था दी जो जीवित मृत्यु के समान थी, दैनन्दिन जीवन में उसके लिए ऐसे हजारों दंशों की

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

व्यवस्था दी जिससे वह हर समय अनुभव करती रहे कि उसे कोई आर्थिक आश्रय नहीं प्राप्त है।

याज्ञवल्क्य के अनुसार पति के न रहने पर पिता, माता, पुत्र, भाई, सास-ससुर की देखभाल करे अन्यथा वह निंदा का पात्र बन जायेगी।[55] अभिभावक की सूची में अंतिम दो को छोड़कर शेष सभी स्त्री के अपने परिवार के लोग हैं जिन्हें उसकी देखरेख करने और उसका आर्थिक बोझ उठाने का दायित्व सौंपा गया है। आपस्तम्ब, मनु और नारद सहमत हैं कि पुत्रहीन पति की विधवा उत्तराधिकार में कुछ नहीं प्राप्त कर सकती लेकिन गौतम के अनुसार अपने सपिंडों और सगोत्रों के साथ वह भी उत्तराधिकारिणी है।[56] अन्यत्र याज्ञवल्क्य ने कहा है कि पुत्रहीन पति की विधवा उसकी प्रथम उत्तराधिकारिणी है।[57] विष्णु और कात्यायन भी ऐसा ही मत व्यक्त करते हैं। यदि आठ या दस वर्षों तक पति लापता रहे तो पत्नी दूसरा विवाह कर सकती है।[58] यदि व्यक्ति अपने पीछे निजी सम्पत्ति और पुत्र छोड़ जाय तो पत्नी को को केवल भरण-पोषण का अधिकार होगा। मनु नियोग प्रथा—अर्थात् अन्य पुरुष से विधवा के पुत्र प्राप्त करने—की निन्दा करते हैं।[59] विधवाएँ और वे ही क्यों आम तौर पर स्त्री मात्र बच्चा गोद नहीं ले सकती थीं क्योंकि वे आवश्यक वैदिक मंत्रों का उच्चारण नहीं कर सकती थीं। इस प्रकार उनके पास कोई सहारा नहीं रह जाता था जिस पर वे आर्थिक रूप से निर्भर कर सकतीं।

नारद विधवाओं के लिये जिन सात स्थितियों की चर्चा करते हैं उनमें से एक है विदेशी द्वारा क्रय। पराशर द्वारा उसे प्रदान किये गये पुनर्विवाह के अधिकार के फलस्वरूप पुनर्भू बन जाती है और इस प्रकार अपने पति की सम्पत्ति पर अपना अधिकार छोड़ बैठती है। वह अपने बुजुर्गों द्वारा एक अपरिचित व्यक्ति को भी दी जा सकती है और इसमें उसको आपत्ति करने का अधिकार नहीं था। लेकिन फिर भी उसे पति की सम्पत्ति से अपना अधिकार छोड़ना पड़ता था। हमें

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

स्मरण रखना चाहिए कि दायभाग द्वारा नियंत्रित समाज में विधवाएँ पति की सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी होती थीं। मिताक्षर परम्परावाले समाज में ऐसा नहीं होता था और सन् १८१५ से १८१८ के बीच कुल २३६६ विधवाएँ बंगाल में जलायी गयीं जिसमें कलकत्ता की विधवाओं की कुल संख्या थी १८४५। ऋग्वेद के समय ही विधवा एक दयनीय प्राणी बन गयी थी अन्यथा विधवा न होने के लिए प्रार्थना न की जाती। लेकिन महाकाव्यों में या मनु द्वारा उनके लिए मृत्यु का विधान नहीं दिया गया है—कुन्ती, गांधारी और दशरथ की तीनों रानियां, बौद्ध एवं जैन साहित्य में विधवाएँ जीवित रहीं और ससम्मान रहीं। वास्तव में निम्नवर्ग में भी विधवाओं को जलाने के दृष्टांत प्रारम्भ में नहीं प्राप्त होते। इनका चलन हुआ हिन्दू धर्म-व्यवस्था की छूत लगने के बाद। साहित्य में तथाकथित निम्नस्तर को विधवाओं के कोई दृष्टांत नहीं मिलते।

बहु-विवाह और पुरुष संतान की माता को महत्व दिये जाने के कारण विधवाओं की आर्थिक समस्याएँ पर्याप्त उलझ गयीं। केवल कन्याओं की माता या संतानहीन विधवा को आर्थिक परेशानियां उठानी पड़ती थीं और आम तौर पर उन्हें अपने पिता या भाई पर निर्भर करना पड़ता था। ससुराल में उन्हें जबरदस्ती का बोझ समझा जाता था। फिर एकाधिक जाति की पत्नियों से विवाह करनेवाला पति अपने पीछे और उलझनें छोड़ जाता था। ऐसी स्थिति में विधवाओं के भविष्य को लेकर स्मृति के रचयिताओं में मतभेद प्राप्त होते हैं। कुछ विधवाओं के भरण-पोषण के पक्ष में थे जब कि दूसरे केवल रोटी-कपड़ की न्यूनतम व्यवस्था के। धर्मग्रन्थों के सिद्धान्त और साहित्य में वर्णित व्यावहारिक स्थिति का अन्तर हमें आश्चर्य में डाल देता है। गौतम[61] के अनुसार सन्तानहीन व्यक्ति की सम्पत्ति उसकी पत्नी को मिलनी चाहिए तथापि अभिज्ञान शाकुन्तल[62] में जब राजा दुष्यन्त के सामने एक ऐसा मामला आता है तो कहते हैं—शास्त्रों में ऐसा कहा गया है कि ऐसी परिस्थिति में सम्पत्ति राजकोष में जानी चाहिए।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अवश्य ही उनके सामने कोई दूसरा विधान था या फिर वहाँ का स्थानीय चलन ऐसा रहा हो।

प्राचीन भारत में विवाह-विच्छेद नहीं स्वीकृत था। यद्यपि ऐसे धर्मग्रन्थ हैं जिनमें कहा गया है कि आक्रामक स्त्री का भी परित्याग नहीं किया जा सकता तथापि यदि परस्पर घृणा हो तो पति-पत्नी अलग हो सकते हैं। "यदि पत्नी में हुए किसी अप्रिय परिवर्तन के कारण पति-पत्नी से अलग होना चाहे तो उसे पत्नी से लिया हुआ सब लौटाना होगा।" यदि ऐसे ही कारणों से एक पत्नी विच्छेद चाहे तो उसे (पति को) पत्नी से ली वस्तु लौटाने की आवश्यकता नहीं है। धार्मिक ढंग से सम्पन्न विवाहों में विच्छेद नहीं हो सकता।[63] स्पष्ट है कि धर्मग्रन्थ पति-पत्नी दोनों पक्षों के लिए ही परस्पर घृणा के कारण विच्छेद की बात को अनिच्छापूर्वक स्वीकार करते हैं लेकिन जहाँ पुरुष के अलग होने की इच्छा का सम्मान किया गया है वहाँ पत्नी को आर्थिक रूप से दण्डित किया गया है क्योंकि विच्छेद मांगने पर वह स्त्रीधन से वंचित कर दी जाती है।

समाज में प्राप्त होनेवाले धर्षण के प्रति कुछ नरम रुख ही दिखलाई पड़ता है। याज्ञवल्क्य[64] कहते हैं—दासी के साथ धर्षण करनेवाला व्यक्ति दस पण देगा। किसी धार्मिक साध्वी का धर्षण करने का दण्ड होगा २४ पण।[65] पहला प्रश्न मन में यह उठता है कि मालिक द्वारा धर्षित होने पर दासी उससे पैसे कैसे वसूल करेगी? कौन उस पर विश्वास करेगा; कौन उसका पक्ष लेगा? एक महिला साध्वी की बात अधिक विश्वसनीय होगी और इस बात की सम्भावना है कि यदि वह जोर दे ही तो उसे दण्ड राशि मिल जाये, लेकिन यह सारी स्थिति अस्वाभाविक लगती है।

धर्षण करनेवाले के निर्बाध घूमने के प्रचुर दृष्टान्त साहित्य में भरे पड़े हैं। फिर उच्च वर्ग के लोगों के लिए कानून और रीति-रिवाज इतने ढीले थे कि तथाकथित निम्नवर्ग की स्त्रियाँ उन्हें बिना मूल्य ही

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उपलब्ध थी। अतः उक्त व्यवस्था से विशेष रोकथाम नहीं होने वाली थी। समाज में स्त्री की दयनीय स्थिति उसे सहज ही पुरुष की वासना का शिकार बनाती थी और ऐसे पुरुष सामाजिक छूट और व्यवस्था देनेवालों के साथ षडयंत्र करके बिना दण्ड छूट जाते थे।

असती स्त्रियों के साथ भयंकर क्रूरता का व्यवहार किया जाता था। ऐसी स्थितियों में धर्मसूत्रों द्वारा प्रस्तावित दंड पर पीड़ा से सुख पाने वाले लेखकों की रचनाओं के अंश जैसे लगते हैं। दूसरे ग्रन्थों में कहा गया है—व्यभिचारिणी स्त्री को उसके समस्त अधिकारों से वंचित कर देना चाहिए, उसे गरोत्री में रहने को बाध्य करना चाहिए, केवल एक ग्रास (या अल्प भोजन) खाकर जीवनयापन करना चाहिए। उसकी सदा भर्त्सना की जानी चाहिए, उसे जमीन पर सोना चाहिए लेकिन पति के घर में ही रहना चाहिए। ताकि वह अपने पापों से मुक्त हो सके।[66] अब प्रश्न यह है कि अपने में सुधार कर लेने के बाद उसका क्या होता था? क्या तब उसे पेट भर भोजन और पति की शैया-शायिनी होने का अधिकार वापिस मिल जाता था? पति यदि आज्ञाकारिणी, कार्य कुशल और वीर पुत्रों को जन्म देने वाली स्त्री का परित्याग करे तो उसे पत्नी को अपनी सम्पत्ति का एक तिहाई भाग और भरण-पोषण का खर्च देना होगा।[67] कहने का तात्पर्य यह कि अपनी सम्पत्ति का एक तिहाई देकर दोष रहित पत्नी से भी छुटकारा पाया जा सकता है। इसके फलस्वरूप स्त्री का जीवन आर्थिक और सामाजिक दोनों दृष्टियों से असुरक्षित हो गया। स्त्री और पुरुष के लिये समाज ने न केवल अलग-अलग मानदण्ड स्थिर किये वरन् पति के विमुख होने पर पत्नी को उसके न्याय-संगत पूरे पावने से भी वंचित कर दिया। एक व्यभिचारिणी स्त्री को कमरे में बंद रखना चाहिए और उसे केवल दैनिक भोजन देना होगा। सच्चरित्रता से विमुख होने पर पत्नी को प्रायश्चित्त करना होगा। वह निगरानी में रखी जाये और उसे (केवल) भोजन दिया जाय।[68] व्यभिचारिणी स्त्री से

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

स्वामित्व का अधिकार (नौकरों आदि पर) छीन लिया जाना चाहिए, उसे पहनने के लिए गंदे कपड़े देना चाहिए, जीवित रहने के लिये न्यूनतम आवश्यक भोजन देना चाहिए। यदि वह किसी अन्य व्यक्ति से गर्भ धारण करती है तो उसे घर से बाहर कर देना चाहिए।[69] वशिष्ठ[70] के अनुसार शूद्र के साथ व्यभिचार करने पर तीनों उच्च वर्ग की स्त्रियों को उन्हें घर से निकाल देना चाहिए। यदि पत्नी पति या शिक्षक (गुरु) की हत्या करे या हत्या करने का प्रयत्न करे तो उसे निकाल देना चाहिए।[71] गौतम के अनुसार[72] यदि उच्च तीनों वर्ग की स्त्री नीची जाति के आदमी के साथ व्यभिचार करे तो उसे कुत्तों को खिला देना चाहिए।

इसके विपरीत आपस्तम्ब[73] और बौधायन[74] दोनों का कथन है कि किसी भयंकर पाप के कारण जाति-बहिष्कृत किये जाने पर भी पुत्र माँ की सेवा करे, भले ही वह उससे बात न करे। एक जाति बहिष्कृत पिता का परित्याग किया जा सकता था संभवतः इसलिए क्योंकि वह देखरेख स्वयं कर सकता था तथा पारिवारिक सम्पत्ति की व्यवस्था भी उसके हाथों में होती थी लेकिन पतिता हो हो जाने पर पुत्र माँ को कभी न छोड़े। एक ओर व्यभिचारिणी स्त्री के लिये कठोर दण्ड विधान है और दूसरी ओर सहज की व्यवस्था इन दोनों में कहीं गहरा विरोधाभास है।

साहित्य में सर्वथा भिन्न स्थिति प्राप्त होती है। व्यभिचारिणी पत्नियों को शाप दिया जाता है, उनका परित्याग किया जाता है और उनकी हत्या भी कर दी जाती है, यथा सीता ; अहिल्या और रेणुका। अनुक्रम में सबसे ऊपर स्थित गणिका और सबसे नीचे स्थित वेश्या के बीच जमीन-आसमान का अंतर था। तथापि ये सभी कामोवेश प्रताड़ित थीं, गणिकाओं को छोड़कर किसी को भी समाज में सम्मान नहीं प्राप्त था। सभी उपेक्षा, अवहेलना, और घृणा की दृष्टि से देखी जाती थीं। वृद्धावस्था में इनका कोई सहारा नहीं

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

रह जाता था और ये रोटी-कपड़े तक को मोहताज हो जाती थीं। गणिकाओं की आम स्थिति, अर्जन के लिए खुले क्षेत्र, धर्मस्थलों पर देव-दासियों के रूप में वेश्याओं के ही एक परिष्कृत रूप की स्थिति, विभिन्न धर्मग्रंथों द्वारा इस वर्ग के सम्बन्ध में दी गयी व्यवस्थाएं और इनके प्रति समाज की द्वैध मनोवृत्ति—अपने सुख मनोरंजनों के लिए इन्हें पोसना भी और इन्हें समाज के लिए कलंक भी मानना — आदि का विस्तार से वर्णन इसी ग्रंथ में 'प्राचीन भारत में गणिका' शीर्षक निबंध में दिया गया है अतः यहां उनकी पुनरावृत्ति न करके केवल इतना ही कहना चाहती हूं कि पुरुष ने अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए नारी को गणिका बनाया, कोई भी लड़की गणिका के रूप में जन्म नहीं लेती। ये नारियां अपने भरण-पोषण के लिए अपने अर्जन पर निर्भर करती थीं। जीवन यापन के लिये दूसरों का मनोरंजन करने के अतिरिक्त इनके सामने और कोई वृत्ति नहीं थी।

हम पुनः इस निबंध के प्रतिपाद्य विषय नारी के आर्थिक अधिकारों की चर्चा की ओर लौटें। हम देख चुके हैं कि आम तौर पर नारी के लिए अर्जन का कोई रास्ता खुला नहीं था। विवाह आदि के अवसर पर या उत्तराधिकार के रूप में उसे जो धन सम्पत्ति मिलती थी। वह भी छल-बल से उससे ले ली जाती थी। धर्मग्रंथ एक व्यवस्था देकर उसे कुछ देने की बात करते तो दूसरी व्यवस्था द्वारा उससे सब कुछ वापिस ले लेते। यह सही है कि कुछ नारियों के पास धन-सम्पत्ति होती थी। और वे उसका उपयोग दान-पुण्य के कामों में भी करती थीं। इनमें केवल रानियों या धनी वर्ग की महिलाएं ही नहीं अन्य स्त्रियां और गणिकाएं भी सम्मिलित थीं। जयसेन की शिष्या या जैन धर्म स्वीकार करने वाली सिंहमित्र की शिष्या, सठिसिंह की शिष्या, पुष्यमित्र की शिष्या कारवां के नेता की पत्नी धर्मसोमा या दूसरे साधुओं की शिष्या कोच्छा, आम्रपाली, अनाथ पिंडदास की लड़की आदि का उल्लेख प्राप्त होता है जिन्होंने अपनी आस्था के

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अनुसार जैन और बौद्ध भिक्षुओं और साधुओं को दान दिये, चैत्य—विहार अदि बनवाये, कुएं-तालाब आदि खुदवाये, सेतुओं का निर्माण किया, हजारों की संख्या में साधुओं का आतिथ्य किया। स्वाभाविक रूप से पूछा जा सकता है कि यदि स्त्रियों के पास पैसा होता ही नहीं था तो वे दान पुण्य कैसे करती थीं। कीमती भेंट कैसे देती थीं। इसका एक उत्तर यह है कि धनी गणिकाएं जिनकी अपनी घर-गृहस्थी होती थी उनके पास राजकीय कर देने के बाद भी काफी सम्पति बचती थी। नैतिक अपराध की भावना बहुत बार अच्छे पवित्र कामों में अपनी धन सम्पति का बड़ा भाग खर्च करने के लिए प्रेरित करती थी। दूसरे धर्मग्रंथों द्वारा बनाये गये नियमों का पालन समाज में सब लोग नहीं करते थे। कुछ स्त्रियों के पास अपना स्त्रीधन होता था और यदि वे राजघराने, सामन्तों या व्यापारियों आदि के परिवार से होती थीं तो इस स्त्रीधन का परिमाण प्रचुर होता था। बहुत बार इस धन से वे बदनामी या छिद्रान्वेषण से बचने के लिये लोगों का मुँह बंद करती थीं। इसलिए वे दान दे सकती थीं और उन्होंने दिया भी। तीसरे कई समानांतर व्यवस्थाएं समाज में प्रचलित होती थीं विशेषकर मातृसत्तात्मक व्यवस्था में। चौथे स्त्रियों, साध्वियों, पत्नियों, विधवाओं या गणिकाओं के नाम से दिया गया दान सदा उनके द्वारा दिया नहीं होता था। बहुत बार भक्त या शिष्य किसी पुण्यात्मा, शक्तिशाली या प्रसिद्ध स्त्रियों के नाम से यह दान दे दिया करते थे। कई बार उदार पतिलोग पत्नियों को सत्काम के लिये दान देने को प्रोत्साहित करते थे। वैसे आपस्तम्ब के अनुसार पति के घर से बाहर रहने पर पत्नी आम तौर किये जानेवाले सामान्य खर्च कर सकती है, उसे चोरी नहीं माना जायेगा।[75] इसका स्पष्ट अर्थ हुआ यदि वह कुछ विशेष खर्च कर दे तो वह पति के धन की चोरी मानी जायेगी। फिर भी समाज ने बहुत से ऐसे रास्ते खुले रखे थे जिनके माध्यम से आपवादिक परिस्थितियों में स्त्रियाँ अपने धन से दान दे सकती थीं, उसे खर्च कर सकती थीं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ईसा पूर्व चौथी तीसरी शताब्दी में स्पार्टा के बारे में उल्लेख प्राप्त होता है कि देशों में बड़ी संख्या में उत्तराधिकारियों के होने और दहेज में बड़ी राशि देने के कारण देश के करीब-करीब पांच हिस्से में से दो हिस्सों की स्वामिनी स्त्रियां हैं।[76] एथेन्स का नियम था कि यदि विवाह विच्छेद हो तो दहेज में प्राप्त राशि लौटानी पड़ती थी।[77] रोमन कानून के अनुसार पत्नियां खरीदी जा सकती थीं।[78] व्यभिचार के अतिरिक्त अन्य किसी कारण से पति पत्नी को छोड़े तो उसे अपनी सम्पत्ति का आधा भाग देगा। बाकी आधा भाग देवी सेरेस[79] को भेंट दिया जायगा। यद्यपि यह सम्पत्ति कानूनी तौर पर परिवार की होगी पर इसे खर्च करने की छूट देवी को होगी।[80] वोकान में कानून था कि जनगणना के अनुसार प्रथम श्रेणी के लोग अर्थात सबसे धनवान लोग स्त्री को उत्तराधिकारिणी नहीं बना सकते थे।[81] क्रीट में पिता की मृत्यु के पहले भी लड़की को उसका भाग मिल सकता था। पुत्रहीन पिता की सम्पत्ति पुत्री को मिलती थी।[82] उपर्युक्त तथ्यों से यह स्पष्ट है कि वोकोनियन समाज में सबसे धनी वर्ग के लिये बनाये गये कानूनों को छोड़कर ग्रीस और रोम में अलग-अलग स्थानों और अलग-अलग कानूनों के मातहत स्त्रियां सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी हो सकती थीं और होती थीं।

गार्टिन कानून के अनुसार एक विवाहिता दासी स्वयं सम्पत्ति की अधिकारिणी हो सकती थी क्योंकि तलाक के अनुसार वह अपने साथ चल (अनुमानतः उसकी व्यक्तिगत वस्तुएं) सम्पत्ति तथा कुछ पशु ले जा सकती थी।[83] तात्पर्य यह कि गार्टिन कानून के अनुसार एक गुलाम दासी भी सम्पत्ति की अधिकारिणी हो सकती थी। यद्यपि भारतवर्ष की तुलना में ग्रीस और रोम का उत्तराधिकार नियम अधिक उदार था तथापि पुरुष और स्त्री के लिए बनाये गए नियमों में अन्तर तो था ही। पुरुषों का सम्पत्ति पर अधिकार था, उन्हें खर्च करने की

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पूरी छूट थी जब कि स्त्रियों के अधिकार सीमित थे। स्त्री की सम्पत्ति पर पुरुष का नियंत्रण उस सामान्य व्यवस्था का भाग था जिसके चलते पुरुष स्त्री पर हर तरह का नियंत्रण रखता था। यह अधिकार उसे राज्य के धार्मिक गुरुओं की व्यवस्था से प्राप्त होता था। सन्तान के जन्म पर नियन्त्रण रखने और समकालीन अर्थव्यवस्था के लाभ के लिए इन साधनों के उपयोग की दृष्टि से यह आवश्यक था कि राज्य स्त्री के शरीर पर भी अपना नियंत्रण और स्वामित्व रखे।[84] हमें स्मरण रखना चाहिए कि घी को लकड़ी से पीटने की ब्राह्मण ग्रन्थ की व्यवस्था को आनुष्ठानिक औचित्य प्रदान किया गया—इस प्रकार पीटी गयी पत्नी अपने शरीर और अपनी सम्पत्ति पर से अधिकार खो बैठती है। शरीर और सम्पत्ति का साथ-साथ उल्लेख महत्वपूर्ण है, शरीर भी सम्पत्ति का ही एक भाग होता था।

हमें द्रौपदी के उस प्रश्न को स्मरण रखना चाहिए जो उसने भरी सभा में खुले आम ले आए जाने के समय दुःशासन से पूछा था। प्रश्न था "क्या मुझे दांव पर लगाने और हारने के पहले राजा युधिष्ठिर स्वयं को दांव पर लगाकर हार चुके थे?" प्रश्न बहुत संगत है। उसका इंगित स्पष्ट है कि यदि युधिष्ठिर पहले ही स्वयं को हार चुके थे तो उन्हें मुझे दांव पर लगाने का हक नहीं था। दूसरे शब्दों में वह मौन रूप से स्वीकार करती है कि यदि एक स्वतंत्र व्यक्ति के रूप में युधिष्ठिर ने उसे दांव पर लगाया था तो अब वह वास्तव में कौरवों के अधीन है अर्थात् स्त्री वास्तव में पति की सम्पत्ति है जिसे वह इच्छा पूर्वक दांव पर लगा सकता है। इसके बहुत पहले ऋग्वेद में जुआड़ी अपनी पत्नी को दांव पर लगाने पर दुःख प्रकट करता है। अतः स्त्री पति की सम्पत्ति थी। शर्मिष्ठा देवयानी के दहेज का एक अंश थी लेकिन देवयानी से विवाह करनेवाले राजा ययाति छिपे-छिपे शर्मिष्ठा का भोग करते थे और उससे उन्होंने अनु, पुरु और द्रह्यु नामक तीन पुत्र पैदा किए। कहने का तात्पर्य यह कि जिस प्रकार दहेज में मिली

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

निर्जीव वस्तुओं का पति सदुपयोग-दुरुपयोग कर सकते थे वैसे ही पत्नी के साथ आए सजीव सखियों-दास-दासियों आदि का भी।

माधवी की कथा इस बात का प्रमाण है कि स्त्री का उपयोग एक वस्तु के रूप में किया जा सकता था। अपने गुरु की गुरुदक्षिणा देने में असमर्थ गालव जब राजा ययाति के पास दान मांगने पहुँचते हैं तो राजा अपने कोष की दुरवस्था का वर्णन करते हैं। लेकिन विकल्प रूप में गालव के सामने एक अन्य प्रस्ताव रखते हैं—राजा की सुन्दरी युवती कन्या उधार ली जा सकती है और उसे एक के बाद एक साल भर के लिए किसी राजा को उधार दिया जा सकता है ताकि राजा उससे पुत्र प्राप्त कर सकें और कृतज्ञता स्वरूप गालव को कुछ अर्थ दें। गुरुदक्षिणा की राशि प्राप्त होने तक गालव उसे एक-एक साल तक चार राजाओं को उधार देते हैं। न ययाति, न गालव, न चारों राजाओं में से किसी को यह प्रथा घृण्य लगी या बुरी लगी। गुरु ने भी दक्षिणा ग्रहण कर ली। एक मात्र माधवी गालव के विवाह के प्रस्ताव को अस्वीकार करके इस स्थिति के प्रति गम्भीर घृणा व्यक्त करती है। उसका उपयोग एक चल सम्पत्ति की तरह किया जाता है जिसके प्रति उसकी अन्तरात्मा विद्रोह करती है। वह उसका प्रायश्चित्त करती है।

प्राचीन भारतीय नारी को जिस तरह अर्जन करने से वंचित रखा गया, उसे रुपये-पैसे रखने और खर्च करने, सम्पत्ति बेचने, दांव पर लगाने या गिरवी रखने और धन या अन्य किसी प्रकार की सम्पत्ति का दान करने से वंचित रखा गया उसके कुछ कारण स्पष्ट हैं। उत्तरी भारत के बड़े भूखण्ड पर विजय प्राप्त करने के बाद आर्यों को बड़ी संख्या में सस्ते गुलाम मिलने लगे। पहले स्त्रियाँ बाहर के काम में भी पुरुषों का हाथ बँटाती थीं और इस प्रकार वे उत्पादक व्यवस्था का एक स्वीकृत भाग थीं। उन्हें अपनी जीविका अर्जित करनेवाली या जीविका अर्जन करने वाले की सहायिका होने का थोड़ा सा मानवीय सम्मान प्राप्त था। लेकिन आर्यों का हुक्म बजाने के लिए बड़ी संख्या

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

में दासों की उपस्थिति के कारण स्त्रियों के बाहर के मेहनतवाले काम में भाग लेने की आवश्यकता न रह गयी। तब तक देश और विदेश में होनेवाले व्यापार तथा उद्वृत्त उत्पादन धीरे-धीरे वर्ग विभाजित समाज में कुछ थोड़े से लोगों के पास जमा होने लगा। ब्राह्मण ग्रंथों से शुरू करके साहित्य में हमें समाज के कुछ गिने-चुने उच्च वर्ग के परिवारों द्वारा अतिरिक्त भोग और प्रदर्शन के स्पष्ट प्रमाण प्राप्त हैं। अपनी वैध संतान को ही अपनी धन सम्पत्ति छोड़कर जाने की चिंता के कारण स्त्रियों को घर की चहारदीवारी में रखने के प्रति कड़ाई की जाने लगी। साथ ही पुरुषों द्वारा उनके ऊपर कड़ी नजर रखने का प्रारम्भ हुआ। इसके अतिरिक्त इस प्रकार घर के अन्दर रहनेके फलस्वरूप स्त्रियों के सौन्दर्य की कोमलता सुरक्षित रहने लगी जो सम्पत्ति के मालिक पुरुषों के बहुत अनुकूल थी। धीरे-धीरे यह बात साफ होने लगी कि औरतें जिनमें से अधिकांश बिना पढ़ी-लिखी होती थीं केवल घर के कामों में कुशल होती थीं, वे अपने पतियों के लिये आर्थिक बोझ थीं। इस व्यवस्था के चलते उन्हें सम्पत्ति बनाकर रखने में सुविधा रहती थी। ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी में वात्स्यायन दो भिन्न प्रसंगों में एक बार कुमारी कन्या के लिये और एक बार वेश्या के लिये कहते हैं कि उन्हें अच्छी तरह साज-शृंगार करके आकर्षक बनकर रहना चाहिए क्योंकि स्त्रियां क्रय-विक्रय की वस्तु होती हैं।

जब स्त्रियों को क्रय-विक्रय की एक वस्तु या अपनी सम्पत्ति अर्थात् जायदाद के रूप में देखा जाता था तब यह आशा करना व्यर्थ है कि जमीन-जायदाद या सम्पत्ति की व्यवस्था करने की छूट का सुख उन्हें प्राप्त होता रहा होगा। एक स्वतंत्र मानव, एक व्यक्तित्व के रूप में उनके साथ व्यवहार करने में समाज को डर लगता था।

स्त्रियों के द्वारा किये जाने वाले घर-गृहस्थी के कामों को कभी भी रुपये के संदर्भ में नहीं आंका गया अतः यद्यपि उनमें से अनेक घर के बहुत सारे काम करती थीं तथापि रोटी, कपड़ा, रहने की जगह और

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जीवन की दूसरी आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिये वे आर्थिक रूप से पुरुषों पर निर्भर थीं। उत्पादक कामों में लगे रहना भी पर्याप्त नहीं था, तब भी भार स्वरूप वे होती थीं और पिता भाई, पति या पुत्र के अधीन मानी जाती थीं। उनकी आर्थिक अस्मिता तभी मानी जाती थी जब उनके पास नगद या ऐसी सम्पत्ति हो जिसका वे जो चाहे कर सकें। कानूनी स्वीकृति और अपनी सम्पत्ति को खर्च करने, बचाकर रखने या उसका जो मर्जी आये सो करने की स्वाधीनता ही स्त्री को एक समर्थ महिला के रूप में प्रतिष्ठित करती है। स्त्रीधन या सौदायिक या यौतुक आदि कानूनन स्त्री का होता था तथापि समाज और बहुत दूर तक स्वयं स्त्री की धारणा के कारण कि वह भार्या या भरणीया है अर्थात् भरण-पोषण कोई और करेगा और इस कारण भृत्य या नौकर की तरह वह भी पति और सास-ससुर पर अपने जीवन निर्वाह के लिये निर्भर है, ससुरालवालों को उसके स्त्री-धन की लूट पाट करने में सुविधा रही। केवल रानी आदि जैसी धनी महिलाएँ जिनकी सम्पत्ति राजनीतिक शक्ति के कारण वृद्धि पाती थी, अपनी सम्पत्ति पर सही नियंत्रण रख पाती थीं। या फिर गणिकाएँ थीं जो स्वयं धन अर्जित करती थीं और उनमें से कुछ तो इतनी धनी होती थीं कि राजा को भी उनकी सामर्थ्य को मानना पड़ता था। कभी कभी वे अपने धन के कारण समाज में शक्तिशाली भी हो उठती थीं। इनके अतिरिक्त धनी दाताओं का हर जगह सम्मान होता है और लोभी दान ग्रहण करनेवालों को पैसे में छूत नहीं लगती। पाप से अर्जित धन के कलुष को पवित्र काम धो देते हैं—संसार में हर कहीं हर युग में यही होता आया है।

लेकिन इन अपवादों से परे दूसरी अविवाहिता कन्याएँ, गृहिणियां या विधवाएं परिवार के पुरुषों के अंगूठे तले ही होती थीं क्योंकि उनके द्वारा किये जानेवाले घरेलू कामों का कोई आर्थिक मूल्य नहीं था। वे अनुत्पादक माने जाते थे। नारी की एक मात्र उपयोगिता प्रजनन

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

की दृष्टि से मानी जाती थी। लेकिन वहाँ भी वे (क्षेत्र) खेत मात्र थीं फसल का मालिक बीज बोनेवाला होता था। पिछली अनेक शताब्दियों से स्त्री को शिक्षा से वंचित करके और घर के ऐसे नगण्य काम सौंपकर जिसमें बुद्धि लगाने की आवश्यकता ही नहीं थी, समाज ने धीरे-धीरे लेकिन निश्चित रूप से स्त्री के पैरों के नीचे से आत्म-विश्वास का आधार सरका लिया। फलस्वरूप उनकी सामान्य बुद्धि कुंठित होती गयी और पुरुषों ने फतवा दे दिया कि स्त्रियों को न तो धन देने की आवश्यकता है और न ही उन पर विश्वास किया जा सकता है।

टिप्पणियाँ और संदर्भ

1. सूक्त ३८०
2. वही
3. मनु ८
4. मनु ८ : २२४
5. सम्वर्त १६२
6. गौतम ९ : ११८
7. गौतम २९ : ११
8. ५ : ५ : ८ : २
9. निरिन्द्रिय अदायादश्च स्त्री स्त्रियो इति मतः अदायाद भगिन्यति।
10. वशिष्ठ धर्मसूत्र १५
11. विष्णु धर्मसूत्र ६७ : ३०
12. १ : ११
13. ६ : ४ : १७
14. आचार्य और उपाध्याय
15. महानिर्वाण तंत्र ८ : ३५ : ४७
16. मनु ३ : ३१७
17. मनुसंहिता ९ : २९
18. वही २
19. याज्ञवल्क्य २ : १४५, १४७
20. ३ : ५१
21. एम० एन० श्रीनिवास रचित दी कोहेसिव रोल आफ सेन्सक्रिटा-इजेशन पृ० १०२
22. वही पृ० १६
23. वही पृ० १२१, फुटनोट ५
24. ऋग्वेद १ : १०९ : २
25 ३ : ७३
26. २ : १७५

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

27. वीमेन्स रोल इन इकनामिक डेवलपमेंट—जार्ज एलेन एण्ड उनविन, १९७०
28. दी कोहेसिव रोल आफ सॅस्क्रिटा-इजेशन आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, १९८९, पृ० १००
29. याज्ञवल्क्य धर्मसूत्र २ : १४६
30. ३ : ५२
31. व्यास धर्मसूत्र ४ : ३०
32. विष्णु धर्मसूत्र ८ : ४, ५
33. ५ : ९५
34. २ : १५१
35. १५ : ११ : १८
36. ९ : १३१
37. ३ : ५२
38. मनुसंहिता १ : १० ११
39. ५ : ९०४
40. २ : ६ : १३ : १७-१८
41. ६ : १ : १७-२१
42. मनुसंहिता ९ : ७४
43. वही
44. उधार चुकाया
45. संहिता २ : ४९-५२
46. मनु ८ : ४१६
47. धर्मसूत्र २ : ६ : १४ : ९
48. धर्मसूत्र २ : २ ४९
49. ८ : ४१६ ; कात्यायन धर्मसूत्र ९०२ भी
50. ९०४
51. कात्यायन धर्मसूत्र ९०५, ९०७, ९११
52. वही ९१४
53. वही ९१६
54. मनुसंहिता ९ : १०, ११
55. १ : ८६
56. १८ : १९
57. २ : १३५
58. नारद धमसूत्र "स्त्री पुरुषो' खंड. सूक्त ९८-१०१
59. ९ : ६४-६८
60. . : ४५
61. धर्मसूत्र २९ : ९
62. अंक ५
63. कौटिल्य : अर्थशास्त्र: धर्मस्थीय. ३ : १६
64. २ : २९४
65. वही २९६
66. याज्ञवल्क्य धर्मसूत्र १ : ७०
67. वही १ : ७१
68. गौतम धर्मसूत्र २३. अ तम सूत्र
69. याज्ञवल्क्य धर्मसूत्र १ : ७० : ७२
70. धर्मसूत्र २१ : १२
71. वही १०
72. २३ : २४
73. धर्मसूत्र १ : १० :, २८, २९
74. धर्मसूत्र २ : २ : ४८
75. २ : ६ : २०

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

76. सिविलिजेशन ऑफ दी एवशंट मेडिटेरेनियन : ग्रीस एण्ड रोम खण्ड २ पृष्ठ ५९४
77. वही ५९६
78. पृष्ठ ६१३
79. स्त्रियों और गुलामों की व्यक्तिगत सम्पत्ति
80. पृष्ठ ६१४
81. पृष्ठ ६२०
82. पृष्ठ ५९२
83. साए बी० पोमेराय—गॉडेस, हवोर्स, वाइव्स एण्ड स्लेव्स-न्यूयार्क, १९७५, पृष्ठ ४१
84. वयल एच० सादवी—दी हिडेन फेस ऑफ ईव-जेड प्रेस, १९८० पृष्ठ ६१
85. २ : १ : १३ ; ४ : १ : १

———

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

खण्ड : २

साहित्य

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

महाकाव्य महाभारत

विश्व के महाकाव्यों में महाभारत की श्रेष्ठता का प्रतिपादन इस आलोचना का मुख्य लक्ष्य है। आलोचना के मुख्य अंश में इस श्रेष्ठता के मानदण्ड के निर्णय की चेष्टा है; किन्तु उससे पूर्व मूलतः महाभारत के रचना-प्रसंग में कई प्रारम्भिक बातें हैं—पिछले चालीस वर्षों से पंडितों ने संकेत दिया है कि महाभारत की रचना में कम से कम तीन स्तर हैं—इनमें प्रथम स्तर है मूल क्षत्रिय-कथा। उसके बाद उसमें अनेक अति प्राचीन नीति कथाएँ जुड़ीं—दया, क्षमा, अहिंसा, आश्रित-वात्सल्य, सत्यनिष्ठा, आत्मसंयम इत्यादि चिरन्तन मानवीय गुणों का प्रतिपादन करती ऐसी कुछ कहानियों का मूल क्षत्रिय-कथा में सन्निवेश हुआ। यह कहना अतिशयोक्ति होगी कि कौरव-पाण्डव की मूल युद्ध-कथा के काफी हद तक यश एवं लोकप्रियता प्राप्त करने के पश्चात् मूल कथा को जन-शिक्षा के वाहन के रूप में व्यवहार करने के उद्देश्य से ही इन कहानियों का संयोजन हुआ। ये कहानियाँ अनेक शताब्दियों से प्राचीन भारतवर्ष की यत्र-तत्र प्रचलित गाथाओं एवं आख्यानों के रूप में लोगों के मुँह से सुनी-सुनाई जाती रहीं। जिसके कारण ये जैन, बौद्ध एवं ब्राह्मण साहित्य में सामान्य हेर-फेर के साथ दिखाई पड़ती हैं।

इतिहासवेत्ताओं का कहना है कि महाभारत का रचना काल ई० पू० चतुर्थ शताब्दी से ईसा की चतुर्थ शताब्दी के बीच है एवं कुरुक्षेत्र का युद्ध-काल (यदि सचमुच यह युद्ध कभी हुआ हो) स्थूलतः ई० पू० नवम शताब्दी है। आख्यान एवं गाथा के माध्यम से जब कहानी छोटे-छोटे खण्डों में साहित्यिक रूप ग्रहण कर रही थी तब बौद्ध एवं जैन धर्म, औपनिषदिक चिन्तनधारा तथा अनेक संन्यासी सम्प्रदायों के अभ्युत्थान और विदेशी आक्रमण से भारतवर्ष का अन्तर्जगत विचारधाराओं के

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

टकराव से बुरी तरह आन्दोलित हो रहा था। इसी अवधि में किसी समय मूल युद्ध—कहानी को महाकाव्य का रूप मिला और नैतिक कहानियों के संयोजन से एक स्वस्थ सुगठित आकार प्रकार प्राप्त हुआ ; क्योंकि नैतिक कहानियाँ तो किसी एक श्रेणी अथवा सम्प्रदाय की नहीं बल्कि चिरन्तन एवं मानवीय हैं ; परिणामतः उनके द्वारा क्षत्रिय-कहानी का स्वतंत्र चरित्र नष्ट नहीं हुआ। लगता है, ई० पू० प्रथम शताब्दी के पूर्व ही इन दोनों के मेल से इसने एक पूर्णांग महाकाव्य का रूप ले लिया। ईसा की प्रथम शताब्दी से चतुर्थ शताब्दी के बीच सम्पूर्ण भिन्नगोत्रीय एक विपुलायतन संयोजन शुरू और शेष होता है, जिसे ब्राह्मण्य संयोजन कहा जाता है। आयतन की दृष्टि से युद्ध-कहानी और नैतिक कहानी दोनों मिलकर सम्पूर्ण महाभारत के एक तृतीयांश से भी कम है ; किन्तु ब्राह्मण्य संयोजन दो तृतीयांश से भी अधिक है। इस अन्तिम अंश में हैं—कुछ-कुछ जनश्रुतियों द्वारा प्रचलित कई अमर कहानियाँ जैसे—रुरु-प्रमद्वरा, नल-दमयन्ती, सावित्री-सत्यवान की कहानी, रामोपाख्यान, शकुन्तला-दुष्यन्त की कथा इत्यादि। ये सभी रसोत्तीर्ण एवं साहित्यिक गौरव से समृद्ध हैं ; किन्तु मात्रात्मकता की दृष्टि से इस प्रकार के उपाख्यानों में समग्र ब्राह्मण्य संयोजन का बहुत बड़ा अंश नहीं है। बाकी अधिकांश कहानियाँ सम्प्रदायगत देव महिमा तीर्थमाहात्म्य, आचार, अनुष्ठान, पतिव्रता धर्म, वर्णाश्रम धर्म, कुछ दर्शन, दैव, कर्म और जन्मान्तरवाद एवं सर्वोपरि ब्राह्मणों की महिमा का वर्णन, अर्थात् ब्राह्मण को रुष्ट करने से कितना भयावह परिणाम होता है एवं तुष्ट करने से इहलोक तथा परलोक में कैसा सुख स्वाच्छन्द्य प्राप्त होता है—उसी का विवरण है। साहित्यिक मूल्य की दृष्टि से इसे अभिपौराणिक कहा जा सकता है अर्थात् जिस प्रकार की कथा परवर्ती युग में पुराण नामक स्वतंत्र साहित्य का रूप धारण कर लेगी—इसमें उसी का संकेत है।

पूना के संशोधित संस्करण के अनुसार महाभारत में पचासी हजार

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

से भी अधिक श्लोक हैं। किसी-किसी आंचलिक संस्करण में उससे अत्यधिक श्लोक थे। इसी कारण महाभारत का एक नाम शतसाहस्री अथवा लक्षश्लोकी है (२१४ गुप्त सन् अर्थात् ५३३ ई० में बघेलखण्ड में राजा सर्वनाथ के खोह शिलालेख में महाभारत का शतसाहस्री नाम से उल्लेख किया गया है। फ्लीट का कॉर्पस् ऑव इन्सक्रिप्शन, तृतीय खण्ड १३७ पृष्ठ) महाभारत की रचना तीन बार में सम्पूर्ण होती है। जिसकी चर्चा महाभारत में ही है : 'चतुर्विंशति साहस्रीं चक्रे भारत-संहिताम्। उपाख्यानैर्विना तावद् भारतं प्रोच्यते बुधैः' ॥ (१। १। ६१) क्षत्रिय-कहानी के आदि संस्करण में चौबीस हजार श्लोक थे। (ध्यातव्य है कि रामायण में भी चौबीस हजार श्लोक थे।) अन्यत्र उल्लेख है—'मन्वादि भारतं केचिदास्तीकादि तथा परे। तथा परिचरादन्ये विप्राः सम्यगधीयते' ॥ (१। १। ५०) स्पष्ट है कि यहाँ तीन आरम्भ की तीन बार चर्चा है यानी मनु की कहानी द्वारा वर्तमान ग्रन्थ के प्रथम अध्याय से प्रथम आरम्भ, आस्तीक की कहानी द्वारा आदि पर्व में त्रयोदश अध्याय से द्वितीय आरम्भ, एवं उपरिचर से शुरू छप्पनवें अध्याय से तृतीय आरम्भ का संकेत मिलता है। अध्यापक सुकठम्कर कहते हैं कि अन्तिम बार उसमें जो जुड़ा, उसे ब्राह्मण्य संयोजन कहते हैं जिसके रचयिता भृगुवंशीय ब्राह्मण थे (ह्वि० एस० सुकठम्करः क्रिटिकल् स्टडीज इन द महाभारत। पूना १९४४)।

प्रथम क्षत्रिय-कहानी मूल एवं अकृत्रिम अथवा विशुद्ध वीर-कथा है, उसका नाम 'जय' था जो कुरुक्षेत्र-युद्ध का काव्यमय इतिहास था। अथवा रचना के पश्चात् जब इतिहास काव्यात्मक गुणवत्ता के साथ भास्वर हो उठा तब लोगों ने उसका नाम 'जय' दिया—'जयो नामेतिहासोऽयं श्रोतव्यो विजिगीषुणा, (१। ५६। १९) अर्थात् 'जो जय की कामना करते हैं उन्हें यह जय नामक इतिहास सुनना चाहिए।' उसके कुछ पश्चात् ही कहा गया कि 'यथा समुद्रो भगवान यथा च हिमवान् गिरिः। ख्यातावुभौ रत्ननिधी तथा भारतमुच्यते' ॥ (१। ५६। २७)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अर्थात् 'जिस प्रकार भगवान समुद्र एवं हिमालय रत्नों की खान हैं उसी प्रकार भारत रत्ननिधि है।' लगता है, क्षत्रिय-कहानी और नीति सम्बन्धी कहानी के संयोग से महाकाव्य को जो रूप मिला उसे ही भारत, नाम दिया गया। बाकी सर्वत्र ही इसका नाम महाभारत है : त्रिभिर्वर्षैः सदोत्थायी कृष्णद्वैपायनो मुनिः। महाभारतमाख्यानं कृतवानिदमुत्तमम्॥ (१।५६।३२) अर्थात् 'तीन वर्ष के अथक परिश्रम द्वारा कृष्णद्वैपायन मुनि ने इस उत्तम महाभारत की रचना की'।

नाना प्रकार से ही महाभारत के तीन रचना क्रमों की बात उभरती है और उन्हें मिलाकर देखने से लगता है कि व्यास ने चौबीस हजार श्लोकों में जय नामक युद्ध-कहानी की रचना करके अपने चार शिष्यों को सुनाया तथा प्रधान शिष्य शुक वैशम्पायन को विशेष रूप 'से शिक्षा दी [शुक विशम्पा के पुत्र] नाम क्या अच्छी तरह कंठस्थ करने के कारण ही पड़ा] तत्पश्चात् जनमेजय के सर्पयज्ञ में ऋषियों एवं ब्राह्मणों के अनुरोध पर वैशम्पायन उस कहानी की व्याख्या करते हैं। संभवतः, इसी समय महाकाव्य में ऋषि कहानियों अर्थात् चिरन्तन मानवीय गुणों एवं नीतियों को प्रतिष्ठापित करने के उद्देश्य से रचित कहानियों का संयोजन हुआ। युद्ध उस समय अतीत की स्मृति था, किन्तु उस लोकप्रिय युद्ध-कहानी के साथ मानवीय मूल्यबोध की कहानियों को युक्त करके समग्र काव्य को जन-शिक्षा का वाहन बना दिया गया—अब की बार उसका नाम 'भारत' अथवा भरतवंश का इतिहास रखा गया। यह भारत काव्य रसोत्तीर्ण एवं एक सुसंहत, ठोस कहानी है जो कई सदियों से लोगों के मुँह से सुनी-सुनाई जाकर प्रसार पाने लगी। गुप्त काल के उदय की दो एक शताब्दी के बीच भृगुवंशी उग्र ब्राह्मणों द्वारा इसके अन्तिम अर्थात् वर्तमान रूप को गढ़ा गया है। सम्प्रदाय गत देवों एवं ब्राह्मण्य धर्म के कठोर अनुशासन से दो तृतीयांश से भी अधिक अपेक्षा कृत निकृष्ट रचना ब्राह्मण्य संयोजन का परिणाम है इस अंश में उग्र ब्राह्मण्यता के नीरस अंश की मात्रा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इतनी अधिक है कि पाश्चात्य प्राच्यविदों में अनेक पंडितों ने ही उपेक्षा के स्वरों में महाभारत को 'शिथिल कलेवर का अपाठ्य ग्रन्थ' की संज्ञा दी है; किन्तु पहले ही कहा जा चुका है कि इस प्रक्षेप के भी एक भाग में कई ऐसी अमर कहानियाँ हैं जो कला-सौष्ठव की दृष्टि से जन-मानस में दीर्घ काल से अपनी जड़ जमाए हुई थीं, जिन्हें अब गाथा और उपाख्यान के पार्थक्य से मुक्त करके मूल कहानी के साथ गूँथ दिया गया। यह संयोजन ईसा की चौथी-पाँचवीं शताब्दी में ही स्थूल रूप से समाप्त हो गया था, जबकि आंचलिक प्रक्षेप संभवतः और भी कुछ समय तक चलता रहा। इस अन्तिम काव्य रूप के व्याख्याता सौति उग्रश्रवा लोमहर्षणि हैं (अर्थात् सारथि वंशीय लोमहर्षण के पुत्र उग्रश्रवा) जो जनमेजय के सर्पयज्ञ में वैशम्पायन द्वारा 'भारत' काव्य के पाठ के समय एक श्रोता के रूप में उपस्थित थे। शौनक के द्वादशवर्ष व्यापी सोमयाग सत्र में समवेत जनता के अनुरोध पर इन्होंने जब यह विशाल आयतन वाला काव्य सुनाया तब उस समय इसका नाम महाभारत था। (स्थूल रूप से आदि पर्व, सभा पर्व, वन पर्व और विराट पर्व का सामान्य अंश तथा उद्योग पर्व से स्त्री पर्व तक प्रायः पूर्णतया 'जय' अर्थात् आदि क्षत्रिय महाकाव्य का रूप है) 'भरत' अंश में इन पर्वों के मध्य और शायद शान्ति पर्व के कुछ अंशों की नीति कथाएँ अनुप्रविष्ट हुईं। आदि पर्व से विराट पर्व का शेष या अन्तिम अंश और शान्ति पर्व से स्वर्गारोहण तक पूरा ही द्वितीय ब्राह्मण्य संयोजन अर्थात् भृगुवंशीय ब्राह्मणों द्वारा किए गए संयोजन के पश्चात् ही इसका नाम महाभारत पड़ा।

महाभारत ने अपने अन्य अनेक नाम दिए हैं किन्तु कभी महाकाव्य नहीं कहा। एक बार केवल 'काव्यं परम पूजितम्' कहा है (१-१-६१); महाकाव्य की संज्ञा परवर्ती युग की स्वीकृति का संकेत देती है। महाभारत ने अपने सम्बन्ध में कहा है—अर्थशास्त्रमिदम् पुण्यं धर्म-शास्त्रमिदम् परम्। मोक्षशास्त्रमिदम् प्रोक्तं व्यासेनामित बुद्धिना॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(१-५६-२१) अर्थात् अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र और मोक्षशास्त्र के रूप में स्वयं को अभिहित किया है। स्वयं को पुराण भी कहा है—द्वैपायनेन यत् प्रोक्तं पुराणं परमर्षिणा (१-१-१५) और इतिहास भी कहा है—भारतस्येतिहासस्य पुण्यां ग्रन्थार्थ संयुताम (१-१-१७) अथवा, इतिहासमिनं चक्रे पुण्यं सत्यवती सुतः (१ । १ । ५२), संहिता भी कहा है—संहितां श्रोतुमिच्छामो धर्म्यां पापभयापहाम् (१ । १ १६) वेद और उपनिषद भी कहा है—कार्ष्णं वेदमिमम् विद्वान (१ । १। २०५) अत्रोपनिषदं पुण्यां कृष्णद्वैपायनोऽब्रवीत् (१ । १ १६१) और आख्यान कहा है—यो विद्याच्चतुरो वेदान् सांगोपनिषदान् द्विजः। न चाख्यान मिमं विद्वान्नैव स स्याद्विचक्षणः। (१ । १ २३५) ; अथवा, 'इदं सर्वैः कविवरैराख्यानमुपजीव्यते ('१ । १ । २४१) अर्थात् शास्त्रग्रन्थ एवं इतिहास के रूप में ही महाभारत ने परिचित होना चाहा है ; क्योंकि तत्कालीन भारतवर्ष. ज्ञान और उपलब्धि की दो व्यंजना-शैलियों या प्रचार-साधन, शास्त्र एवं इतिहास से परिचित था। उसने उन्हीं दोनों नामों से महाभारत को विशिष्टता प्रदान की। कई शताब्दियों के बाद जब कुरुक्षेत्र-युद्धने स्मृति और किम्वदन्ती का रूप ग्रहण कर लिया, और सैकड़ों उपाख्यानों द्वारा पल्लवित हो गया, तब स्वभावतः ही समस्त महाकाव्य एक विस्तृत आख्यान जैसा लगने लगा। आख्यान इतिहास का ही अंग था।

महाभारत की रचना के पश्चात् व्यास ने उसे अपने चार शिष्यों—पैल, जैमिनि, सुमन्त और वैशम्पायन को सुनाया एवं वैशम्पायन को विशेष रूप से सिखाया। (इदं द्वैपायनः पूर्वं शुकमध्यापयद्द्विजः, १ । १ ६३) नारद ने देवताओं को, असित देवल ने पूर्व पुरुषों अथवा पिता-पितामहों को और शुक ने गन्धर्व-यक्ष तथा राक्षसों को सुनाया। (नारदोऽ श्रावयद्देवानसितो देवलः पितॄन्। गन्धर्व यक्ष रक्षांसि श्रावयामास वै शुकः, १ । १ । ६४) इस ग्रन्थ के माहात्म्य के बारे में कहा गया है—'चत्वार एकतो वेदाभारतं चैवमेकतः', (१ । १ । २०८)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अर्थात् 'एक ओर चारों वेद और एक ओर महाभारत' अर्थात् धर्म ग्रन्थ के रूप में वेद और महाभारत दोनों का समान मूल्य है। वस्तुतः महाभारत में क्या है, उसके बारे में कहा गया है—'भरतानां महज्जन्म महाभारतमुच्यते (१।५६।३१) अथवा 'कुरुणां चरितं महत्' अर्थात् भरतवंश या कुरुकुल की महान चरित्र-कथा ही महाभारत है।

केवल एक स्थल पर महाभारत नाम की व्युत्पत्ति का उल्लेख है—'महत्वादभारवत्वाच्च महाभारतमुच्यते' (१।१।२०९) 'महत्व एवं भारवत्व के कारण ही इसका नाम महाभारत पड़ा।' स्पष्ट रूप से ही यह व्युत्पत्ति, निर्वचन अथवा व्याकरण शास्त्र के अनुसार भ्रान्तिपूर्ण है; क्योंकि भारवत्व से भारत नहीं हो सकता। तो फिर यह बात क्यों कही गई? महाभारत में छन्द तथा कुछ गद्य में भी संवाद, वर्णन, आख्यान, नाटकीय घटना-प्रसंग, कथा-विवरण तथा तर्क, उपदेश, पहेली, तत्त्व मीमांसा के माध्यम से अनेक भंगिमाओं, मनः स्थितियों और विभिन्न प्रकार के विषयों का समावेश है। इसके अलावा कलेवर की दृष्टि से तथा विषय-माहात्म्य, विस्तार, कालव्याप्ति, अनेक जातियों, उपजातियों के उपाख्यान एवं युद्ध-वर्णन की दृष्टि, एक वंश के अभ्युत्थान, समृद्धि और विनाश-वर्णन की प्रस्तुति में इसका महत्व तो सिद्ध है; किन्तु भारवत्व? यह भी क्या विस्तार आदि का ही भार है? मगर, ऐसा लगता नहीं; लगता है, इतना भार अर्थात् गुरुत्व, गौरव, व्यापकता और गाम्भीर्य की दृष्टि से विश्व का कोई भी महाकाव्य इसके समान नहीं है। इसलिए कवि को भ्रान्त व्युत्पत्ति देने में भी कोई द्विधा या संशय नहीं। वल्कि इस साहस का कारण है कि व्याकरण से भले न हो; किन्तु एक अन्य स्तर पर भारवत्व शब्द की सार्थकता अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

महाकाव्य किसे कहते हैं? या उसकी परिभाषा क्या है—इसके सम्बन्ध में हम सब की कुछ धारणाएँ हैं तब भी सामान्य आलोचना इसलिए जरूरी है कि रघुवंश, पैराडाइज लास्ट भी महाकाव्य हैं और

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

फिर महाभारत भी महाकाव्य है किन्तु इनमें एक जातीय, गुणात्मक पार्थक्य है और संभवतः उस पार्थक्य के भी अनेक पर्याय हैं। परवर्ती काल के महाकाव्यों में रघुवंश, कुमारसम्भव, रावणवध किरातार्जुनीय, शिशुपालवध, वेओउल्फ, पैराडाइज लास्ट, फाउस्ट और बारहवीं सदी के स्पेन के (रड्रिगो डियाथ् ऑव ह्विहर का) 'एल्सिड्' इत्यादि एक दूसरे से काफी कुछ पार्थक्य रखने के बावजूद एक स्तर के हैं।

सम्भवतः बारहवीं सदी में आस्ट्रिया में रचित जर्मन महाकाव्य नीवेलुङ्गेनलीड्, कई सदियों बाद का फिनलैंड का कालेवाला, नार्वे की गाथाएँ, दसवीं शताब्दी की स्कैन्डिनेवियन गद्य-रचना 'एड्डा' और परवर्ती काल की छन्द-रचना एड्डा, उपरोक्त महाकाव्यों से ऊपर हैं और इनसे ऊपर जिनका स्थान है, उनमें सम्भवतः ई० पूर्व प्रथम शताब्दी का वर्जिल का 'ईनीड्' और काव्यात्मक मूल्य की दृष्टि से इसके समान ही शायद ई० पू० तृतीय सहस्राब्दी में रचित विश्व का प्रथम सुमेरियन महाकाव्य 'गिल्गमेश' का नाम आता है। काव्य की दृष्टि से वाल्मीकीय रामायण और होमर के ओडिसी का स्थान सम्भवतः इनसे ऊपर है और उससे ऊपर 'इलियड' का स्थान है; किन्तु लगता है उससे भी बहुत ऊपर महाभारत का स्थान है। हालांकि यह स्तर विन्यास निरापद भी नहीं निरंकुश भी नहीं, कहने का अर्थ केवल इतना है कि महाकाव्य की हैसियत से महाभारत विश्व के सभी महाकाव्यों से बहुत ऊपर है; किन्तु किस अर्थ में ? अर्थात् 'महत्वाद् भारवत्वाच्च'। महत्व एवं भारवत्व की दृष्टि से महाभारत का स्थान सर्वोपरि है।

विषय की गम्भीरता, वर्णन—कौशल तथा चरित्र-चित्रण आदि की दिशा में दूसरे देशों के महाकाव्य भी अपनी विशिष्टता का परिचय देते हैं। पैराडाइज लास्ट में शैतान एवं ईश्वर के बीच द्वन्द्व एवं संघर्ष में निश्चित रूप से महनीयता का परिचय प्राप्त होता है। दोनों ही चरित्र अपने वैशिष्ट्य के कारण स्वतंत्र हैं। रघुवंश में एक वंश की विमूर्त कल्पना ने नायक का स्थान ग्रहण किया है एवं धीरे-धीरे

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वीररस, उदासीनता, शोक एवं विध्वंस की ग्लानि तथा विषादमयता में परिणत हो गया है। नीवेलुङ्गे नलीड् में शौर्य, सम्मान-बोध एवं प्रतिहिंसा आदि की वीर-कहानी के उपजीव्य के माध्यम से एक गौरव पूर्ण जीवन बोध विकसित हुआ है। गद्य रचना एड्डा एवं गिल्गमेश में सृष्टि तत्त्व एवं मनुष्य जीवन के सम्बन्ध में अनुभवगत एवं काव्यगत महत्ता अवश्य ही है। दान्ते के 'दिह्निना कम्मेदिया' एवं इनफर्नो में मरणोत्तर अभिज्ञता के परिप्रेक्ष्य में समाजिक, नैतिक मूल्यबोध एवं जीवन की अनेक उपलब्धियों का सार्थक और महत्वपूर्ण चित्रण है। जिस प्रकार 'ईनीड्' में रोम राज्य के गठन के पूर्वकालीन इतिहास के परिप्रेक्ष्य में वीर ईनियास के निःसंग, नितान्त प्रवंचित जीवन-चक्र की कथा गम्भीर तात्पर्य एवं अर्थवत्ता से परिपूर्ण है। रामायण एवं ओडिसी में भी अनेक वंचनाओं के वातावरण में दो वीरों की चरित्र-कथा को बहुत कुछ चिरन्तन उपादान का आश्रय प्राप्त है। इलियड तात्क्षणिक आवेदनों का अतिक्रमण करके हमें अनेक वीरों के जीवन के उत्थान पतन के अन्तराल में निहित कई मानवीय सत्य की सीमाओं तक ले जाता है।

और महाभारत ? वह काव्य-मूल्य की दृष्टि से अनन्य है,। याद रखना होगा कि दो तृतीयांश से अधिक ब्राह्मण्य संयोजन का अधिकांश ही काव्य मूल्य की दृष्टि से सामान्य है, तब भी महाभारत काव्यगत मूल्य के कारण ही अनुपमेय है। इस प्रबन्ध में उस काव्य मूल्य के कई पक्षों को उजागर करने की चेष्टा की गई है। प्रकृति वर्णन हो या फिर मनुष्य के रूप का वर्णन हो, केवल वर्णन की महत्ता के कारण कोई काव्य महाकाव्य नहीं हो जाता। तब भी वर्णन के विभिन्न प्रकार या शैलियों की श्रेष्ठता सभी महाकाव्यों में ही है। रामायण, महाभारत एवं होमर में इसका एक स्वतंत्र आस्वाद है, वहाँ वर्णन में ओजस्विता, स्पष्टता और सशक्तता है। सहजता ही उसका वैशिष्ट्य है। कभी-कभी विचित्र अनुभवों के एक साथ समावेश के कारण इन वर्णनों में एक नया

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आयाम जुड़ता है। महाभारत के प्रकृति वर्णन में ऐसा कोई वैशिष्ट्य नहीं जो रामायण और पुराणों में विद्यमान न हो। नदी-पहाड़-वन सूर्य एवं चन्द्र का उदयास्त, दुर्गम भयानक अरण्य, ऊँचे पर्वत और प्रकृति के कोमल कान्त रूप का वर्णन महाभारत में अनेक वार हुआ है कभी-कभी दो-एक वर्णन दृष्टि को आकर्षित करते हैं—उदाहरण के लिए 'देवदारु के वृक्षों की कतार जैसे वादलों को पकड़ने के लिए फैलाया हुआ एक जाल हो।' (वनानि देवदारूणां मेघानामिव वागुरा, ३। १७८। १०) होमर की तरह महाभारत में भी कई अपरिवर्तनीय विशेषण अथवा विशेषणाश्रित वाक्यांश वीच-वीच में वर्णन को प्रत्यक्ष एवं जीवन्त कर देते हैं। भीष्म की शौर्य व्यंजक आकृति, अर्जुन की वीर कान्ति, भीमसेन का प्राचीर सिंह द्वार जैसा स्कन्ध देश (कन्धे), वलिष्ठ वाहु, युधिष्ठिर का स्थिर गम्भीर भाव, गान्धारी की तेजस्विनी छवि छोटे-छोटे विशेषणों में स्पष्ट हो उठे हैं। सत्यवती को असितलोचना अर्थात् काली-काली आँखवाली कहा गया है; प्रमद्वरा 'ज्वलन्तीमिव च श्रिया' अर्थात् उसकी देहकान्ति सौन्दर्य से जगमगा रही है। शकुन्तला 'श्रीरिवरूपिणी श्रीमती चारुहासिनी' है। जुए में द्रौपदी को दाँव पर रखते समय युधिष्ठिर उनका वर्णन करते हैं—'नैव ह्रस्वा, महती, न कृशा नातिरोहिणी। नील कुंचित केशी च.....। शारदोत्पल पत्राक्ष्या शारदोत्पलगन्धया। शारदोत्पल सेविन्या रूपेण श्री समानया।' (२। ६५। ३३,३४) वे श्री श्यामा पद्मपलाशाक्षी नील कुंचित मूर्धजा।.... नीलोत्पल समो गन्धो यस्याः क्रोशात् प्रवायति (१। १५५। ४२,४३) अर्थात् श्यामवर्णा पद्मपलाशनेत्रा, नीले लहराते केश, नील कमल का सौरभ जैसे उनके सर्वाङ्ग पर तैर रहा हो। दुःशासन द्वारा जब द्रौपदी द्यूत सभा में लाई जाती है, उस समय का वर्णन है—दीर्घेषु नीलेष्वथ चोर्मिमत्सु जग्राह केशेषु नरेन्द्र पत्नीम् (२। १७। २६) और दीर्घ नीली लहराती केशराशि को पकड़कर राजवधू द्रौपदी को घसीटा। इस दीर्घदेही श्यामांगी नील कुंचितकेशा युवती की छवि आँखों के सामने उभर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आती है। द्रौपदी के वर्णन में उनकी दीर्घ देह, लहराते केश, नील कमल जैसी आँखें, अंगों में कमल-गन्ध और नीले कमल के विविध अनुषंग प्रसंग बार-बार आए हैं। स्वर्ग में जाकर युधिष्ठिर ने जब उन्हें देखा तब भी वे कमलोत्पल मालिनी थीं, उन्हें ज्ञात हुआ कि वे स्वयं पद्मा हैं अर्थात् कवि के मन में जैसे कहीं श्यामांगी, दीर्घदेहा, कमलनेत्रा द्रौपदी के रूप के साथ नीले कमल का सौन्दर्य एकाकार हो गया था।

महाभारत के वर्णन में कहीं-कहीं सामान्य अलंकार के स्पर्श से वर्ण्य-वस्तु उद्भासित हो उठी है। युद्ध के समय कौरव दल अर्जुन के शर-वर्षण की तीव्रता से भस्म हुआ जा रहा है—'महावने मृगगणा दावाग्निन्रासिता यथा' (८८। ८० १६) अर्थात् 'जैसे विशाल वन में भय से व्याकुल जन्तुगण।' अथवा, संजय कहते हैं 'विशाल पर्वत की घाटी में स्थित बाँस के वन में जिस प्रकार दावानल रात में जल उठता है और बाँस के वृक्ष जोर की आवाज करते चिटख-चिटख जाते हैं, उसी प्रकार धृतराष्ट्र! तुम्हारे पक्ष के सैनिक बाणों के प्रहार से विनष्ट हो रहे हैं।' (महागिरौ वेणुवनं निशि प्रज्वलितं यथा। तथा तव महासैन्यं प्रास्फुटच्छर पीड़ितम्॥ (८। ८०। ८०) युधिष्ठर ने भीष्म से उनकी मृत्यु का उपाय जानना चाहा, तब भीष्म ने किस प्रकार उत्तर दिया? 'जैसे परलोक जाने के लिए दीक्षित होकर' (तथोक्तवति गांगेये परलोकाय दीक्षिते ६। १०७। ६०) संजय युद्धरत द्रोण का वर्णन दुर्योधनके निकट कर रहे हैं। आकर्णपलितश्यामो वयसाशीतिपंचकः। रणे पर्यचरद्रोणो वृद्धः षोड़शवर्षवत्॥ [७। १६५। १०३] अर्थात् पचासी वर्षीय द्रोण के कान के पास तक के केश श्वेत हो गए हैं; दुर्योधन! यह वृद्ध (तुम्हारे लिए) सोलह वर्षीय किशोर की तरह युद्ध कर रहे हैं।' कृप पाण्डवों के साथ युद्ध करने की धृष्टता के बारे में कर्ण को समझा रहे हैं: 'दायाँ हाथ उठाकर तर्जनी द्वारा क्रुद्ध विषैले सर्प का मुँह खोलकर उसके विष के दाँत को उखाड़ फेंकना चाहते हो? [आशीविषस्य क्रुद्धस्य पाणिमुद्यम्य दक्षिणम्। अवमुच्य प्रदेशिन्या दंष्ट्रामादातुमिच्छसि॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

[४ । ४६ । १३] यह रूपक विषय या वक्तव्य को जैसे स्पष्ट एवं प्रत्यक्षीकृत कर देता है । 'युद्ध में द्रोण निर्धूम अग्नि की तरह जलते लगे [स्वाज स महाराज विधूमोऽग्निरिव ज्वलन । ८ । १६ । ३५]।

युद्ध करते-करते जब क्षत्रिय वीर की मृत्यु होती है तब महाभारत में बार-बार यह वर्णन मिलता है कि वसन्त ऋतु में फूलों से लदा एक वृक्ष जैसे धराशायी हो गया । कर्ण के पुत्र वृषसेन की मृत्यु का वर्णन इस प्रकार है—स पार्थवाणाभिहतः पपात रथाद्विवाहुर्विशिरा धरायाम् । सुपुष्पितो वृक्षवरोऽतिकायो वातेरितः शाल इवाद्रिशृंगात् ॥ [८ । ८५ । ३६ वंगवासी संस्करण । संशोधित संस्करण में सम्मिलित न होने के बावजूद इस प्रबन्ध में बहु प्रचारित लोकप्रिय वंगवासी संस्करण के पाठ से बीच-बीच में आवश्यकतानुसार उद्धरण दिए गए हैं । विशेष रूप से प्रख्यात टीकाकार नीलकंठ ने इस पाठ की ही टीका की है । जहाँ वंगवासी का उल्लेख नहीं है वे सभी उद्धरण पूना के संशोधित संस्करण से ही दिए गये हैं] अर्थात् 'नववसन्त में फूलों से लदा एक विशाल शालवृक्ष जैसे पहाड़ की चोटी से उखड़कर गिर गया हो ।' कर्ण की मृत्यु के वर्णन में : तदुद्यदादित्य समान वर्चसं शरन्नभोमध्यगभास्करोपम । यराङ्गमूर्व्यामपतच्चमूपते दिवाकरोऽस्तादिव रक्त मण्डलः ॥ [८ । ६७ । २४]....यथा कदम्बकुसुमं केशरैः सर्वतोवृतम् । चितं शरशतैः कर्णं धर्मराजो ददर्श सः ॥ [८ । ६६ । ३३ वंगवासी] अर्थात 'मध्य आकाश से जैसे निर्मेघ शरत्कालीन सुदीप्त सूर्यमण्डल लहूलुहान होकर अस्ताचल में लुढ़क गया.... ...जिस प्रकार केशर से घिरा कदम्ब का फूल धरती पर आ गिरा ।' भीम एवं दुर्योधन युद्ध क्षेत्र में खून से लथपथ युद्ध कर रहे हैं, उस समय का वर्णन है—ददृशाते हिमवति पुष्पितौ किंशुकाविव [६ । ५७ । ३१] हिमालय में खिले लाल फूलों वाले दो पलाश-वृक्ष की तरह दोनों दिखाई दे रहे हैं ।'

बार-बार क्षत्रिय वीरों की मृत्यु के साथ वसन्त की कुसुमित कलियों की, किंशुक, सेमल, अशोक अथवा पलाश के उखड़ कर जमीन

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पर गिर पड़ने की उपमा मिलती है। जिस प्रकार वसन्त के फूलगाछों की चरम सार्थकता उनके लाल फूलों से लद कर खिलने विकसित होने के क्षणों में होती है, उसी प्रकार क्षत्रिय योद्धा जब अपने अस्त्रों से घायल पूरे शरीर में रक्ताक्त चिन्हों के साथ मृत्युवरण करता है तब वह क्षण उसकी भी चरम सार्थकता का होता है।

भरद्वाज के बाणों की वर्षा से पीड़ित पाण्डव काँप रहे हैं जिस प्रकार शीतकाल में कृश गायें [शिशिरे कम्पमाना वै कृशा गाव इव प्रभो, ७। १३०। ६] घटोत्कच के पुत्र अंजनपर्वा का निर्जीव शरीर युद्ध भूमि में गिर पड़ा किसी अभागे के व्यर्थ मनोरथ जैसा। [अभाग्यस्यैव संकल्पस्तन्मोघमपतद्भुवि। [७। १५४। ७६ बंगवासी] युद्ध में सेनापति कर्ण के ऊपर ही कौरवों का पूर्ण भरोसा है इसलिए युद्ध भूमि में उनके आने पर सबने उन्हें इस तरह देखा जैसे शीत से कातर व्यक्ति सूर्य को। [शीतार्ता इव भास्करम् ८। २२। १४] इसमें सूर्य की उपमा में यह व्यंजना भी है कि कर्ण सूर्य की ही सन्तान हैं। अर्जुन कर्ण के प्रति विद्रूप करते हुए कहते हैं—'यदि जंगल में शृगाल खरगोशों से घिरा वास करता है तो वह स्वयं को सिंह जैसा महसूस करता है; किन्तु कब तक? जब तक कि सिंह को नहीं देखता।' (शृगालोऽपि वने कर्ण शशैः परिवृतो वसन्। मन्यते सिंहमात्मानम् यावत् सिंहं न पश्यति॥ ८। २७। ४५) नकुल वीरों की तरह युद्ध करते-करते दुखी होकर इस तरह लम्बी साँसें भर रहे हैं जैसे घड़े में बन्द साँप फूँक मार रहा हो 'कुम्भस्थ इव पन्नगः'। उद्योग पर्व में विदुरा उपाख्यान में विदुरा अपने निश्चेष्ट पुत्र संजय को धिक्कारती हुई कहती है, 'अलातं तिन्दुकस्येव मुहूर्तमपि हि ज्वल। मा तुषाग्निरिवानर्चिर्धूमायस्व जिजीविषुः॥ ५। १२६। १८) अर्थात् 'तिन्दुक काठ की अग्नि की तरह अन्ततः एक मुहूर्त के लिए ही लपटें उठाते हुए जल जाओ; किन्तु तुषाग्नि अथवा भूसी की आग की तरह केवल जीवित रहने की इच्छा रखते हुए चिनगी रहित होकर दीर्घकाल तक धुआँते

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मत रहो।' क्षत्रिय पुरुष की निश्चेष्टता का और क्षत्रिय नारी के क्षुब्ध हृदय का सारा धिक्कार उन दो उपमाओं में व्यक्त हुआ है। स्त्री-पर्व में मृत द्रोणाचार्य को देखकर गान्धारी कहती हैं 'प्रचण्ड अग्नि की तरह जो शत्रु सेना का दहन करते हुए आगे बढ़ते जाते वे आज भूमि पर मृत ऐसे पड़े हैं जैसे बुझी हुई आग, 'शान्तार्चिरिव पावकः, (११।२३ ३०) स्वर्गारोहण पर्व में मृत योद्धाओं के बारे में युधिष्ठिर इन्द्र से प्रश्न करते हैं, 'और वे सभी महारथी योद्धागण कहाँ हैं जिन्होंने युद्ध की आग में शरीर की आहुति दी ? जुहूवुर्ये शरीराणि रणवह्नौ महारथा : १८।२ २) युद्ध के साथ बार-बार अग्नि, अग्निकांड एवं दावानल की उपमा देने के तात्पर्य की समीक्षा बाद में की जाएगी।

युद्ध के अन्तिम समय में दुर्योधन अकेले निरस्त्र स्थिति में युद्ध करते हुए कहते हैं 'सर्वोपकरणैर्हीनं वर्मशस्त्रादि वर्जितम्। एकाकिनं युध्यमानं पश्यन्तु दिवि देवताः' ॥ (९।३३।५३) वर्म (कवच) अस्त्र-शस्त्र आदि सारे उपकरणों से रहित होने के बावजूद मैं अकेले युद्ध कर रहा हूँ, आकाश के देवताओ ! आँख खोलकर देखो मुझे !' इस शौर्य में उस दिन दुर्योधन देवताओं से भी आगे निकल गए। शिखण्डी की आड़ से अर्जुन बाण चला रहे हैं, भीष्म ने अस्त्र-रखते हुए कहा, 'अर्जुनस्य इमे बाणा नेमे बाणाः शिखण्डिनः। कृन्तन्ति मम गात्राणि माघमां सेगवा इव' (१२।११९। ६५ बंगवासी) ये बाण तो शिखण्डी के नहीं; अर्जुन के हैं, बिच्छू का बच्चा जिस प्रकार अपनी माँ को डसकर मार डालता है, उसी तरह ये बाण मेरे शरीर को छलनी कर रहे हैं।' सन्तान धर्म से च्युत होकर, आड़ लेकर अर्जुन पितामह पर मृत्युबाण चला रहे हैं; इसलिए बाण का विष भीष्म के केवल शरीर को ही नहीं हृदय को भी असह्य दाहक यंत्रणा के साथ वेध रहा है।

सम्पूर्णतः, अलंकार-रहित काव्य-रचना जिसका सहज सीधा आवेदन हृदय को स्पर्श करता है, ऐसी काव्य-रचना के प्रचुर उदाहरण भी महाभारत में प्राप्त होते हैं। शल्य पर्व में बलराम अर्जुन को धिक्कारते

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हुए कहते हैं—तुम अन्यायपूर्वक राजा दुर्योधन की हत्या करके संसार में शठ योद्धा के रूप में अपयश के भागी बनोगे। (हत्वाधर्मेण राजानं धर्मात्मानं सुयोधनम्। जिक्ष्ययोधीति लोकेऽस्मिन्ख्यातिंयास्यसि पाण्डव ॥ ९।५९।२३) युद्ध के समय द्रोण अश्वत्थामा की मृत्यु का समाचार सुनकर पागलों की तरह पाण्डव-दल की हत्या करते जा रहे हैं, उस समय भीम उनसे कहते हैं :—'एक पुत्र की मृत्यु के प्रतिशोध में अधर्म-पथ पर चलकर अनेक ऐसे सैनिकों की हत्या कर रहे हैं जो क्षात्र धर्म का पालन करते हुए युद्ध कर रहे हैं, ब्राह्मण होकर उनके विरुद्ध अस्त्र-धारण कर रहे हैं आचार्य ! क्या आपको लज्जा नहीं आती ? (एकस्यार्थे बहून् हत्वा पुत्रस्याधर्म विद्यया। स्वकर्मस्थान् विकर्मस्थो न व्यापत्रपसे कथम् ॥ (७।१६५।२१) युद्ध के अन्तिम दिन दुर्योधन युधिष्ठिर से कहते हैं—गच्छभूभक्षत्वं राजेन्द्र पृथिवीं निहतेश्वराम्। हतयोधां नष्टरत्नां क्षीणवप्रां यथा सुखम ॥ (८।३१।५१) 'संसार के यशस्वी राजा और योद्धा आज मर चुके हैं, वसुन्धरा का ऐश्वर्य समाप्त हो गया है और इसकी सीमा भी नष्ट हो चुकी है। जाओ, महाराज ! इस पृथ्वी का मनमाना भोग करके सुखी होओ।' इस कथन में क्या केवल श्लेष ही है ? एक प्रकार का अत्यन्त गहरा विषाद, ग्लानि और आत्म-धिक्कार भी तो इसके भीतर से ध्वनित हो रहा है। विजयी होने पर इस पृथ्वी को ही तो कौरव स्वयं प्राप्त करते, जहाँ भोग करने के लिए कुछ भी अवशिष्ट नहीं, जिसका कोई ऐश्वर्य नहीं, कोई गौरव नहीं। आश्रमवासिक पर्व में वनगमन के पूर्व अपनी ओर से तथा गांधारी की ओर से धृतराष्ट्र युधिष्ठिर से कहते हैं—'वृद्धोऽयं हतपुत्रो अयं दुःखितोऽयं नराधिपः। पूर्वं राज्ञांश्च पुत्रोऽमिति कृत्वानुजानथ ॥ इयंच कृपणा वृद्धा हतपुत्रा तपस्विनी। गान्धारी पुत्र शोकार्ता युष्मान याचति वै मया ॥ तेषांमस्थिर बुद्धीनां लुब्धानां कामचारिणाम्। कृत याचेऽद्य वः सर्वान् गान्धारी सहितोऽनघान् ॥ १५।९।७-९) अर्थात् 'यह हतपुत्र राजा मैं पूर्व राजाओं का वंशधर हूँ, इस बात

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

को ध्यान में रखते हुए मुझे वन जाने की अनुमति दो। अभागिनी असहाय पुत्रशोक से पीड़ित गान्धारी और निर्दोष मैं दोनों तुमसे प्रार्थना करते हैं'। यहाँ काव्य-रचना का सूत्र प्रकरण में है। नेत्रहीन वृद्ध राजा और रुद्धनेत्रा गान्धारी दोनों ही सौ पुत्रों की मृत्यु से दुःखी जीवन के प्रति विरक्ति तथा पुत्रों के स्वेच्छाचार की ग्लानि मे अत्यन्त कुंठित, अपने विजयी भतीजों के निकट दीनतापूर्वक एक ही प्रार्थना करते हैं—'बाकी कुछ दिन वन में वास करेंगे, इतनी सी अनुमति दो।' इस कथन की पीड़ा भी जिस प्रकार मर्मस्पर्शी है उसी प्रकार प्राथना का हेय दैन्य भी।

महाभारत में ढेर सारे श्लोकों के माध्यम से अनेक चिरन्तन सत्यों को उजागर किया गया है। ये सभी विभिन्न युगों के विभिन्न अंचलों के अनुभवों की उपज हैं। इस विवेकशीलता के कई उदाहरण देने से ही समझ में आएगा कि एक प्रकार की अनासक्त भावना के साथ जो जीवन को देख पाए थे, वे ही समकालीन छोटी-छोटी समस्याओं से उबरकर जीवन के कुछ मूल सत्य तक पहुँच पाए थे। शान्ति-पर्व में युधिष्ठिर भीम से कहते हैं—'जो राजा समूची धरती पर शासन करेंगे उनका भी तो केवल एक ही पेट है भीम! तुम युद्ध की क्या प्रशंसा करते हो? [य इमामखिलां भूमिं शिष्यादेको महीपतिः। तस्याप्युदरमेकं वै किमिदं त्वं प्रशंससि॥ १२।१७।३] पाप करने पर स्वयं को अमानुष मानना उचित नहीं; सूर्य जिस प्रकार रात बीतने पर उदय होकर अन्धकार को नष्ट करता है उसी प्रकार सुकर्म द्वारा दुष्कर्म को नष्ट किया जाता है।' (१२।१४६।३१-३३) 'कोई काठ के एक टुकड़े के सहारे गहरी नदी को पार कर जाता है, किन्तु वह काठ के टुकड़े को भी नदी पार करवा रहा है। (१२।१३६।६०) महासमुद्र में जिस प्रकार काठ के दो टुकड़े बहते-बहते पास आते हैं और कुछ देर बाद तैरते-तैरते दो दिशाओं की ओर चले जाते हैं, इस संसार या भवसागर में मनुष्य के साथ मनुष्य का संयोग या मिलन भी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वैसा ही है। (यथा काष्ठंच काष्ठंच समेयातां महोदधौ। समेत्य च व्यपेयातां तद्वद्भूतसमागमः॥ १२।२८।३६)

युद्ध का महाकाव्य, जहाँ क्षत्रिय का जीवन विपद या संकट की छाया में कटता है वहाँ स्वाभाविक रूप से ही सुनाई पड़ता है—'न संशयमनारुह्य नरो भद्राणि पश्यति। संशयं पुनरारुह्य यदि जीवति पश्यति'॥ (१२।१३८।३४) संशय को स्वीकार किए विना किसी का कल्याण नहीं; 'संशय मे उवरकर यदि कोई जिन्दा रहे तभी कल्याण सम्भव है।' कौन शत्रु सर्वाधिक भयावह होता है, उसके सम्बन्ध में कृष्ण अर्जुन से कहते हैं—'साहस पूर्वक जो युद्ध में तैयार हैं तथा जिन्होंने जीवित रहने की आशा बिल्कुल ही छोड़ दी है, उनके सामने खड़े होने की हिम्मत स्वयं इन्द्रदेव में भी नहीं (साहसोत्पतितानांच निराशानांच जीविते। न शक्यमग्रतः स्थातुं शक्रेणापि धनंजय॥ ९।५९।१६। बंगवासी। ऐसा ही मिलता-जुलता कथन पूना के संशोधित संस्करण के उशनागीता में है—'पुनरावर्तमानां भग्नानां जीवितैषिणाम्। भेतव्यमरिशेषाणामेकायनगता हि ते। ९।५७।१३) पिता की हत्या से अत्यन्त क्षुब्ध-क्रुद्ध अश्वत्थामा को जब कृप ने रात में सोने के लिए कहा तब अश्वत्थामा ने कहा—'आतुर, क्रुद्ध अर्थ संकट से ग्रस्त और प्रेमासक्त व्यक्ति को नींद नहीं आती।' (आतुरस्य कुतो निद्रा नरस्यार्थितस्य च। अर्थांश्चिन्तयतश्चापि कामयानस्य वा पुनः। १०।४।२१) द्रोण पर्व में धृतराष्ट्र का अनुताप सुनकर संजय ने कहा—'अब पछताने से क्या होगा? प्लावन अथवा जल-प्रलय के पश्चात् सेतु बाँधने की चेष्टा जैसा ही यह विलाप निष्फल है।' (गतोदके सेतुबन्धो यादृग् तादृग्यं तव। विलापो निष्फलो राजन् या शुच भरतर्षभ। ७।६२।२) राजा जनक कहते हैं—'मेरी सम्पदा अनन्त है; क्योंकि मेरे पास कुछ नहीं है। मेरी राजधानी मिथिला जल भी जाए तो मेरा कुछ नहीं जलता।' (अनन्तं वत में वित्तं यस्य मे नास्ति किञ्चन। मिथिलायां प्रदीप्तायां न मे दह्यति किञ्चन॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

१२ । २३ । १५ वंगवासी) जो व्यक्ति अन्यमनस्क भाव से फूल तोड़ रहा है मृत्यु उसे भी अचानक वैसे ही लील जाती है जैसे भेड़िया भेड़ के बच्चे को दबोच कर ले जाता है।' (पुष्पाणीव विचिन्वन्तमन्यत्रगत मानसम्। वृकीवोरणमासाद्य मृत्युरादाय गच्छति ॥ १२ । १७५ । १३ वंगवासी) 'बूढ़े व्यक्ति के केश, दाँत, आँख-कान जीर्ण हो जाते हैं; किन्तु केवल तृष्णा ही जीर्ण नहीं होती।' (जीर्यन्ति जीर्यतः केशा, दन्ता जीर्यन्ति जीर्यतः। चक्षुः श्रोत्रे च जीर्यते तृष्णैका न तु जीर्यते। १३ । २० । २१ वंगवासी) 'अप्रिय किन्तु हितकर बातें कहनेवाला भी दुर्लभ है, सुननेवाला भी दुर्लभ है।' (अप्रियस्य ही पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः । २ । ६४ । १७ वंगवासी) बाल्यकाल के मित्र द्रुपद के राजा होने पर द्रोण राजसभा में जाकर उन्हें जैसे ही 'सखा' कहकर सम्बोधित करते हैं, द्रुपद तुरन्त टोकते हुए कहते हैं—'न दरिद्रो वसुमतो नाविद्वान् विदुषः सखा। शूरनरस्य न सखा क्लीवः सखि पूर्वं किमिष्यते ॥ (१ । १२२ । ७) दरिद्र कभी धनवान का मित्र नहीं होता, अपण्डित-अविद्वान विद्वान का और क्लीव वीर पुरुष का सखा नहीं होता ; तुम 'सखा' का सम्बोधन क्यों करना चाहते हो ?' जीवन में मनुष्य को एक जैसे अनुभव का बार-बार सामना करना पड़ता है किन्तु यहाँ उस सत्य की कितनी नग्न एवं निष्ठुर अभिव्यक्ति है। ऐसी ही ढेर सारी सूक्तियाँ पूरे महाभारत में बिखरी पड़ी हैं, जो जीवन के विभिन्न क्षेत्रों, अनेक संकटों, एवं अवस्थाओं के सम्बन्ध में मनीषियों एवं प्रज्ञावानों के अनुभूत सत्य को उजागर करती हैं।

यहाँ तक देखा गया कि महाभारत में अनेक प्रकार की काव्य रचनाएँ मात्रा की दृष्टि से कितनी प्रचुर हैं एवं काव्य-मर्यादा या काव्यात्मक अनुशासन की दृष्टि से समृद्ध हैं। वस्तुतः, इतने असंख्येय उदाहरण हैं कि चयन करना अत्यन्त कठिन है इसलिए कुछ थोड़े उदाहरण देकर ही विराम लेना पड़ा ; क्योंकि यहाँ तक जो दिखाया गया वह प्रायः सभी महाकाव्यों में थोड़ा बहुत है और उसके

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

द्वारा महाभारत का काव्यत्व ही प्रमाणित होता है, महाकाव्यत्व नहीं ; किन्तु महाभारत की यथार्थ उत्कृष्टता का परिचय अन्यत्र प्राप्त होता है।

इस उत्कृष्टता के विश्लेषण की प्रक्रिया में पहले ही दृष्टि पड़ती है कि महाभारत की मूल क्षत्रिय कहानी के भीतर अतिलौकिकता का कोई प्रभाव ही नहीं है। इलियड और महाभारत में एक बहुत बड़ा अन्तर है हालांकि इलियड की घटनाओं की गति अतिलौकिकता से मुक्त होने के बावजूद एक ही धारा में प्रवाहित हो सकती थी, तब भी इलियड की कहानी के भीतर देवताओं का हस्तक्षेप ओत-प्रोत रूप में अनुस्यूत है। महाभारत के तृतीय अंश में अर्थात् ब्राह्मण्य संयोजन में देवतागण प्रत्यक्ष रूप में ही विद्यमान हैं और कभी-कभी नेपथ्य से घटनाओं के सूत्रधार की भूमिका में भी दिखाई देते हैं ; किन्तु चूँकि मूल महाकाव्य की रचना में यह अंश अनेक परवर्ती काल का संयोजन है, इसलिए ये अतिलौकिक उपाख्यान कहानी के मर्म में प्रवेश करते नहीं, इस कारण मूल (क्षत्रिय) कहानी निश्चित रूप से देवता निरपेक्ष एवं मानवीय सीमा के भीतर ही निहित है। परिणामतः देवताओं की भूमिका मूल कहानी के भीतर आगन्तुक अथवा अप्रत्याशित है तथा पूरी तरह परिहार्य या उपेक्षणीय है।

मनुष्य के चरित्र की अन्तर्निहित शुभ एवं अशुभ बुद्धि तथा नैतिक जय पराजय ही कहानी को नियंत्रित करते हैं। महाभारत में अन्तिम ब्राह्मण्य संयोजन के अन्तर्गत ही प्रधान देवता के रूप में कृष्ण का प्रवेश होता है। मूल महाकाव्य में वे पाण्डवों के सखा, अर्जुन के परममित्र एवं युद्ध क्षेत्र में सारथी हैं। ये कृष्ण द्वारका के राजा यदुवंशी वृष्णि-वीर हैं, जिनका कोई अस्तित्व उस समय मानवीय सीमा के बाहर नहीं था और क्षत्रिय कहानी में उसका कोई प्रयोजन भी नहीं था। [ध्यान देने योग्य है कि दूसरा क्षत्रिय महाकाव्य रामायण भी अपने प्रारम्भिक रूप में सम्पूर्णतः मानवीय है। आदिकाण्ड में उसके

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नायक के चयन-प्रसंग में स्पष्ट है कि जिन सारे गुणों से इस नायक का सरोकार है, वे देवताओं में भी दुर्लभ हैं इसीलिए इसमें 'नरचन्द्रमा' रामचन्द्र की कहानी थी] महाकाव्य का यथार्थ तात्पर्य ही तो यहाँ है कि वह मनुष्य की समस्याओं तथा उसकी ही नैतिक, आध्यात्मिक एवं आवेगनिष्ठ उपलब्धियों का साक्ष्य प्रस्तुत करता है। यही कारण है कि एक युग की कहानी सभी युगों की आध्यात्मिक सम्पदा का भाण्डार हो जाती है। महाभारत में प्रधान देवता के रूप में कृष्ण की उपस्थिति के बाद जय-पराजय की भूमिका वीरनिष्ठ नहीं, बल्कि कृष्ण-निष्ठ हो उठी। 'यतः कृष्णस्ततो जयः'। क्षत्रिय नीति को ठुकरा दिया गया ; कृष्ण के परामर्श से प्रत्येक कौरव महारथी को अन्याय युद्ध में प्राण देना पड़ा। मानवीयता एवं क्षात्रनीति के ऊपर एक अन्यनीति आरोपित हुई—कृष्ण ही न्याय-अन्याय के निर्णायक हुए और शुभ-अशुभ के नियामक हुए। मानवतावादी मूल्यबोध कृष्ण की उपस्थिति में प्रतिहत हुआ ; ठुकरा दिया गया। प्रस्तुत प्रबन्ध मूल क्षत्रिय-कहानी के आधार पर लिखा गया है इसलिए सर्वश्रेष्ठ देवता के रूप में कृष्ण की उपस्थिति के पूर्व महाभारत का जो रूप था, इस प्रबन्ध में उसका ही विश्लेषण है।

यद्यपि यह महाकाव्य युद्ध पर केन्द्रित है तथापि इसका अन्तर्गूढ़ रस वीर अथवा रौद्र नहीं है। आनन्दवर्द्धन ने कहा है कि महाभारत का मूल रस शान्त रस है। [इस तथ्य का स्मरण दिलाने के लिए मैं अध्यापक हेमन्त कुमार गंगोपाध्याय के निकट ऋणी हूं] इस काव्य के इतने सारे अंश युद्ध की मारकाट से भरे पड़े हैं कि इसके मूल रस को शान्त कहने पर अचानक आश्चर्य होता है, किन्तु गहराई में जाकर सोचने से ही इस कथन का तात्पर्य स्पष्ट होता है। मूल महाकाव्य की घटना में युद्ध है किन्तु क्रांतदर्शी कवि की जिस निर्वैयक्तिक दृष्टि के भीतर काव्य का जन्म हुआ है, वहाँ युद्ध नितान्त ही बहिरंग है तथा जिस शान्त एवं गम्भीर दृष्टि में वहाँ जीवन का निरीक्षण-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

परीक्षण विम्बित है, वह अन्ततः शान्त रस में ही उत्तीर्ण अथवा प्रतिष्ठित हुआ है। दृश्यतः प्रतीयमान स्तर पर युद्ध यहाँ निन्दित एवं और भी गम्भीर स्तर पर कुरुक्षेत्र का संग्राम जहाँ मनुष्य के मानस-पट पर श्रेय एवं प्रेय के टकराव का प्रतीक है, वहाँ भी अन्ततः रस तो शान्त ही है। यह संग्राम मन के भीतर सम्पन्न होता है, इसकी जय-पराजय नैतिक है एवं जिस समाहित या स्थापित जीवन बोध में इसका पर्यवसान होता है वह वास्तव में शान्त रस के ही अनुषंग या प्रसंग को उजागर करता है।

महाभारत के चरित्र-चित्रण में कई एक विशेषताएँ दिखाई पड़ती हैं। पहली विशेषता को संक्षेप में कहना चाहें तो यथार्थवादी रुझान कह सकते हैं; क्योंकि जैसा जीवन में है, वैसा महाभारत में भी है, खालिस अच्छे और खालिस बुरे चरित्र नहीं। विदुर एवं शकुनि केवल दो व्यतिक्रम हैं, जैसे जीवन में वैसे लक्ष्य में। ऐसे एकाध व्यतिक्रम संभवतः देखने को मिलते हैं। हम शायद नायक की भूमिका में अनजाने ही विशुद्ध चरित्र की आशा करते हैं किन्तु महाभारत में वैसे चरित्र नहीं हैं, यहाँ तक कि युधिष्ठिर भी नहीं, जबकि ब्राह्मण्य संयोजन के ग्रन्थकार एक मात्र उन्हें ही सशरीर स्वर्ग ले गए हैं। शास्त्र में द्यूत क्रीड़ा को व्यसन या दुर्गुण कहा गया है, उस दृष्टि से जुआ खेलने के प्रति आसक्ति उनका अपराध है। इसके अतिरिक्त भी केवल द्रोणाचार्य को प्राणघाती मिथ्या समाचार दिया था यही नहीं बल्कि पाँच भाइयों की स्त्री पांचाली को अकेले दाँव पर रखने का अधिकार भी उन्हें नहीं था। इन सब के अलावा शायद और भी छोटी-मोटी त्रुटियाँ उनके चरित्र में देखी जा सकती हैं। दूसरों के बारे में यह और भी सत्य है किन्तु अच्छे-बुरे दोष-गुण के मेल से गढ़े गए चरित्र तो रामायण इलियड एवं अन्यान्य कई एक महाकाव्यों में भी हैं। कारण यह है कि इस प्रकार के चरित्रों को उपस्थापित करने पर ही श्रोता अथवा पाठक

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

के निकट वे स्वीकार्य होते हैं। पाठक की बुद्धि एवं आवेगात्मक संवेदन सहजता से चरित्रों के इर्द-गिर्द मँडराते रह सकते हैं।

महाभारत में चरित्र-चित्रण की दूसरी विशेषता है कि इसका प्रत्येक मुख्य चरित्र संशय-ग्रस्त है। यहां भी विदुर एवं शकुनि ही व्यतिक्रम हैं। अन्यान्य मुख्य चरित्रों में प्रत्येक के ही सम्मुख नैतिक समस्या है तथा प्रत्येक ने ही स्वयं अपनी-अपनी समझ एवं बुद्धि के द्वारा समस्याओं का समाधान किया है। यह संशय कहीं अच्छे-बुरे के बीच है, तो कहीं श्रेय और प्रेय के बीच है अथवा कहीं श्रेय एवं श्रेयस्तर के बीच है। धृतराष्ट्र का अन्तर्द्वन्द्व पुत्रस्नेह एवं निष्पक्ष निर्णय के बीच है अर्थात् श्रेय और प्रेय के बीच है। वे नैतिक युद्ध में पराजित हो चुके हैं; स्वेच्छया, समझ-बूझकर उन्होंने अपनी पराजय स्वीकार कर ली है; किन्तु गान्धारी उस तरह की समस्याओं के सम्मुख हार नहीं मानतीं। विदुर एवं संजय की तरह उन्हें जब भी सुयोग मिला है, धृतराष्ट्र को कर्त्तव्य-सचेतन करना चाहा है किन्तु कर नहीं पाईं, यही उनकी मर्मवेधी व्यर्थता एवं वेदना है। महाभारत की रचना के प्रारम्भ में विदुर, संजय, गान्धारी और युधिष्ठिर सभी धर्म की भूमिका में उपस्थित होते हैं; किन्तु परवर्ती ब्राह्मण्य संयोजन में कृष्ण के प्रवेश के बाद एक सम्पूर्ण भिन्नधर्मी आयाम महाभारत में जुड़ा। युधिष्ठिर का द्वन्द्व, क्षात्रधर्म एवं मानवधर्म का टकराव है अर्थात् श्रेय एवं श्रेयस्तर का टकराव है। दोनों ही धर्म हैं, किसी एक को चुन लेने से ही वे निन्दा के पात्र न होते और अपराधी भी नहीं होते; किन्तु बुद्धोत्तरकालीन भारत में किसी एक का चयन करना कठिन हो उठा है। क्षत्रियकुल में जन्म लेकर जो मन-प्राण से अहिंसक हैं और जो अहिंसा को ही श्रेयस्तर समझते हैं, उनका अन्तर्द्वन्द्व सचमुच ही मर्मान्तिक है। सिंहासन का अधिकार चाहे जितना ही विवादास्पद हो किन्तु हर प्रकार से उस अधिकार की रक्षा करना क्षत्रिय का परम कर्त्तव्य है। इतने समय तक सारे क्षत्रियों ने इस नीति

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

को मानकर निःसंशय युद्ध किया है, कोई जीता है या कोई हारा है किन्तु दोनों ही शुभ परिणाम के द्योतक हैं। क्योंकि 'जये स्याद्विपुला पृथ्वी। ध्रुव स्वर्गः पराजये।' (८।८४।१५) कालेवाला, एलसिड्, नीबेलुङ्गेनलीड्, ईनीड, इलियड् यहाँ तक कि ओडिसी में भी इस अधिकार के लिए तथा वीरधर्म का पालन करने के लिए युद्ध करना अनिवार्य है। युधिष्ठिर की समस्या उनकी अन्तर्निहित मानवीयता है जो अठारह अक्षौहिणी सेना एवं स्वजनों-आत्मीयों के रक्त की नदी पार कर सिंहासन प्राप्त करना किसी भी तरह न्यायधर्म के रूप में स्वीकार नहीं कर पा रही है। इसीलिए राज्याधिकार उनके निकट नितान्त तुच्छ एवं त्याज्य प्रतीत होता है। यही कारण है कि जब दोनों पक्ष आमने-सामने युद्ध के लिए प्रस्तुत हैं और केवल शंखनाद होते ही युद्ध शुरू हो जायेगा, उस समय ज्येष्ठ पाण्डव जिन्हें विजय-प्राप्ति के पश्चात् सिंहासन प्राप्त होगा वे भागकर आचार्यों के पाँव पड़ रहे हैं :—'इस भ्रातृघाती युद्ध को बन्द कीजिए' किन्तु रक्तपात को रोक नहीं पाए। यही कारण है कि युद्ध के अन्त में दुर्योधन की मृत्यु के समय अश्रुप्लावित नेत्रों से दुर्योधन से कह रहे हैं :—नात्मानुशोचनीयस्ते श्लाघ्यो मृत्युस्तवाधुना। वयमेवाधुना शोच्याः सर्वावस्थासु कौरव॥ (९।५९।२७ वंगवासी) अर्थात् 'दुर्योधन तुम्हें अनुताप की पीड़ा से मुक्त होना है, तुम्हारी मृत्यु तो वरेण्य है, इस समय हम ही हर तरह से शोचनीय स्थिति में हैं।' इसी अन्तर्द्वन्द्व से कुछ समय के लिए अर्जुन भी संशयग्रस्त थे। युद्ध के व्यवधानहीन पूर्वक्षणों में जिसे श्रीकृष्ण ने अपनी अतिविस्तृत वक्तृता तथा लोकोत्तर माया द्वारा विश्वरूप-दर्शन के पश्चात् उनके अन्तर्द्वन्द्व का अन्त किया।.... कुन्ती के मनस्ताप की गहरी यंत्रणा एकदम असह्य हो उठी तो वे अपने ज्येष्ठ कानीन (विवाह से पूर्व जन्मे) पुत्र कर्ण के पास आई थीं जिसके साथ उनके पाण्डव-पुत्र युद्ध के लिए प्रस्तुत थे। कर्ण ने उनके अनुरोध की रक्षा नहीं की। तो क्या इसीलिए युधिष्ठिर के सिंहासन प्राप्त करने पर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हतपुत्रा कर्ण माता हतपुत्रा गान्धारी के साथ आश्रम-वास करने गईं ?.... कर्ण मन से अपना जन्म सूत-कुल में स्वीकार नहीं कर पाए ; उनके मन में अनेक प्रकार के द्वन्द्व थे। वे दुर्योधन की अपेक्षा स्वयं को शौर्यवान और कृती मानते थे ; किन्तु सूतकुल के साथ जन्म से जुड़े रहना उनका ऐसा हीन परिचय था जिसके लिए उन्हें पग-पग पर लांछित, अपमानित होना पड़ा। वे भीष्म की अपेक्षा स्वयं को श्रेष्ठ योद्धा के रूप में मानते थे किन्तु भीष्म तथा द्रोण की मृत्यु न होने तक सेनापति नहीं बन पायेंगे। सहजात कवच कुण्डल इन्द्र ने ले लिया और दानवीर के रूप में कर्ण के अभिमान का लाभ उठाते हुए या सुयोग लेते हुए, उनके सिर पर खड्ग की तरह गुरु परशुराम का अभिशाप लटक रहा था। लगता है, कर्ण अपनी अवश्यम्भावी मृत्यु की बात जानते ही थे और जानने के परिप्रेक्ष्य में उनका अतुलनीय पराक्रम उज्ज्वलतर हो उठा। पराजय को निकट जानकर भी दुर्योधन के पक्ष को न छोड़ना ही नैतिक युद्ध में उनकी जय की मर्यादा में वृद्धि कर देता है। कर्ण को उनकी दानवीरता का और योद्धा की हैसियत से उनकी योग्यता अथवा शौर्य का कोई गौरव ही नहीं मिला।.... द्रोण ने द्रुपद से प्रतिशोध लेने के लिए शक्तिमान के पक्ष का आश्रय लिया था। बाद में शक्तिमान को अन्यायी जानकर भी तो पक्ष छोड़ नहीं पाए। अपने प्रिय शिष्य अर्जुन का अभिमान दूर करने में एकलव्य को संभवतः विवेक के विरुद्ध ही दण्ड दिया। युद्ध के आरम्भ में वे अन्तर्द्वन्द्वों से आक्रान्त दीखते हैं।.... भीष्म जीवन में आरम्भ से ही नैतिक टकराव के सम्मुखीन हुए थे ; पिता के सुख के लिए अपने सभी सुखों की सम्भावनाओं का उन्होंने स्वेच्छया परित्याग किया। वे श्रेय एवं प्रेय के युद्ध में विजयी हुए। बाद में सत्यवती के अनुरोध के प्रति भी प्रतिज्ञाच्युत नहीं हुए। धृतराष्ट्र की सन्तानों के अभिभावक पद के अतिरिक्त जीवन उन्हें विशेष कुछ नहीं प्रदान करता है और यही उनके जीवन की व्यर्थता का संकेत मिलता है ; क्योंकि दुर्योधन जिन्होंने न्याय नीति का परित्याग किया है और धृतराष्ट्र जिन्होंने अन्धे

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पितृस्नेहवश अन्याय का प्रश्रय दिया है—यह सब जानकर भी वे उनके साथ ही रहे। अपने कौमार्य को अक्षुण्ण रखने और बीच बीच में सत्परामर्श देने के अतिरिक्त उनका और कोई कृतित्व नहीं। महाकाव्य में उनकी भूमिका प्रायः नेपथ्य में ही रही। उनके सत्परामर्श पर किसी ने कभी ध्यान भी नहीं दिया। वस्तुतः आश्रमवास ही उनके पक्ष में स्वाभाविक था जिसके कारण वे अन्याय का साथ देने से बचे रह सकते थे। किन्तु पूरी तरह निःस्वार्थ भाव से ही वे दुर्योधन के सहायक हुए। इसीलिए द्यूत-क्रीड़ा को नहीं रोक पाए और द्रौपदी के अपमान के प्रति चुप रहे तथा धृतराष्ट्र के नैतिक अन्वेषन को मान लेने के लिए बाध्य हुए। इन सारे अपराधों के तीखे अनुताप के कारण बहुत पहले ही उनकी शरशय्या बिछ चुकी थी।.....कुन्ती राजमाता राजवधू हैं किन्तु उनका भी जीवन ग्लानि एवं वंचना में बीता है।.....माद्री व्यर्थ यौवना तरुणी, सुन्दरी राजवधू हैं जिन्होंने असमय में स्वेच्छया बिना किसी दोष के सहमरण स्वीकार किया। महाकाव्य के प्रारम्भ में ही सत्यवती को केन्द्रित करके भाग्य का निष्ठुर, निष्करुण परिहास उजागर हुआ है। सिंहासन पर अधिकार प्राप्त करने के लिए ही कुरुक्षेत्र का युद्ध हुआ—आरम्भ से उस घटना को लक्ष्य करने पर भाग्य के विद्रूप की झलक मिलती है। शान्तनु ने सत्यवती की कामना की; सुयोग पाकर सत्यवती ने माँग की कि उनका पुत्र सिंहासन का अधिकारी होगा। अपने ज्येष्ठ पुत्र देवव्रत को शान्तनु किस अपराध के कारण उसके उचित अधिकार से वंचित करेंगे? यह सोचकर वे क्षुब्ध हुए किन्तु इस समस्या का समाधान देवव्रत ने स्वयं ही किया, आजीवन अविवाहित रहने की प्रतिश्रुति देकर। क्या सत्यवती इस निष्ठुर मूल्य से प्राप्त अधिकार का उपयोग कर पाईं? चित्रांगद एवं विचित्रवीर्य की जननी ने कितने दिनों तक दो तरुणी विधवा पुत्रवधुओं को लेकर व्यर्थ दिन बिताए। किन्तु राजमाता होने की उनकी अदम्य आकांक्षा इतनी है, कि संकोच त्यागकर वंचित भीष्म से ही सिंहासन का उत्तराधिकारी प्रदान करने

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

का अनुरोध किया ; भीष्म की असम्मति के बाद व्यास के निकट गईं। किन्तु धृतराष्ट्र अथवा पाण्डु किसी के भी औरस पुत्र ही तो सिंहासन पर नहीं आए, आए तो कुन्ती के गर्भ से जन्मे क्षेत्रज पुत्र युधिष्ठिर !.... द्रौपदी राजनन्दिनी, राजकुलवधू, और पाँच महावीरों की पत्नी हैं ; किन्तु उन्हें जीवन भर एक दुरूह समदर्शिता की परीक्षा देनी पड़ी है। उनके मन में क्षत्रिय वीरों के सम्बन्ध में जो आदर्श थे, उनके अनेक व्यतिक्रम अपने पतियों के आचरण में देखकर उन्होंने बार-बार प्रतिवाद किया। परिणामतः, प्रचलित अर्थ में पातिव्रत्य धर्म अथवा सती धर्म के साथ उनका चरित्रगत विरोध था। आवश्यकता पड़ने पर अपने पतियों की यहाँ तक कि धर्म-पुत्र युधिष्ठिर की भी उन्होंने भर्त्सना की है। उन्होंने सनाथा होते हुए अनाथा की तरह, असहाय जैसी असह्य सार्वजनिक अपमान झेला है। क्या इस तेजस्विनी वीरांगना को जीवन की व्यर्थता, का बोध नहीं हुआ ? उनकी अनेक उक्तियों में उनके मनस्ताप या अन्तर्दाह की तीव्र ज्वाला प्रकट हुई है।

स्पष्ट है, कि महाभारत में कोई भी चरित्र, सफल चरित्र नहीं है। उन्होंने जो चाहा, वह किसी को मिला नहीं, अथवा जब, जैसा चाहा तब वैसा पाया नहीं। उस दृष्टि से दुर्योधन का मृत्यु-वरण, युधिष्ठिर के सिंहासन प्राप्त करने की अपेक्षा बहुत कुछ सहज था। दुर्योधन को पहले से ही ज्ञान था कि उनके पक्ष के विजयी होने की कोई आशा नहीं है। शैशव से ही धृतराष्ट्र के सौ पुत्र बार-बार पाण्डवों के शौर्य के आगे पराजित हुए हैं। राजपुत्र होने के नाते एक तरह से दुर्योधन का सिंहासन पर अधिकार था ही। उस अधिकार की स्वीकृति के लिए वे आमरण जूझते रहे। द्यूत-सभा के असह्य अन्याय की घटना के पश्चात् से ही उन्होंने अपना विवेक खो दिया क्योंकि युद्ध-क्षेत्र में उनकी कोई नई नैतिक समस्या नहीं थी। क्षत्रिय वीर कि तरह युद्ध करके ही उन्होंने मृत्युवरण किया एवं प्रत्येक कौरव महारथी की तरह अन्याय-युद्ध में ही उनकी मृत्यु हुई। युद्ध के पूर्व

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

दोनों पक्ष ही प्रतिश्रुत थे कि प्रतिपक्ष के समय चाहने पर एक दूसरे पर आक्रमण नहीं किया जाएगा एवं कभी भी नाभि के नीचे कोई आघात नहीं करेगा। कर्ण ने समय माँगा, मिला नहीं। अर्जुन के रथ पर शिखण्डी को देखकर भीष्म ने अस्त्र रख दिए क्योंकि क्षत्रिय स्त्री-हत्या नहीं करते। द्रोण, पुत्र की मृत्यु का मिथ्या संवाद पाकर अस्त्र रख देते हैं और क्लान्त दुर्योधन को व्यंग्य वाणों से जर्जरित करते हुए द्वैपायन सरोवर से निकाल लाकर नाभि के नीचे आघात करके उनकी हत्या की गई। विदुर एवं संजय भी असफल चरित्र हैं; इन्होंने न्याय नीति की प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए आप्राण चेष्टा की, तब भी पूरी तरह असफल रहे। शकुनि भी असफल रहे क्योंकि सिंहासन पर दुर्योधन का अधिकार स्थापित तो हुआ ही नहीं. बल्कि समग्र कुरु-कुल ही ध्वंस हो गया।..... कौरव-पाण्डव के रूप में व्यास के पौत्र ही दोनों पक्ष में युध्यमान हैं और व्यास स्वयं उस कहानी की रचना कर रहे हैं। संसार-त्यागी संन्यासी के जीवन में कितनी दुःसह ग्लानि है। सारे मुख्य चरित्रों का जीवन ही व्यर्थता में पर्यवसित हुआ है एवं यहीं रामायण, ओडिसी, इलियड, नीबेलुङ्गेनलीड् और गिल्गमेश के साथ महाभारत का मेल है। प्रत्येक नायक के जीवन में स्वल्प सुख-भोग के पश्चात दुःख की छाया उतर आती है। क्योंकि महान काव्य सुख के द्वारा नहीं रचा जाता, सुख में जीवन जिज्ञासा नहीं। एवं इस जीवन-जिज्ञासा में ही काव्य, यथार्थ तात्पर्य उपलब्ध करता है तथा समकालीन स्थितियों का अतिक्रमण करके सभी देशों के तथा सभी युगों या कालों के लोगों के निकट अपनी बात कह पाता है।

यह बात आखिर है क्या? यही नहीं कि जीवन का अर्थ क्या है? क्यों जीते हैं? गहराई में पैठकर सोचने से जीवन का निजी एवं आत्यन्तिक कोई मूल्य नहीं किन्तु इस बात को स्वीकार करने मात्र से ही मनुष्य अन्य एक दुरतिक्रम्य दायित्व के सम्मुखीन होता है—वह है: जीवन को सार्थक दिशा-बोध देना ही मनुष्यता का लक्षण

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

है। इस दायित्व का पालन जो जितनी मात्रा में कर पाया है उसका मनुष्य-जीवन उतना ही सार्थक रहा है। याद पड़ता है, महाभारत के वन पर्व का वह उपाख्यान जहाँ सर्वापेक्षा दीर्घजीवी की खोज में निकले चिरंजीव मार्कण्डेय, राजा इन्द्रद्युम्नके पास आए। उनके निर्देशानुसार प्रावारकर्ण उलूक के पास; वहां से नाड़ीजंघ वक के पास एवं उसके निर्देशानुसार अकूपार कच्छप के पास आए। अन्त में अमरता की एक संज्ञा प्राप्त हुई, 'दिवं स्पृशति भूमिञ्च शब्दः पुण्यस्य कर्मणः। यावत् स शब्दो भवति तावत् पुरुष उच्यते॥' (३।१६८।१३) अर्थात् 'पुण्य कार्य अथवा सुकर्म की यशोध्वनि आकाश एवं धरती को स्पर्श करती है, वह शब्द या ध्वनि जितनी देर तक है उतनी देर तक ही पुरुष, पुरुष के नाम से पुकारा जाता है।' शुभ कर्म द्वारा ही मनुष्य अमरत्व प्राप्त करता है एवं उस पुण्य या शुभकर्म की स्मृति जितने दिनों तक मनुष्य को उद्बुद्ध करती है उतने दिनों तक ही शुभ कार्य करनेवाला अमर है।

चरित्र चित्रण में महाभारत की एक और विशेषता यह है कि प्रत्येक मुख्य चरित्र ही भाग्य द्वारा प्रताड़ित बहुत कुछ ग्रीक नाटकों के नायकों की तरह असफल है। किन्तु ग्रीक महाकाव्यों की तरह देवतागण यहां मुख्य घटना की परिधि में प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से सक्रिय नहीं हैं, कम से कम मूल क्षत्रिय-कहानी में तो नहीं ही हैं। यहाँ मनुष्य अपने द्वारा किए गए न्याय-अन्याय का परिणाम भोगता है तथा देवताओं के पक्षपातित्व द्वारा जय-पराजय निर्णीत नहीं होती। देवताओं की मध्यस्थता या हस्तक्षेप की सारी कहानी ही परवर्ती ब्राह्मण्य संयोजन के अन्तर्गत है; किन्तु मूल कहानी के सारे मुख्य चरित्रों के सम्बन्ध में ही कहा जा सकता है कि उन्होंने जो चाहा था, वह पाया नहीं और प्रत्येक चरित्र अविरोध की मर्मव्यथा से दग्ध होता रहा। भवभूति की भाषा में हमें प्रश्न करने की इच्छा होती है—'भगवान व्यास, एष किं ते काव्यर्थः? क्या यही तुम्हारा काव्यार्थ है? इस अन्तहीन अतल

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

व्यर्थता को उजागर करने के लिए ही क्या महाकाव्य की अवतारणा हुई? एक अर्थ में, सचमुच ही महाभारत का यही प्रतिपाद्य है। रवीन्द्रनाथ के शब्दों में, मानुपेर जीवन के दोलायित कर तुमि दुःसह द्वन्द्वे। डान हाते पूर्ण कर सुधा। वाम हाते चूर्ण कर पात्र।..... दुःसाध्य कर वीरेर जीवन के। महत जीवने यार अधिकार।'

किन्तु महाभारत यदि केवल व्यर्थता बोध के ऊपर प्रतिष्ठित होता तो ढाई हजार वर्षों से इस अम्लान महिमा के साथ यह काव्य भारतवर्ष के मनोजगत में विराजमान नहीं होता। इस अतल व्यर्थता के साथ और भी दो बातें हैं। पहली बात तो यह है कि प्रत्येक मुख्य चरित्र ही बिल्कुल अकेला है, निःसंग है। अर्जुन—चरित्र की दृष्टि से जिसकी अधिक मर्यादा नहीं है—एक मात्र उन्होंने ही एक अन्तरंग सुहृद या मित्र कृष्ण को पाया था जिनसे वे अपने मन की बात कह सकते थे। किन्तु और सभी अकेले थे, एकाकी थे, अँगरेजी में जिसे ट्रैजिक आइसोलेशन या त्रासद एकाकीपन कहते हैं जो इन सब के जीवन में प्रारम्भ से ही है। कुन्ती ने पहले ही पाण्डु एवं माद्री को खो दिया और सभी उनके मन में दूर के लोग थे। धृतराष्ट्र एवं गान्धारी के बीच विवेक की एक दुर्लंघ्य प्राचीर है जिसके दोनों छोरों पर दोनों ही अकेले हैं! द्रोण, भीष्म कर्ण अपनी-अपनी भूमिका में स्वतंत्र रूप से निःसंग हैं उनके मन के इर्द-गिर्द कोई नहीं। युधिष्ठिर जिस अन्तर्द्वन्द्व से आहत थे, उस स्थिति में उन्हें समझाने का साहस उनके आसपास के लोगों में किसी के पास नहीं था, सहयोग देना तो दूर की बात थी। पाँचों महावीरों की भार्या द्रौपदी स्वयम्वर-सभा में लक्ष्यभेद करने वाले अर्जुन के गले में जयमाल डालने के समय ओठों पर हल्की मुस्कान एवं हाथ में श्वेत पुष्पों की माला लेकर आगे बढ़ गई थीं किन्तु भाग्य की विडम्बना ऐसी कि उनके चाहने और पाने में कोई मेल नहीं हुआ। उनकी निःसंगता अपरिमेय ही रह गई। आखिर इस व्यर्थता बोध एवं इस गहरी निःसंगता को उजागर करने की सार्थकता क्या है? यहाँ निःसंदेह कहा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जा सकता है कि महाकवि यह सब दिखाते या व्यक्त नहीं करते यदि उनमें इससे भी आगे जाकर और भी कुछ दिखाने या व्यक्त करने की अभीप्सा और क्षमता न होती। महाकाव्य जिस स्तर पर जाकर इन सबों का अतिक्रमण करता है वहाँ ही वह महत्व एवं भारवत्व अर्जित करता है तथा श्रेष्ठता प्राप्त करता है। शान्ति पर्व में निःसंगता के प्रसंग में एक बार सुनते हैं—'श्रूयते त्रिलोककृद् ब्रह्मा प्रभुरेकाकी तिष्ठति' अर्थात् सुना जाता है कि त्रिभुवन के स्रष्टा ब्रह्मा एकाकी हैं। इसे कहते हैं तुषारमौलि हिमालय का एकाकीपन। जो मनुष्य पृथ्वी को या विश्व को कुछ वरेण्य या श्रेष्ठ प्रदान करता है उसका भी शाश्वत संगी यह एकाकीपन है। महाभारत में एकाकीपन का एक स्मरणीय प्रसंग है—युद्ध के अन्त में युधिष्ठिर नैतिक दुविधा के चलते ढुलमुलपन से आक्रान्त हैं, राजा होकर सिंहासनासीन होने के प्रति उनकी स्पृहा नहीं। अपने अपराधबोध एवं राजत्व के प्रति उदासीनता व्यक्त करने पर भीमसेन ने उनसे कहा—यत्र नास्ति शरैः कार्यं न मित्रैर्न च बन्धुभिः। आत्मनैकेन योद्धव्यं तत्ते युद्ध समयोतम्''''एतज्जित्वा महाराज कृतकृत्यो भविष्यसि॥ (१२।१६।२१, २२) अर्थात् 'ऐसे मित्र बन्धु के रहते हुए भी कोई लाभ नहीं, जो युद्ध में बाण चलाने में निष्फल हो, महाराज! जो युद्ध स्वयं के साथ अकेले करना पड़ता है, आज वही युद्ध तुम्हारे सामने है। इस युद्ध में विजय प्राप्त करने के बाद ही तुम कृतकृत्य होगे।' चरितार्थता अथवा लक्ष्य-प्राप्ति की इस संज्ञा का अर्थ महाभारत में सबकी दृष्टियों से दूर अपने विवेक के साथ अकेले युद्ध करते-करते जय प्राप्त करना है। यह युद्ध ही महाभारत में चरम और अन्तिम युद्ध है। युधिष्ठिर कुरुक्षेत्र-युद्ध के पश्चात् इस युद्ध के सम्मुखीन हुए हैं। पहले भी हुए थे; किन्तु यह अन्तिम बार है। प्रत्येक मुख्य चरित्र के जीवन में बाहर रणक्षेत्रीय युद्ध की अपेक्षा यह अत्यधिक महत्वपूर्ण युद्ध है। प्रतिपक्ष यहाँ स्वयं के भीतर ही है—लोभ, दम्भ, ईर्ष्या अहंकारसर्वस्वता, नैतिक अन्धापन इन सबों के साथ

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जो युद्ध होता है उसमें मनुष्य पूरी तरह अकेला होता है, वह एक कठोर संग्राम है जो मरणा न्तक है। इस युद्ध के चित्रण में महाभारत ने काव्यमूल्य की दृष्टि से चिरन्तन समुज्ज्वलता का अर्जन किया है। इस स्तर पर पूरा एक अन्य प्रकार का काव्य प्रच्छन्न है।

युद्ध के समय भीष्म ने कौरव पक्ष का समथन किया है तथा स्वयं वीर की तरह युद्ध करते हुए पाण्डवपक्ष के वीरों की हत्या की है। वही भीष्म मृत्यु के समय कहते हैं—'युद्ध मदन्तमेवास्तु तात संशाम्य कौरवैः (६।११६।४६) 'वत्स! मेरी मृत्यु होते ही युद्ध का अन्त हो, कौरव शान्त हों।' और भी कहते हैं—'पृथिव्यां सर्वराजानो भवन्त्वद्य निरामयाः (६।११७।२), 'पृथ्वी के सारे राजा आज निरामय हों रोगमुक्त हों।' युद्ध की वासना ही रोग है। पितामह एवं प्रथम सेनापति वृद्ध भीष्म ने दर्पी, दाम्भिक कर्ण से रुष्ट होकर उन्हें कठोर बातें कहने के लिए क्षमा माँगी। कर्ण ने जब युद्ध करने की अनुमति चाही, तब कहा—'अपनी वीरता के भरोसे युद्ध करो, किन्तु मन में किसी प्रकार का अहंकार मत रखो।' (युद्धस्व निरहंकारो बलवीर्य व्यापाश्रयः, ६।११७।३२) युद्ध में लोकक्षय देखकर आत्म-ग्लानि से उनका अहंकार जाता रहा, सारा वैर-भाव मिट गया। उन्होंने रक्त-पिपासा, लोभ एवं प्रतिहिंसा के स्वरूप को देखा है, इसीलिए विनम्रतापूर्वक उद्धत कर्ण के निकट क्षमा-याचना करने में उन्हें आज संकोच नहीं।.... द्रोण मृत्यु के पूर्व कहते हैं 'पाण्डवेभ्यः शिवंवोऽस्तु शस्त्रमुत्सृज्याम्यऽहम् (७।१६५।२५) 'पाण्डवों का कल्याण हो मैंने शस्त्र-त्याग किया।' जिन्होंने प्रबल पराक्रम के साथ कौरव सेनापति की भूमिका में प्रतिदिन युद्ध किया है वे मृत्यु के पहले एकाग्र चित्त होकर समस्त प्राणियों को अभयदान देते हैं (अभयं सर्वभूतानां प्रददौ योग युक्तवान, ७।१६५।२५) कर्ण का रथ कीचड़ में धँस गया है, समय माँगने पर उन्हें समय नहीं मिला, क्रोधावेश में उनकी आँखों में आँसू आ गए। (प्रस्त चक्रस्तु राधेयः कोपादश्रुण्यवर्तयत्, ८।६६।६०)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

दुर्योधन ने अपने सुखी एवं कृती जीवन का स्मरण करते हुए मृत्यु के समय बार-बार कहा है—'मेरी जैसी अच्छी मृत्यु और किसकी ?' (को नु स्वन्ततरो मया, ९ । ६३ । १९, २५) 'मेरे अन्त जैसा अच्छा अन्त किसका हो सकता है ? किन्तु लोकक्षय की प्रचण्डता से उनके भी मन में ग्लानि एवं दुःख के क्षण आए थे इसीलिए मृत्यु के पूर्वाह्न में जीवित आत्मीयों की ओर निहारते हुए कहा— 'मेरा सौभाग्य है कि इस जन-नाश से बचे तुम कई लोगों को देख पा रहा हूँ।' (दिष्ट्या च वोऽहं पश्यामि मुक्तानस्माज्जनक्षयात्, ९ । ६४ । २६) धृतराष्ट्र को पहले से ही ज्ञात था कि पाण्डवों की विजय होगी। आदि पर्व में उनके लम्बे विलाप की टेक ही थी, 'तदा नाशंसे विजयाय संजय' ॥ किन्तु वे जो नहीं जानते थे वह है युद्ध के अन्त में उनका अपना जीवन ही उनके निकट निरर्थक और दुर्वह हो उठा। कहते हैं—किंतु बन्धु विहीनस्य जीवितेन ममाद्य वै। लून पक्षस्य इव मे जरा जीर्णस्य पक्षिणः।' (९ । १ । ११) बन्धुविहीन अवस्था में इस प्राण द्वारा मेरा और क्या होगा ? परकटे एक बूढ़े पक्षी की तरह आज मेरी स्थिति हो गई है।' अत्यन्त तेजस्वी, बलवान भीम युद्ध के अन्त में नाभि के नीचे आघात करके दुर्योधन की हत्या करने के अपराध के लिए गान्धारी के निकट क्षमा चाहते हैं—अधर्मो यदि वा धर्मस्त्रासात्तत्र मयाकृतः। आत्मानं त्रातुकामेन तस्मे त्वं क्षन्तुमर्हसि ॥ (११ । १४ । २) 'वह चाहे धर्म हो, अथवा अधर्म हो, उस समय जो किया, डर के कारण आत्म-रक्षा के लिए ही किया। मेरे उस अपराध को आप क्षमा करें।' अपने शौर्य पर जिन भीम को दम्भ था, आज वे डर के मारे आत्म रक्षा के लिए किया गया अपराध स्वीकार कर रहे हैं, क्षमा माँग रहे हैं।.... धर्मपुत्र युधिष्ठिर गान्धारी से कहते हैं—'पुत्रहन्ता नृशंसोऽहं तव देवि युधिष्ठिरः। शापार्हः पृथ्वीनाशो हेतुभूतः शपस्व माम् । (११ । १५ । ३) 'मैं' नृशंस, आपके पुत्रों का हत्यारा युधिष्ठिर संसार के विनाश का निमित्त हूँ, मैं अभिशाप के योग्य हूँ मुझे अभिशाप दीजिए।' सारे

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जीवन का संचित एकमात्र अभिमान—धर्मपुत्रत्व कहाँ रहा ? अपने पक्ष के राज्य लोभ का दमन न कर सकने पर उन्होंने सारा दायित्व अकेले अपने माथे ले लिया। यह स्वीकारोक्ति वक्ता एवं श्रोता दोनों पक्षों के लिए ही मर्मन्तुद है। जिससे लगता है कि धर्मपुत्र के आत्मालोचन के भीतर जीवन के नग्न रूप का उद्घाटन हुआ है। जिन्हें सभी परम धार्मिक रूप में जानते थे, उन्होंने आज स्वयं को अपराधी के रूप में स्वीकार कर लिया। यह है सत्य का साफ-सुथरा, बेदाग रूप, जो जितना ही कठिन है, उतना ही उज्ज्वल है, निर्मल है।....जो द्रौपदी वीर क्षत्रिय पतियों को निरुद्यम, निष्क्रिय देखकर बार-बार क्षुब्ध एवं रुष्ट हुई हैं तथा कठोर वचनों द्वारा उन्हें धिक्कारा है, वे भी पहले समझ नहीं पाईं कि युद्ध में विजय होने पर भी, पाँचों पतियों के जीवित रहने पर भी, तथा सम्राज्ञी पद से सम्मानित होने का समय निकट होने पर भी उनके लिए जीवन हर प्रकार की रिक्तता के साथ विवर्ण हो जाएगा, उदास हो जाएगा। वे गान्धारी से कहती हैं—'किं राज्येन वै कार्यं विहीनायाः सुतैर्मम, (११।१५।१३): 'पुत्रहीना मैं राज्य लेकर क्या करूँगी ?' समस्त कांक्षित वस्तुओं को पाने के पीछे भी कितनी मर्मान्तिक वंचना और व्यर्थता है।....दुर्योधन की मृत देह के निकट खड़ी गान्धारी कहती हैं—'युद्ध में जाने से पहले वह मेरे पास जय के लिए आशीर्वाद माँगने आया था', (अस्मिन ज्ञाति समुद्वर्षे जयमस्वा ब्रवीतु मे' ११।१७।५) 'आशीर्वाद नहीं दे सकीं और कहा था कि जिस पक्ष में धर्म है, विजय उस पक्ष की ही होगी।' वह सत्यनिष्ठा आज मृत पुत्र के निकट खड़े रहने के समय मातृ हृदय को असह्य यंत्रणा दे रही है। युद्ध के अन्त में धर्मपरायणा गान्धारी ने आज कृष्ण के सम्बन्ध में कुछ कहने के प्रति कोई संकोच या कोई कोर कसर नहीं रख छोड़ी। वस्तुतः दुर्योधन का स्वार्थ भी था, कुछ माँगें भी थीं ; किन्तु कृष्ण का तो ऐसा कुछ भी नहीं था, इसीलिए गान्धारी ने कहा—'यस्मात् परस्परं घ्नतो ज्ञातयः कुरुपाण्डवाः। उपेक्षि-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तास्ते गोविन्द तस्मात् ज्ञातीन वधिष्यसि ॥ हत ज्ञातिर्हतामात्यो हतपुत्रो वने चरः । कुत्सितेनाभ्युपायेन निधनं समवाप्स्यसि ॥(११ । २५ । ४० । ४१) कौरव-पाण्डव परस्पर अपने सगे-सम्बन्धियों की हत्या कर रहे हैं, तुमने इसकी उपेक्षा की है गोविन्द ! तुम्हारे सगे-सम्बन्धी भी मारे जाएँगे। जब तुम्हारे स्वजनों मंत्रियों और पुत्रों की मृत्यु हो चुकी होगी तब ऐसी स्थिति में वन में भटकते-भटकते घृणित-कुत्सित ढंग से तुम्हारी मृत्यु होगी।' इतने कठोर शब्दों का प्रयोग गान्धारी ने कभी नहीं किया। उन्होंने पाण्डवों को क्षमा कर दिया था किन्तु कृष्ण को नहीं। उनका अभियोग पूर्णतया सत्य है, महाभारतकार ने इस बात का प्रतिपादन किया है कि अभिशाप अक्षरशः प्रतिफलित हुआ ; सौ पुत्रों-की मृत्यु से नहीं बल्कि स्वजनों की हत्या जैसे निष्ठुर हत्याकाण्ड को प्रश्रय देने के लिए कृष्ण के प्रति उनका यह असहिष्णु रोष है। उनके मन में इस हत्याकाण्ड का कारण, अनिवार्यता तथा इसकी अपरिमेय नृशंसता इत्यादि को लेकर सारे आवेग-संवेग गम्भीर रूप में आलोड़ित हो रहे थे इसीलिए कुछ कुछ स्वभाव-विरुद्ध ही उनका यह क्रूर अभि-शाप लगता है ; किन्तु पूरी तरह न्यायसंगत भी था. इसमें कोई संदेह नहीं। —स्पष्ट है कि मुख्य चरित्रों में बाहर की घटनाओं की प्रति क्रिया के फलस्वरूप अन्तर्लोक में एक अत्यन्त प्रभावशाली अन्तर्विप्लव घट चुका था।

यह है जीवन का पुनर्मूल्यायन जिससे श्रेष्ठतर उद्देश्य साहित्य का और कोई हो नहीं सकता। यह मूल्यायन कठिन ताप और वेदना की भूमिका में होता है जिससे मनुष्य-चरित्र एवं उसकी श्रेष्ठ सत्ता का रूपान्तर होता है। क्योंकि 'असन्तप्तस्तुयद्दारु प्रत्येति प्रकृतिं पुनः' (१२ । १०२ । ३१, बंगवासी), 'जो काठ जलता नहीं, वह अपने पूर्व रूप में पुनः आ जाता है। वह परिवर्तित अथवा विवर्तित नहीं होता।'.... जयद्रथ द्रोणाचार्य से प्रश्न करते हैं—'कौरवों एवं पाण्डवों की अस्त्र-शिक्षा समान है तथा अस्त्र के आचार्य भी एक ही हैं तब भी पाण्डव

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ही हमेशा क्यों जयी होते हैं ? द्रोणाचार्य उत्तर देते हैं—सममाचार्यकं तात तव चैवार्जुनस्य हि। योगाद्दुःखोचितत्वाच्च तन्मात्त्वत्तोऽधिकोऽर्जुनः॥ (७।७२।२३ वंगवासी) तुम्हारे और अर्जुन के आचार्य तो एक ही हैं किन्तु अर्जुन की शिक्षा के साथ योग है और उसने दुःख के मूल्य पर विद्यार्जन किया है, यहीं अर्जुन तुम से बड़ा है, श्रेष्ठ है।'....संजय ने युद्ध के समय निरन्तर धृतराष्ट्र से कहा है—'तुम्हारे आत्मीयों-स्वजनों के विनाश का वर्णन कर रहा हूँ तुम शान्तिपूर्वक दुर्निवार शोक को धारण करो।' (हस्त ते संप्रवक्ष्यामि सर्वं प्रत्यक्ष दर्शिवान्। शुश्रूषस्व स्थिरो भूत्वा तव ह्ययपनयो महान्॥ ७।६२।१) इस प्रकार पूरे युद्ध के वर्णन तथा कौरव पक्ष के वीर पुत्रों एवं आत्मीय बन्धु-बान्धवों के विनाश की स्थिति में अठारह दिन तक धृतराष्ट्र का प्रायश्चित्त जारी था। मोह भंग तब हुआ, जब युद्ध के अन्त में युधिष्ठिर द्वारा उन्हें सम्मानपूर्वक प्रासाद में रखे जाने के बावजूद लगा कि अब अरण्य ही उनका यथार्थ आश्रय है। उनके मनस्ताप को कुछ और तीव्र करने के लिए संजय ने उनसे कहा—'स्वयं पीत्वा महाराज कालकूटं सुदुर्जयम्। तस्येदानीं फलं कृत्स्नवोप्नुहि नरोत्तम॥ (७।१३३।२ वंगवासी) दुःसह, क्लेशदायक कालकूट विष का पान आपने स्वेच्छया किया है। अब उसका फल भोगो महाराज!'। पुनः स्त्री पर्व में युद्ध की समाप्ति पर धृतराष्ट्र जब मर्मवेधी अन्तर्वेदना के ताप से जर्जरित थे तब विदुर ही धृतराष्ट्र से कहते हैं—न जानपदिकं दुःखमेकः शोचितुमर्हसि, (११।२।१६) यह समस्त जनपद का शोक है महाराज! इसे क्या तुम अकेले वहन कर सकते हो? ऐसी चेष्टा भी मत करना।' द्रोण पर्व में सुनाई पड़ता है कि जिस पृथिवी को प्राप्त करने के लिए पृथिवीपति राजाओं ने युद्ध किया, आज मृत्यु के पश्चात् उस पृथिवी को ही प्रियवधू की तरह बाँहों में भर कर सोए हैं। (पृथिव्यां पृथिवीहेतोः पृथिवीपतयो हताः। पृथिवीमुपगृह्यांगैः सुप्ताः कान्तामिव प्रियाम्॥ ७।१४६।४७ वंग-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वासी), कितना निष्ठुर श्लेष है ! अर्थात् कितनी निर्दय है आलिंगन की विडम्बना ; यही क्या उनका पृथिवी को पाना है ? युद्ध में लाभ किसका हुआ ? यथा वराहस्य शुनश्च युद्ध्यतोस्तयोरभावे श्वपचस्य लाभः (७ । १८० । ८ वंगवासी) 'वराह या सुअर और कुत्ते यदि लड़कर मरें तो लाभ चण्डाल को होगा ।' कवि को कोई मोह नहीं । योद्धा जातियाँ हमेशा भूल जाती हैं कि युद्ध में लाभ सम्पूर्ण एक अन्य श्रेणी के लोगों को होता है । इसीलिए भीष्म एवं द्रोण ने दुर्योधन को परामर्श दिया था, 'पृथिवी भ्रातृभावेन भुज्यतां विज्वरोभव, (५ । १२६ । १८) । पृथिवी का उपभोग भ्रातृभाव के साथ करो और ज्वर-रहित हो जाओ ।' ध्यातव्य है यहाँ लोभ की तुलना ज्वर के साथ की गई है अर्थात् यह स्वस्थ अवस्था नहीं । .....जो अकेले अच्छा खाता है, अच्छा पहनता है, भृत्यों सेवकों को उसका भाग नहीं देता उससे नृशंसतर दूसरा कौन है ? (एकः सम्पन्नमश्नाति वस्ते वासश्च शोभनम् । योऽसंविभज्य भृत्येभ्यः कः नृशंसतरस्ततः । ५ । ३३ । ८५) इस लोभ के कारण ही उस दिन कुरुक्षेत्र में युद्ध की आग जली थी, आज भी जलती है । 'जहाँ शत्रुता नहीं' यही क्षत्रिय महाकाव्य में स्वर्ग की कल्पना है । (स्वर्गोऽयं नेहवैराणि भवन्ति मानुपाधिपः । १८ । १ । १८)

कुरुक्षेत्र युद्ध के प्रथम दिन दोनों पक्ष पूरी सैनिक तैयारी के साथ आमने-सामने उपस्थित हैं, शंखध्वनि होते ही युद्ध शुरू हो जाएगा— हठात् युधिष्ठिर भाग कर भीष्म द्रोण, कृप, शल्य सब के अलग-अलग पाँव पड़ते हुए तथा शान्ति की भीख माँगते हुए कहते हैं—'बन्द कीजिए यह भ्रातृघाती युद्ध' । उस दिन प्रत्येक ने उन्हें एक ही उत्तर दिया— अर्थस्य पुरुषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित् । इति सत्यं महाराज बद्धोऽस्म्यर्थेन कौरवैः । अतस्त्वां क्लीववदवाक्यं ब्रवीमि कुरुनन्दन । भृतोऽस्म्यर्थेन कौरव्य युद्धादन्यत् किमिच्छसि ॥ (६ । ४ । ४१,४२) "पुरुष अर्थ का दास है किन्तु अर्थ किसी का भी दास नहीं ; यही

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सत्य है महाराज ! अर्थवश हम कौरवों के निकट बंधे हैं। इसीलिए युधिष्ठिर हम क्लीवों की तरह यह बात तुमसे कह रहे हैं, कौरवों ने अर्थ से हमारा भरण-पोषण किया है, युद्ध को छोड़कर और कुछ चाहते हो तो बोलो।' इनमें प्रत्येक शस्त्रविद्, शास्त्रविद्, विचक्षण और श्रद्धेय थे किन्तु किसी न किसी स्वार्थ के कारण इन्होंने धृतराष्ट्र की सभा में आश्रय लिया था। द्रोण प्रतिहिंसा को चरितार्थ करने के लिए, भीष्म अपने वंश के व्यामोह के कारण और कृप शिष्य-वत्सलता के लिए उनके आश्रित थे किन्तु बाद में अन्याय की जानकारी होने पर भी तो कौरव-पक्ष को छोड़ नहीं पाए। फलस्वरूप दुर्निवार संकट के सम्मुख युधिष्ठिर के अत्यन्त न्याय संगत अनुरोध की रक्षा नहीं कर पाए और क्लीवों की तरह यह कहने के लिए बाध्य हो गए कि हम अर्थ से बंधे हैं; कौरवों ने हमारा भरण-पोषण किया है; हम उनके अन्नदास हैं; अब चाहे पराजय या हमारी मृत्यु जो भी होगी, उनके साथ ही होगी लेकिन सारे अन्याय को जानने के बाद भी वहां से खिसक नहीं पाएंगे। क्षुद्र जागतिक स्वार्थ के कारण एक बार विवेक खो देने पर कितनी मर्मवेधी यंत्रणा के साक्ष्य में उसका मूल्य चुकाना पड़ता है उससे और अच्छा उसका उदाहरण कहीं देखने में नहीं आता। दो कर्त्तव्यों का विरोध अर्थात् अन्नऋण एवं आनुगत्य या हुक्मबरदारी एक ओर है, और न्याय, धर्म तथा शान्ति की चेष्टा दूसरी ओर है किन्तु पूर्वकृत अपराध उनके सुमार्ग पर लौटने का मार्ग रुद्ध कर देते हैं। जीवन के पुनर्मूल्यायन की दृष्टि से इनके जीवन में नैतिक मूल्यबोध के और समस्या के कितने विवर्तन ही देखने में आए।

शिखण्डी की आड़ से अर्जुन बाण चला रहे हैं; उस समय, 'स्मयमानस्तु गाङ्गेयस्तान् बाणान् जगृहे तदा॥ उष्णार्तो हि नरो यद्वज्जल धाराः प्रतीच्छति। तथा जग्राह गाङ्गेयः शरधाराः शिखण्डिनः (६।११७।२३,२४), प्रचण्ड ग्रीष्म की दावाग्नि के पश्चात् जिस दिन प्रथम वृष्टि होती है, उस समय लोग (भागते हुए बाहर आकर) जिस

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रकार भींगते हुए मूसलाधार बौछारों के आनन्द का उपभोग करते हैं उसी प्रकार भीष्म ने हलकी मुस्कान के साथ अपने सारे शरीर को सामने करके अर्जुन की शरधारा को ग्रहण किया।' स्पष्ट है, जीवन के अन्तिम छोर पर पहुँचकर श्वेत केश वृद्ध पितामह की उपलब्धि कितनी मर्मान्तिक है। पुत्र-पौत्रों जैसे योद्धाओं की हत्या करनी पड़ रही है; किन्तु यह स्वजन घाती युद्ध तो अनिवार्य नहीं था। सभापर्व में वृद्ध पितामह ने क्लीबों की तरह चुपचाप बिना किसी प्रतिवाद के राजकुल वधू द्रौपदी का निष्ठुर, निर्मम अपमान होते देखा है। युद्ध होने के पहले युधिष्ठिर के निष्कपट विनीत आग्रह को क्लीव जैसे दैन्य के साथ अस्वीकार कर दिया, इसीलिए लगता है, क्लीव जैसे शिखण्डी की आड़ से आज उनके लिए मृत्यु के बाण आ रहे हैं। जीवन की प्रचण्ड धूप में तपे भीष्म अपनी आसन्न मृत्यु को कांक्षित ताप-शान्ति की तरह, परम मुक्ति की तरह देख रहे हैं। वे जीवन के जिन सब अमीमांसित या अनिर्णीत नैतिक संघर्षों में हारे थे आज उसका समाधान मृत्यु प्रस्तुत कर रही है। इच्छामृत्यु का वरदान आज सार्थक होने जा रहा है। जीवन असह्य हो चुका है, मृत्यु आज उनका काम्य है। भीष्म का जीवन लगता है, कौरव कुल का प्रतीक है, जो समाप्त होने के पश्चात् जीवन का सारा ऋण चुका देगा।

धर्मपुत्र के नाते युधिष्ठिर को धर्मपरायणता को सब ने आदर्श के रूप में स्वीकार किया है किन्तु इनके भीतर कितनी टूटन है, कितना बिखराव है। गीता में कहा गया है—'न हि कल्याणकृत कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति (६।६।४०), कल्याणकर्त्ता की कभी दुर्गति नहीं होती। वस्तुतः यह बात सत्य हो ही नहीं सकती। कुन्ती, द्रौपदी, पंच पाण्डव, गान्धारी ये सभी तो कल्याणकर्त्ता हैं, किन्तु जीवन में इन्होंने क्या पाया? लगता है, महाभारत ने दुर्गति की अन्य एक संज्ञा को मान्यता दी है और कहा है—'आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः। आत्मैव ह्यात्मनः साक्षी कृतस्याप्यकृतस्य च॥ (१३।७।२४)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

'मनुष्य का अन्तरात्मा ही उसका बन्धु है, मित्र है, शत्रु भी है, उसके कृत-अकृत कार्यों का साक्षी भी उसका अन्तरात्मा है।' अर्थात् मनुष्य की आखिरी जवाबदेही या उसका अन्तिम उत्तरदायित्व उसके स्वयं के प्रति ही है। यहाँ जो कल्याणकारी है उसकी दुर्गति नहीं। 'अनायासे पेरेछे छलना सहिते। से पाय तोमार हाते। शान्तिर अक्षय अधिकार।' अर्थात् जो अनायास छलना को झेल लेता है, वही तुम्हारे हाथ से शांति का अक्षय अधिकार पाता है।' समस्त कल्याणकारी ही इस शान्ति में अविचल, अटल होते हैं। श्रेय एवं प्रेय के टकराव में जो मनुष्य समष्टि के स्वार्थ के लिए व्यक्ति-स्वार्थ की बलि दे सका है, वही विशुद्ध निर्मल विवेक का अधिकारी है, उसकी उपलब्धि का फिर कोई अन्त नहीं होता। (यं लब्धा चा परं लाभं मन्यते नाधिकं ततः। यस्मिन स्थित्वा न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥ (६।६।२२) अर्थात् 'जिस वस्तु की उपलब्धि पर मनुष्य अन्य किसी उपलब्धि को उससे श्रेष्ठ नहीं मानता, उसमें स्थिति-प्राप्ति के बाद वह बड़े से बड़े दुःख में भी विचलित नहीं होता।' .....महाभारत ने यदि धर्म की खोज की है या उसे इस तरह परिभाषित करने का प्रयास किया है कि जो धर्म मनुष्य के सुख-दुःख में, सभी संकटों में उसे धारण करता है तथा तमाम नैतिक संशयों और श्रेय-प्रेय के संघर्ष में उसका पथ आलोकित करता है तो फिर यही वह धर्म है। बाकी सभी इस महाकाव्य में बहिरंग है। 'बहुजन हिताय बहुजन सुखाय' लोकानुकम्पायै महतो जनकाय-स्यार्थाय....' ललितविस्तर में सत्य-सन्धानी बुद्ध ने धर्म के इस मानदण्ड की स्थापना की है, 'बहुजनों के मंगल के लिए, उनके सुख के लिए और सामान्य जन के प्रति सहानुभूति रखते हुए जो सभी मनुष्यों के कल्याणार्थ रत हो नियुक्त हो, वह धर्म है।' इस धर्म के लिए जो संकीर्ण स्वार्थ का परित्याग कर पाता है, वह बाहर से चाहे जितना ही वंचित क्यों न हो, 'किछुते पारे ना तारे प्रवंचिते। शेष पुरस्कार निये जाय जे आपन भाण्डारे॥' (अर्थात् वह तनिक भी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रवंचित हो नहीं सकता, अन्तिम पुरस्कार वही ले जाता है अपने भांडार में) कोई भी प्रवंचना उसे स्पर्श नहीं कर पाती, अन्तिम पुरस्कार उसकी ही झोली में जाता है।

युद्ध की पूर्व रात्रि में धृतराष्ट्र की बेचैनी उत्कण्ठा के कारण तीव्र हो उठी थी, व्यास ने उन्हें दिव्यदृष्टि का वरदान देना चाहा ; किन्तु धृतराष्ट्र ने अस्वीकार की मुद्रा में कहा कि 'न रोचये ज्ञातिवधं द्रष्टुं ब्रह्मर्षिसत्तम,' 'आत्मीयों का वध देखने के प्रति मेरी कोई अभिरुचि नहीं।' उस रात उन्हें नींद नहीं आ रही है, संजय से कहते हैं तुम्हें दिव्य दृष्टि प्राप्त है, अतः संजय! इस सप्तद्वीपा पृथिवी का हाल बताओ। जम्बुद्वीप के प्रसंग में एक-एक वर्ष (देश) की बातें उठने पर उन्होंने कहा—'यदिदं भारतवर्षं यत्रेदं मूर्छितं बलम्। यत्रातिमात्रलुब्धोऽयं पुत्रो दुर्योधनो मम। यत्र गृद्धाः पाण्डुपुत्राः'—'यह जो भारतवर्ष जहाँ बाहुबल एवं अस्त्रबल शक्ति-प्रदर्शन की भूमिका में मुखर है, जहाँ मेरा पुत्र दुर्योधन लोभ से बुरी तरह आक्रान्त है, जहाँ पाण्डुपुत्र भी लोभग्रस्त हैं....' यहाँ तक सुनने पर लगता है कि अब धृतराष्ट्र इस देश को जहाँ बाहुबल, अस्त्रबल एवं लोभ का इतना निर्लज्ज प्रदर्शन हो रहा हो, उसे धिक्कारेंगे। किन्तु उन्होंने क्या कहकर अपनी बात पूरी की ? 'यत्र मे सज्जते मनः' 'जहाँ मेरा मन आसक्त है।' कितनी दुःसाहसिक, निर्भीक सच्चाई है। सारे अन्याय एवं अमंगल यहीं हो रहे हैं तब भी यह मेरा देश है, मेरा मन यहीं आसक्त है। स्वार्गारोहण पर्व में युधिष्ठिर, अपने कौरव-पाण्डव भाइयों को देखना चाहते हैं किन्तु इन्द्र ने विद्रूप करते हुए कहा—किं मानुषं स्नेहमद्यापि परिकर्षसि। (१८।३।३१) 'पृथिवी के मनुष्यों के प्रति मनुष्य का जो आकर्षण या आसक्ति है क्या उसे तुम स्वर्ग में भी साथ खींच लाए हो ? युधिष्ठिर ने कहा—वे जहाँ हैं वही मेरा स्वर्ग है, उन्हें छोड़कर इस स्वर्ग में मेरी बिन्दु मात्र भी रुचि नहीं। महाप्रस्थान के समय साथ रहनेवाले स्वामिभक्त कुत्ते को छोड़ आने के

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सन्दर्भ में उन्होंने कहा, 'सभी जानते हैं, मृत के साथ जीवित की सन्धि भी नहीं, विग्रह या कलह भी नहीं ; यह तो मेरा जीवित भक्त है, इसे क्यों छोड़ूँगा ?' (न विद्यते सन्धिरथापि विग्रहो मृतैर्मर्त्यैरिति लोकेषु निष्ठा। १७।३।११), मेरी वैसी श्री वृद्धि न हो कि जिसके लिए भक्तजनों को छोड़ना पड़े।' (मा मे श्रिया संगमनमस्तु यस्याः कृते भक्तजनं त्यजेयम् १७।३।६) यह है पृथिवी की आँखों से स्वर्ग का दर्शन ; पृथिवी का स्नेह एवं ममता का वन्धन यहाँ परम स्वीकृति पाकर जययुक्त हुआ है, यह प्राणी के प्रति प्राणी की आसक्ति या आकर्षण का जय घोष है। इससे ऊपर युधिष्ठर उठना नहीं चाहते एवं देवदूत अथवा इन्द्र अन्त में उनके मानवीय आकर्षण एवं आसक्ति को मर्यादा देने के लिए वाध्य हुए। महाकाव्य की भाषा में कुत्ता साक्षात् धर्म है। मनुष्य जिसे नितान्त प्रयोजनीय मानकर जीवन के अन्त तक अविच्छेद्य रूप से साथ रखकर गौरवान्वित करता है एवं अशेष मूल्य देकर मर्यादा प्रदान करता है, वही तो धर्म है।

अन्त में, महाभारत के कई ऐसे रूपकों की आलोचना या उनका विश्लेषण किया जा रहा है, जो सभी प्रत्यक्षतः रूपक न होते हुए भी रूपक की व्यंजना वहन करते हैं। पहले द्यूत-सभा को लें। वैदिक युग में राजसूय यज्ञ के पूर्व भावी राजा को जुआ खेलना पड़ता था किन्तु यह आनुष्ठानिक कृत्य महाभारत में अन्य तात्पर्य लेकर आता है। क्षत्रिय योद्धा के लिए समस्त जीवन ही एक वड़े पैमाने पर जीवन के साथ मृत्यु की द्यूत-क्रीड़ा था ; वृद्धावस्था में आत्मीयों, सगे-सम्वन्धियों से घिरी शय्या पर देह-त्याग उसके भाग्य में कम ही होता। उसे जीवन भर अपने न्याय-संगत अधिकार या प्राप्य के लिए अथक युद्ध करना पड़ता है, जो उसकी शक्ति-सामर्थ्य के भीतर होता उस पर जय प्राप्त करता एवं जो उसका भोग्य होता उसकी रक्षा करता। इसमें कभी जय, कभी पराजय एवं मृत्यु होती। कुरुक्षेत्र युद्ध की अन्तर्लीन भाग्य-परीक्षा एवं उसके अनिश्चित परिणाम की छाया इस

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

द्यूत-सभा में दिखाई पड़ती है। दरअसल यह घटना भी है और प्रतीक भी है।

मौपल पर्व में एक गर्हित अपराध के चलते लोहे के मूसलों के आघात से यदुवंश का सर्वनाश हुआ। ध्यान देने योग्य है कि यहाँ मूसल ने जैसे स्वयंचालित मारणास्त्र की भूमिका ग्रहण की। इसके पीछे अवश्य ही गान्धारी का अभिशाप है किन्तु वर्णन प्रतीकात्मक है। यदुवंशियों ने उन्मत्तों की तरह अपने सगे-सम्बन्धियों की हत्या करना शुरू कर दिया। अस्त्र यहाँ जैसे अस्त्रधारी की भूमिका में हो। कुरुक्षेत्र का युद्ध भी तो भ्रातृघाती था, वहाँ कृष्ण के उकसाने पर पाण्डवों ने क्षत्रियोचित एवं वीरोचित समस्त प्रतिश्रुतियों, प्रतिज्ञाओं का उल्लंघन करके कौरव महारथियों की हत्या की थी। उस दिन मनुष्यता का सिर नीचा हुआ था। मौपल पर्व में मारणास्त्र ने जैसे प्राणवान होकर और एक भातृघाती हत्याकाण्ड में सफलता प्राप्त की। लगता है, कृष्ण के वंश का विनाश ही कुरुक्षेत्र का यथार्थ उपसंहार है।

शान्ति पर्व में एक कहानी है कि सृष्टि के पश्चात् ब्रह्मा सृष्टि-रक्षा के प्रति चिन्तित थे, उसी समय एक नारी मूर्त्ति—मृत्यु दिखाई पड़ी। ब्रह्मा ने उससे सृष्टि को ध्वंस करने की बात कही तो वह रो पड़ी। ब्रह्मा ने हथेली में उसके आँसुओं को रोप लिया—ये व्याधियाँ हैं। वह नारी या मृत्यु तपस्या करने चली गई, ब्रह्मा ने पुनः उसे सृष्टि के ध्वंस का भार सौंपा। मृत्यु ने भिक्षा माँगी : मनुष्य का शत्रु ही उसके ध्वंस का कारण हो। ब्रह्मा ने कहा, तथास्तु। (१२। २४८-२५० वंगवासी) यह कहानी निश्चय ही सब मृत्यु की व्याख्या नहीं है तब भी इस रूपक में कुरुक्षेत्र-युद्ध के सर्वव्यापी विनाश का एक रूपक सूत्र निश्चय ही प्राप्त होता है।

तीसरा एक रूपक अग्निदाह है : इसका उल्लेख तीन बार हुआ है। पहला लाक्षागृह के दाह में उद्दिष्ट या निर्धारित दाह्य व्यक्ति अर्थात् पाण्डवों एवं कुन्ती को मुक्ति तो मिली किन्तु निरपराध एक निषाद

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

परिवार के छह व्यक्तियों ने कुन्ती के निमंत्रण की रक्षा के लिए अपने प्राण गँवाए। खाण्डव वन का दहन दूसरा अग्निकाण्ड है, वहाँ भी कृष्ण और अर्जुन की करतूत से तमाम निरपराध अरण्य वासियों ने प्राण गँवाए, प्रतिशोध की स्पृहा के साथ तक्षक जीवित रह गया। तीसरा अग्निदाह आश्रमवासिक पर्व में है जहाँ धृतराष्ट्र, गान्धारी, कुन्ती और संजय की मृत्यु दावानल से होती है। किन्तु इन सब के अन्तराल में और एक वृहत्तर अग्निकाण्ड कुरुक्षेत्र की रणभूमि में हुआ था जिसके प्रतीक ये सारे बाकी अग्निकाण्ड हैं। कुरुक्षेत्र में कौरव-कुल एवं पाण्डव-कुल, क्रोध, लोभ, ईर्ष्या, प्रतिहिंसा, विद्वेष और दम्भ की आग में अठारह दिन तक जलकर समाप्त हो गए। उस अग्निदाह के मुख्य कर्त्ता धृतराष्ट्र थे जिनकी मृत्यु आश्रम में दावानल से हुई। निरपराध गान्धारी और संजय भी जल मरे। जीवन तो ऐसा ही है वह कृपापात्र पर कृपा नहीं करता। और कुन्ती? उन्होंने अपनी सन्तानों को बचाने में निषाद की स्त्री और उसकी सन्तानों की बलि दी थी, इसलिए अग्निदाह से उनकी मृत्यु तो उनका प्राप्य ही था समस्त युद्ध वर्णन का प्रधानतम उपमान अग्नि है—जिसका तेज, दाहिकाशक्ति, शिखा, स्फुलिंग, धुआँ, दीप्ति एवं प्रलयंकर रूप—यह सब क्या अस्त्र के और वीरत्व के उपमान हैं? किन्तु ऐसा लगता नहीं—बल्कि लगता है कि एक आग समूचे महाकाव्य के भीतर व्याप्त है और प्रज्ज्वलित है कभी प्रतीकों के भीतर प्रच्छन्न रूप से तुषाग्नि की तरह कभी प्रकट रूप में दावाग्नि की तरह। एवं परस्पर विरोधी स्वार्थ के टकराव में लोभ तथा क्रोध के इंधन से प्रज्ज्वलित इस अग्नि की दुःसह ज्वाला के भीतर जल-जलकर जीवन का मैल जला-गलाकर इस स्वर्णोपम, अनुपम तथा समुज्ज्वल जीवन बोध को गढ़ा गया है। महान काव्य की रचना के मूल में विपरीत आवेगों का एक साथ समावेश एवं अन्तर्निहित तनाव (Tension) ही मुख्य कारक हैं। आदर्श एवं यथार्थ का संघर्ष, चरित्र एवं भाग्य का संघर्ष, प्रत्याशा एवं प्राप्ति का

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

व्यवधान, योग्यता एवं सार्थकता का पार्थक्य—इन सब के भीतर निहित है वह तनाव जिसने इस महाकाव्य के अन्तर्गूढ़ दबाव एवं ताप की सृष्टि की है ; वही इसके महत्व एवं भारवत्व की अवधारणा का उत्स है।

स्त्री-पर्व में एक रूपक का उल्लेख है— युद्ध के अन्त में युधिष्ठिर जिस क्षण अपने बाहर-भीतर एक सर्वग्रासी सन्नाटा महसूस करते हैं और जिन्दा रहने की कोई सार्थकता नहीं खोज पा रहे हैं, उस समय धृतराष्ट्र से विदुर कह रहे हैं, 'एक घने जंगल में एक कुआं है, एक ब्राह्मण घासों से ढँके उस कुएँ को न देख पाने के कारण कुएँ में गिर पड़ा। गिरते समय कुएँ के किनारे की एक लता को पकड़कर सीधे उल्टा लटका रहा, पाँव ऊपर हैं सर नीचे की ओर है। उस कुएँ की दिशा में ही एक विशालकाय हाथी धीरे-धीरे आगे बढ़ रहा है। इधर जिस लता के सहारे वह व्यक्ति लटका हुआ है, उसकी जड़ चूहे कुतर रहे हैं अर्थात् जिस किसी क्षण लता जड़ से अलग हो जाएगी और उसके बाद ही उसकी मृत्यु अवश्यम्भावी है ; क्योंकि कुएँ के तल में एक महासर्प है।....ऊपर लता की पुष्पित शाखा पर मधुमक्खियों का छत्ता है, मधुमक्खियों का आना-जाना जारी है। इस संकटापन्न एवं निरुपाय स्थिति में वह व्यक्ति लटका हुआ है....केवल बीच-बीच में ऊपर स्थित मधु-चक्र से बूँद-बूँद मधु उसके मुँह में टपक पड़ता है। उससे उसकी प्यास बुझती नहीं बल्कि बढ़ी ही जा रही है। विदुर उपसंहार में कहते हैं— महाराज यही है जीवन।....यह ध्यान में रखना होगा कि मूल महाभारत का आदि संस्करण स्त्री-पर्व में ही समाप्त हुआ था। इसीलिए जीवन भर वितृष्ण युधिष्ठिर को केन्द्र में रखकर जीवन से सम्बन्धित इस चिरन्तन एवं तात्पर्य पूर्ण प्रलम्बित रूपक को मूल महाभारत के अन्तिम भाग में ही स्थान मिला है। रोग-व्याधि-जरा, नाना प्रकार के शत्रुओं, विघ्नों-बाधाओं का आना-जाना, निरन्तर प्राण-संशय, अवश्यम्भावी आसन्न मृत्यु, इन सब के बीच जीवन मनुष्य को क्या देकर लुभाए रखता है ?

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वही मधु। अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में किसी न किसी उत्स अथवा स्रोत से बूँद-बूँद मधु रह-रहकर झर रहा है, इसीलिए हर प्रकार से इस विपन्न एवं अनिश्चित जीवन के प्रति भी मनुष्य की इतनी आसक्ति है।

जिस देश ने जीवन को माया कहा है, यह तो उसकी वाणी नहीं; वह मधु-विन्दु तो सम्पूर्ण सत्य ही है। नहीं तो अवश्यम्भावी विनाश के काले पर्दे के सामने खड़े होकर जीवन का यह जयगान आता कहां से है? महाभारत में मनुष्य जैसे कह रहा है कि जीवन मुझे कुछ देगा, इसलिए नहीं, बल्कि अपनी श्रेष्ठ सत्ता से मैं जीवन को कुछ देने की बाजी लगाता हूँ, मेरी यह चुनौती समस्त मनुष्यों की ओर से है। एक मात्र मनुष्य ही समस्त संकटों से ऊपर उठकर जीवन को महिमान्वित कर सकता है। ग्रीक ट्रैजेडी या त्रासदी के नायकों की तरह बाहर उसकी अवधारित पराजय के बावजूद अन्तिम विजय का स्रोत उसकी अन्तरात्मा के भीतर ही निहित है, वहाँ वह नित्य विजयी है।

सारे महाकाव्यों में ही जीवन की तलाश किसी न किसी रूप में प्रतिफलित है, हालांकि सभी महाकाव्यों में उसकी व्याप्ति अथवा गम्भीरता की मात्रा समान नहीं है। आदि महाकाव्य गिल्गमेश से ही देखने में आता है कि जीवन-जिज्ञासा ही महाकवि की मुख्य प्रेरणा है किन्तु महाभारत में जिस जिज्ञासा, जीवन के मूल्यबोध की जिस अन्वेषणा एवं चरित्र, घटना तथा उपलब्धि के भीतर उस बोध के जिस पुनर्मूल्यायन, उसके प्रसार और गम्भीरता का परिचय प्राप्त होता है वह अन्य किसी भी महाकाव्य में नहीं है। संभवतः यह कहना भी अतिशयोक्ति नहीं होगी कि बाकी सारे महाकाव्य मिलकर मानवीय मूल्य बोध के जिस मानदण्ड के निर्णय की चेष्टा करते हैं, वह पूर्णरूप से महाभारत में ही उजागर हुआ है। महाभारत में ढेर सारे अवान्तर प्रसंगों के बावजूद जहाँ मूल महाकाव्य की जीवन-जिज्ञासा प्रतिबिम्बित है वहाँ

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वह जीवनविमुख नहीं, जीवनोन्मुख है। महाभारत में यत्र-तत्र प्रक्षिप्त दार्शनिकता, वैराग्य, त्याग और अनासक्ति के प्रचुर उपदेश हैं, विशेष रूप से ब्राह्मण्य संयोजन में जीवन के सम्बन्ध में अनीहा, उदासीनता के एक वातावरण की सृष्टि हुई है। किन्तु इन सबका अतिक्रमण करते हुए तो एक अपरिम्लान, ताजा चित्र रह जाता है। अर्थात् चारों ओर संकटों से घिरे कुएँ में आलम्बित, लटका हुआ वह मनुष्य जिसके मुँह में बूँद-बूँद मधु झड़कर पड़ रहा है, इसलिए ही तो वह जीवन की तमाम वंचनाओं, दुखों, विपदाओं एवं यंत्रणाओं को झेल पा रहा है।

महाभारत ने कहा है, 'गुह्यं ब्रह्म यदिदं ते ब्रवीमि न मानुषा श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्। (१२।२८८।२०) 'एक गोपन तत्त्व तुमसे कहता हूँ कि मनुष्य से श्रेष्ठतर और कुछ भी नहीं है।' महाभारत के विराट अंश से जुड़े मायावाद एवं वैराग्य के इतने ढेरों सूखे पत्ते सब के सब उपलब्धि के एक प्रबल झंझावात में उड़ गए। किन्तु अपने दैन्य, कुरूपता, अपूर्णता द्वन्द्व-संघात, आदर्श तथा अपनी साधों, सपनों, वेदनाओं के मर्मान्तिक ताने-बाने के साथ शाश्वत मनुष्य बच गया।.... तो फिर देवता? रवीन्द्रनाथ की तरह महाभारत ने भी जाना है— 'निदारुण दुःख राते/मृत्युघाते/ मानुष चूर्णिल यबे निज मर्त सीमा। तखनो दिबे ना देखा देवतार अमर महिमा?' अर्थात् भयानक दुःख एवं संशय के, संघात के बीच तथा निष्ठुर वंचना एवं व्यर्थता के बीच अपने आन्तर तेज के द्वारा इन सब पर विजय प्राप्त करते हुए मनुष्य अपनी मर्त्य सीमा को लाँघकर देवता हो उठा है। महाभारत ने अनेक चरित्रों के तथा अनेक घटनाओं के विन्यास के माध्यम से इस सत्य का प्रतिपादन किया है; यही कारण है कि महाकाव्य की दृष्टि से इसका स्थान विश्व के समस्त महाकाव्यों के शीर्षस्थान पर है। महाभारत के प्रथम अध्याय में इस महाकाव्य का परिचय है—'भारतस्य वपुर्ह्येतत् सत्यञ्चामृतमेव च, (१।१।२०१) 'महाभारत, भारत का कलेवर, सत्य और अमृत है।'

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

रामायण एवं महाभारत में नारी का स्थान

रचनाकाल की दृष्टि से देखने पर रामायण की रचना ई० पूर्व तीसरी या दूसरी शताब्दी से ईसा की दूसरी अथवा तीसरी शताब्दी के बीच हुई और महाभारत की रचना सम्भवतः ईसा पूर्व पाँचवीं या चौथी शताब्दी से आरम्भ होकर ईसा की चौथी या पाँचवीं शताब्दी में समाप्त होती है। अर्थात् बुद्ध के परवर्ती आठ या नौ सौ वर्षों के के बीच इन दोनों महाकाव्यों की रचना हुई; किन्तु इनमें महाभारत की रचना पहले शुरू होती है और बाद में समाप्त होती है और रामायण की रचना बाद में शुरू होकर पहले समाप्त होती है तथा सम्भवतः सर्व प्रथम पूर्णाङ्ग महाकाव्य का रूप ग्रहण कर लेने के कारण ही इसे आदि काव्य की संज्ञा दी गई। ध्यान में रखना होगा कि रामायण-रचना के समापन-काल के इर्द-गिर्द कितनी महत्वपूर्ण घटनाएँ घटती हैं, जैसे—कौटिल्य का अर्थशास्त्र, वात्स्यायन का काम-सूत्र, श्रीमद्भगवद्-गीता एवं मनु-संहिता, इसी संक्रान्ति काल की रचनाएँ हैं और इसके कुछ समय बाद ही पुराणों की रचना शुरू हो जाती है। रामायण एवं महाभारत में परवर्ती संयोजित या जुड़े अंशों को अभिपौराणिक संयोजन कहा जाता है अर्थात् पुराणों में प्रतिबिम्बित जिस सामाजिक मूल्य और शास्त्रीय अनुशासन के समावेश के कारण भारतीय धर्म-चिन्तन या दर्शन अपने परिवर्तित रूप में धीरे-धीरे 'हिन्दू धर्म' के नाम से परिचित हुआ, उन सब का परिचय हमें इस अभिपौराणिक भाग में ही प्राप्त होता है। इधर रामायण और महाभारत दोनों की मूल कहानियाँ सम्भवतः प्राचीन काल से ही गाथाओं एवं आख्यानों द्वारा जनमानस में संचरण करती रही फलस्वरूप दोनों महाकाव्यों में धार्मिक एवं सामाजिक मूल्यबोध के दो चित्र प्राप्त होते हैं—जिनमें एक चित्र मूल कहानी का है और एक चित्र संयोजित या प्रक्षिप्त अभिपौराणिक अंश का है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रथमतः, रामायण की ही चर्चा करें। क्योंकि इसकी रचना बाद में शुरू होती है, इसलिए इसके मूल अंश के भीतर ही अभिपौराणिक अंश का कुछ अनुप्रवेश हो चुका था। तब भी स्पष्ट दीखता है कि कैकेयी दशरथ को पूर्वप्रतिज्ञा में बाँधने का साहस करती हैं—लक्ष्मण के वनगमन करने पर भी उर्मिला उनके साथ न जाकर राजप्रासाद में ही रह गईं, दशरथ की मृत्यु के पश्चात् उनकी रानियाँ 'सती' न होकर विधवा के रूप में जिन्दा ही रहीं। मन्दोदरी विलाप करते समय पति की निन्दा करती हुई कहती हैं—

'न कुलेन न रूपेण न दाक्षिण्येन मैथिली।
मयाधिका वा तुल्या वा तत्तु मोहान्त बुध्यसे॥
(वाल्मीकीय रा० ६। १११। २८)

—सीता वंश-गौरव में, रूप में अथवा दाक्षिण्य या औदार्य में तनिक भी मुझसे श्रेष्ठ नहीं, यहाँ तक कि मेरे समान भी नहीं, तुमने मोह वश इस बात को समझा नहीं। मन्दोदरी पतिगर्विणी थीं, उन्होंने रावण के रूप गुण, शौर्य और चरित्र की प्रशंसा की; किन्तु दोषारोपण भी किया।

त्वया कृतमिदं सर्वमनाथं राक्षसं कुलम्।
सुहृदां हितकामानां न श्रुतं वचनं त्वया॥
—(६। १११। ७६)

—'तुमने समस्त राक्षस कुल को अनाथ किया है। हितैषी मित्रों की बातों पर ध्यान नहीं दिया।' मन्दोदरी ने ही केवल राक्षस नारी होने के कारण पति की निन्दा की है ऐसा नहीं बल्कि राम द्वारा प्रत्याख्यान या अस्वीकार के पश्चात् सीता ने भी कहा था—

मदधीनं तु यत्तन्मे हृदयं त्वयि वर्तते।
पराधीनेषु गात्रेषु किं करिष्याम्यनीश्वरी॥
—(६। ११६। ६)

—मेरे अपने वश में जो मेरा मन, वह तो तुम में ही है, शरीर तो

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पराधीन है, उसके सम्बन्ध में अक्षम मैं क्या करूँगी। पहले भी राम-चन्द्र से कहा था—

स्वेन चारित्रेण ते शपे—(६ । ११६ । ६)

मैं अपने चरित्र की शपथ लेकर कहती हूँ। और भी कहा—

सहसंवृद्धभावेन संसर्गेण च मानद।
यदि तेऽहं न विज्ञाता हता तेनास्मि शाश्वतम् ॥
—(६ । ११६ । १०)

—तुम और मैं दोनों एक साथ बड़े हुए हैं, एक साथ जीवन जिया है। इतने दिनों के संसर्ग, एकत्रवास के बावजूद यदि तुम मुझे पहचान नहीं पाए तो फिर सदैव के लिए मैं हतभागिनी हूं।

यही सीता, जो रामायण में मुख्य चरित्र न भी मानें तब भी एक मात्र ऐसा नारी-चरित्र है जिसके जीवन की घटनाओं को देखने या केन्द्र में रखने से ही रामायण में नारी की स्थान-सम्बन्धी धारणा पुष्ट होगी। राक्षस अकम्पन ने सीता के बारे में कहा था—

नैव देवी न गन्धर्वी नाप्सरा न च पन्नगी।
तुल्या सीमन्तिनी तस्या मानुषी तु कुतो भवेत् ॥ ३ । ३१ । ३०)

देवकन्या, गन्धर्वकन्या, अप्सरा और नागकन्या कोई भी नारी सीता के समान नहीं फिर तो मनुष्य जाति की नारी उनके समान कैसे होगी ? इस अनन्या नारी ने पति के वन-गमन का समाचार मिलते ही निश्चय किया कि वे भी वन जाएँगी। मूल कहानी में संभवतः सीता ने पति वियोग की आशंका से ही वन जाना चाहा था किन्तु बाद में जो सब संयोजन हुआ उस के भीतर उस अभिप्राय की पहचान मिल जाती है, जैसे सीता कहती हैं—

त्वया विना नर व्याघ्र नाहं तदपि रोचये। (२ । २७ । २१)
अथवा, त्वद्वियोगेन मे राम त्यक्तव्यमिह जीवितम्। (२ । २८ । ५)
अथवा—उज्झितास्त्वया नाथ तदैव मरणं वरम्। (२ । ३० । २०)
इमं हि सहितुं शोकं मुहूर्तमपि नोत्सहे (२ । ३० । २१ ।)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

—हे ! नरव्याघ्र तुम्हें छोड़कर स्वर्ग में भी मेरी रुचि नहीं—राम ! तुम्हारे विरह में प्राण त्याग दूँगी। तुम्हें परित्याग करने की अपेक्षा मृत्यु ही अच्छी है। यह शोक मैं एक क्षण भी नहीं सह सकती। यह सब बातें प्रेम की हैं। प्रेम दर्शन न कर पाने के विच्छेद या वियोग सहन न करने की सम्भावना से अधिक मृत्यु को ही श्रेष्ठ जानता है। ये सीता प्राचीनतर उपाख्यान की नायिका हैं। जो पतिव्रता होने के कारण नहीं, राम को प्यार करने के कारण ही स्वेच्छया प्रसन्नतापूर्वक उनके साथ वन गई थीं, कर्त्तव्य अथवा पतिव्रता धर्म का पालन करने की दृष्टि से नहीं। किन्तु इसके ही साथ परवर्ती काल का पतिव्रता-धर्म प्रायः ओतप्रोत रूप में मिला हुआ है। जिसने उनके स्वतः स्फूर्त प्रेम के महत्त्व को म्लान कर दिया है। यहीं सुनाई पड़ता है 'श्रुतिर्हि श्रूयते पुण्या ब्राह्मणानां यशस्विनाम्।' यशस्वी ब्राह्मणों की पुण्य उक्ति सुनी जाती है; आखिर वह उक्ति क्या है ? अर्थात् भर्ता हि परम दैवतम्—पति ही परम देवता है, परमेश्वर है। (२।२९।१६)

अथवा—इह प्रेत्य च नारीणां पतिरेको गतिः सदा। (२।२७।६)
अथवा—प्रासादाग्रे विमानैर्वा वैहाहसगतेन वा।
सर्वावस्थागता भर्तुः पादच्छाया विशिष्यते॥ (२।२७।२)

—पार्थिव जगत में एवं परलोक में सर्वदा ही पति ही नारी की एक मात्र गति है। वह चाहे प्रासाद में हो, आकाश में, विमान में जहाँ ही हो, पति की पदच्छाया का विशिष्ट स्थान है। विदा के समय सीता कौशल्या से कहती हैं—

नातंत्री वाद्यते वीणा ना चक्रो विद्यते रथः।
नापतिः सुखमेधते या स्यादपि शतात्मजा॥ २।३९।२९

—तार रहित वीणा, पहियों से वंचित रथ नहीं होते। पति-विहीन नारी सौ पुत्रों की मां होने पर भी सुख नहीं पाती। अथवा राम से कहती हैं—

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

गतिरेका पतिर्नार्या द्वितीया गतिरात्मजः ।
तृतीया ज्ञातयो राजंश्चतुर्थी नैव विद्यते ॥ (२ । ६१ । २४)

—हे राजन् । नारी की प्रथम गति, पति है, द्वितीय पुत्र, तृतीय स्वजन के अतिरिक्त चतुर्थ कोई गति नहीं

रावण जब सीता का हरण करने आए उस समय सीता ने उन्हें जिस भाषा में दुत्कारा एवं तिरस्कृत किया है उसका बहुत कुछ ही प्रेम एवं पति पर गर्व के कारण कहा गया, केवल पतिव्रता-धर्म की दृष्टि से नहीं। कहती हैं—नृसिंह सिंहसंकाशमहं राममनुव्रता (३ । ७४ । ३३) मैं सिंह सदृश उस नरसिंह राम की अनुव्रता हूँ, उसी पुरुष सिंह के प्रति मेरी अनन्य भक्ति है। सीता रावण को बुरी तरह धिक्कारती हैं और बार-बार यही कहती हैं—राघवस्य प्रियां भार्यां यस्त्वमिच्छसि। तुम राम की प्रिय भार्या को चाहते हो राक्षस !

आशीविषस्य वदनादंष्ट्रामादातुमिच्छसि ।
× × ×
कालकूटं विषं पीड़ा स्वस्तिमान् गन्तुमिच्छसि ।
× × ×
सूर्याचन्द्रमसौ चोभौ पाणिभ्यां हर्तुमिच्छसि ।
× × ×
अग्निं प्रज्वलितं दृष्ट्वा वस्त्रेणाहर्तुमिच्छसि ।
(३ । ४७ । ३६, ४०, ४२, ४३)

—अर्थात् विषधर सर्प के मुँह से उसके दाँत निकाल लेना चाहते हो ; कालकूट विष को पीकर कुशल पूर्वक लौट जाने की इच्छा करते हो, सूर्य और चन्द्र को अपने हाथ से हर ले जाना चाहते हो ; जलती आग को कपड़े में बाँध ले जाना चाहते हो ? यह केवल पातिव्रत्य अथवा पति परायणता की बातें नहीं हैं। इनके भीतर सीता के गहरे प्रेम की अभिव्यक्ति है। और रामचन्द्र के लिए उन्हें गर्व है, जिस गर्व के कारण उन्होंने रावण से कहा —'तुम्हारे साथ राम का पार्थक्य कुछ इस प्रकार है—

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

यदन्तरं सिंह शृगालयोर्वने····
यदन्तरं कांचनसीसलोहयोः····
यदन्तरं वायसवैनतेययोः···· (३ । ४७ । ४५, ४६, ४७) जैसे वन में सिंह और सियार में, सोने के साथ सीसे-लोहे में, गरुड़ और कौवे में जो पार्थक्य है वही पार्थक्य राम में और तुम में है। इसलिए—

अपहृत्य शचीं भार्यां शक्यमिन्द्रस्य जीवितुम्।
नहि रामस्य भार्यां मामानीय स्वस्तिमान भवेत्॥
(३ । ४८ । २३)

—इन्द्र की भार्या शची का अपहरण करके भी बचना सम्भव है किन्तु राम की भार्या मुझे ले जाकर तुम्हें चैन नहीं प्राप्त होगा। यह बात उस अहंकार की है जो अहंकार राम को लेकर है, यानी राम के शौर्य और पत्नी-प्रेम के विश्वास से जो अहंकार जन्म लेता है। इस सहज अनुभूति के महत्त्व को उस धार्मिक एवं सामाजिक विधान ने जो इस महाकाव्य में यत्र-तत्र प्रक्षेप के रूप में मिला हुआ है, बार-बार क्षीण किया है। (पहले यह धारणा थी कि रामायण का प्रक्षेप केवल बाल-काण्ड एवं उत्तर काण्ड में है ; किन्तु अब अनुसन्धान द्वारा पता चलता है कि वे दोनों काण्ड प्रायः सम्पूर्ण ही प्रक्षिप्त हैं ; किन्तु अन्यान्य काण्डों में भी प्रचुर मात्रा में प्रक्षेप है। द्रष्टव्य है, रामायण के सम्बन्ध में साम्प्रतिक गवेषणा का सर्वाधिक प्रामाणिक ग्रन्थ, J. L. Boockington : The Righteous, Rama. oxford university Press, 1984 जिसमें ग्रन्थकार ने प्रमाणित किया है कि एक क्षत्रिय वीर की कहानी किस प्रकार धीरे-धीरे धर्मग्रन्थ में परिणत हुई। इस परिवर्तन में अभिपौराणिक प्रक्षेपों की भूमिका अत्यन्त ही स्पष्ट है।) रावण ने जब छल से राम की मृत्यु की घोषणा की तब सीता ने सोचा :—

नूनं ममैव शोकेन स वीरो लक्ष्मणाग्रजः।
देवलोकमितो यातस्त्यक्त्वा देहं महीतले॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

—निश्चय ही मेरे ही वियोग या शोक में वीर रामचन्द्र देह त्याग कर देवलोक चले गए। हनुमान के साथ भेंट होने पर एक लम्बी प्रश्न-माला के द्वारा राम की कुशलता का समाचार प्राप्त करने के पश्चात् प्रश्न किया 'क्वचिन्मां व्यसनादस्मान्मोक्षयिष्यति'''''राघवः ? (५। ३६। २०) —रामचन्द्र इस विपत्ति से मुझे छुटकारा दिलाएँगे तो ?

इन्हीं सीता को दीर्घकाल तक न देखने के बाद रामचन्द्र ने जब पहली बार देखा तब क्या कहा ? 'युद्ध करके जो विजय प्राप्त किया है वह तुम्हारे लिए नहीं'—न त्वदर्थं मयाकृतः (६। ११५। १५) तो फिर युद्ध या विजय किस लिए ?

प्रख्यातस्यात्मवंशस्य न्यंगंच परिमार्जता (६। ११५। १६) अपने प्रख्यात वंश के कलंक मोचन के लिए किया है।

प्राप्तः चारित्रसन्देहा मम प्रतिमुखे स्थिता।
दीपो नेत्रातुरस्येव प्रतिकूलासि मे दृढ़ा॥
तद्गच्छ त्वानुजानेहऽद्य यथेष्टं जनकात्मजे।
एता दश दिशो भद्रे कार्यमस्ति न मे त्वया॥
कः पुमांस्तु कुले जातः स्त्रियं परगृहोषिताम्।
तेजस्वी पुनरादद्यात् सुहृल्लोभेन चेतसा॥
रावणांकपरिक्लिष्टां दुष्टां दुष्टेन चक्षुषा।
कथं त्वां पुनरादद्यात् कुलं व्यपदिशन्ममहत्॥
यदर्थं निर्जिता मे त्वं सोऽयमासादि मया।
नास्ति मे त्वय्यभिष्वंगो यथेष्टं गम्यतामिति॥
(६। ११५। १७-२१)

'तुम्हारे चरित्र पर मुझे सन्देह है, जैसे नेत्ररोगी के सम्मुख दीपक होने पर उसे कष्ट होता है उसी प्रकार तुम मेरे सम्मुख हो, इससे मैं तुम्हारे प्रति प्रतिकूलता का अनुभव करता हूँ। इसलिए इन दस दिशाओं में तुम्हारी जहाँ इच्छा हो, तुम जाओ; तुम्हें अनुमति देता हूँ; अब तुमसे मेरा कोई सरोकार नहीं। क्या कोई अच्छे वंश में जन्मा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तेजस्वी पुरुष ऐसी नारी को जो दूसरे के घर में रह आई हो, मैत्री के लोभ में पुनर्वार ग्रहण करेगा ? रावण की अंक-कलंकिता तथा उसकी दुष्ट दृष्टि से दूषिता तुम जैसी नारी को मैं अपने महान वंश को दूषित करके किस प्रकार तुम्हें दूसरी वार ग्रहण करूँगा ? जिस कारण मैंने तुम्हारा उद्धार किया है वह उद्देश्य मेरा सिद्ध हो गया—तुममें अव मेरी कोई आसक्ति नहीं। जहाँ इच्छा हो, चली जाओ।' इतना भी यथेष्ट नहीं हुआ तो राम सीता के भविष्य का मार्ग भी दिखा दे रहे हैं—

तदस्य व्याहृतं भद्रे मयैतत् कृतबुद्धिना।
लक्ष्मणे वाथ भरते कुरु बुद्धि यथा सुखम्॥
(६।११५।२२)

'आज सुबुद्धि से प्रेरित होकर तुमसे यह कहा है, भद्रे ! लक्ष्मण अथवा भरत जिससे तुम्हें सुख प्राप्त हो, उसे वरण कर लो।' स्मरण रखना होगा कि वन-गमन के पूर्व लक्ष्मण जव सुमित्रा को प्रणाम करने गए थे तव सुमित्रा ने लक्ष्मण से कहा था—

रामं दशरथं विद्धि मां विद्धि जनकात्मजाम्।
अयोध्यामटवींविद्धि गच्छ तात यथा सुखम्॥

'वत्स ! राम को दशरथ की तरह मानना, सीता को मेरी तरह मानना, और अरण्य को अयोध्या समझना, जाओ, सुख पूर्वक जाओ।' इस निर्देश के कारण लक्ष्मण सीता के पाँवों के आभूषण के अतिरिक्त और कुछ पहचान नहीं पाए ; क्योंकि प्रणाम करते समय केवल पाँव ही देख पाते। आज उस लक्ष्मण को रामचन्द्र ने अपमानित किया ; सीता को तो पूरी तरह ही अपमानित किया। कई एक रामायण के संस्करणों में प्रत्याख्यान के समय और भी कुछ वातें राम के मुँह से कहलवाई गई हैं, और महाभारत के वन-पर्व के रामोपाख्यान में तो संशोधित संस्करण में भी वह सुरक्षित है। वहाँ राम कहते हैं—

गच्छ वैदेहि मुक्ता त्वं यत् कार्यं तन्मया कृतम्॥
मामासाद्य पतिं भद्रे न त्वं राक्षसवेश्मनि।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जरा व्रजेथा इति मे निहतोऽयं निशाचरः ॥
कथं ह्यस्मद्विधो जातु जानन् धर्मं विनिश्चयम् ।
परहस्तगतां नारीं मुहूर्तमपि धारयेत् ॥
सुवृत्तामसुवृत्तां व्याप्यहं त्वामद्य मैथिलि ।
नोत्साहे परिभोगाय श्वावलीढं हविर्यथा ॥
(महाभारत ३ । २७५ । १०-१३)

—'जाओ वैदेही तुम मुक्त हो। मुझे जो करना था, वह किया। मुझे पति-रूप में पाकर तुम कहीं राक्षस के घर में जराग्रस्त न हो जाओ, इस कारण मैंने राक्षस का वध किया। मेरे जैसा व्यक्ति जो धर्माधर्म के विनिश्चय को जानता है, वह परहस्तगता नारी को एक मुहूर्त के लिए भी किस प्रकार स्वीकार करेगा? अब तुम सच्चरित्र या दुश्चरित्र जो भी हो मैथिली! मैं तुम्हारा परिभोग नहीं कर सकता, तुम कुत्ते द्वारा चाटे गए घी की तरह हो जिसका उपयोग सम्भव नहीं।' यहाँ कई विषयों या बातों का विश्लेषण करने से ही तत्कालीन समाज में नारी के स्थान का पता चलता है, विशेष रूप से तो अभिपौराणिक अंश के जुड़ने के बाद उसका स्थान क्या था, स्पष्ट हो जाता है। प्रथमतः 'तुम मुक्त हो'—किससे मुक्त? क्या विवाह-बन्धन से? वह क्या इतना आसान है? धर्मसूत्र में है कि बलात्कृता नारी को भी दूसरे महीने से पति पवित्र समझेगा। एवं रामायण की रचना बहुत कुछ कई धर्मसूत्रों की समसामयिक है और कई की परवर्ती है, इसलिए ये शास्त्र राम के लिए अपरिचित नहीं थे तब भी सीता के परित्याग में राम को कोई संशय नहीं। उसके बाद राम ने व्याख्या करते हुए एक रूढ़ या कठोर सत्य कहा है कि उन्होंने युद्ध क्यों किया? इक्ष्वाकु वंश की मर्यादा की रक्षा के लिए और अपने शौर्य को अक्षुण्ण रखने के लिए; रावण के प्रासाद में राम की स्त्री के रूप में सीता के जराग्रस्त हो जाने से राम के शौर्य का महत्व कम होता है, इसलिए युद्ध किया, सीता के लिए नहीं। राम जैसे सूक्ष्म धर्म-बुद्धि सम्पन्न

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

व्यक्ति परहस्तगता नारी को एक मुहूर्त के लिए भी किस प्रकार स्वीकार करेंगे ? अतएव सीता चाहे सच्चरित्र हों चाहे दुश्चरित्र ही हों, राम के पक्ष में उनका 'भोग' सम्भव नहीं। प्राचीन भारत में नारी का स्थान उपरोक्त 'परिभोगाय' शब्द में अत्यन्त स्पष्ट हो उठा है। सीता 'भोग' के योग्य क्यों नहीं रहीं ? जैसे कुत्ते द्वारा चाटा गया घी यज्ञ में व्यवहृत नहीं होता उसी प्रकार परहस्तगता नारी भी अपने पति के भोग के योग्य नहीं। स्मरण रखना होगा कि यह अपराध सीता के प्रति स्वयं रावण ने भी नहीं किया। रावण ने सीता के साथ बलात्कार किया या नहीं, यह जानने की भी जरूरत नहीं एवं राम ने सीता से अलग रहने के समय या उनकी अनुपस्थिति में क्या किया, सीता को यह प्रश्न करने का कोई अधिकार नहीं। प्राचीन भारत नारी के 'सतीत्व' से अच्छी तरह परिचित था और 'सती' शब्द के उस अर्थ में किसी पुंलिंग शब्द की भी रचना नहीं की अर्थात् पति की एकनिष्ठता का अभाव सामाजिक दृष्टि से गर्हित नहीं था। स्त्री को केवल सन्देह-वश ही त्याग दिया जाता। इतने बड़े अन्याय एवं अपमान के पश्चात् सीता ने लक्ष्मण को चिता तैयार करने के लिए कहा—

अप्रीतेन गुणैर्भर्त्रा त्यक्ताया जन संसदि।
गा क्षमा मे गतिर्गन्तुं प्रवेक्ष्य हव्यवाहनम्॥
(६। ११६। १६)

—'जो पति स्त्री के गुणों से प्रसन्न नहीं होता, वह अगर जन-सभा में उसका त्याग करता है, तब उस स्त्री का जिस रास्ते पर जाना सम्भव है, मैं वही करूँगी, अग्नि में प्रवेश करूँगी।' एकत्र जन-समुदाय में सभी को आशा है कि राम सीता की चिता तैयार करने के लिए लक्ष्मण को मना करेंगे किन्तु—

न हि रामं तदा कश्चित् कालान्तकयमोपमम्।
अनुनेतुमथो वक्तुं द्रष्टुं वाप्यशकत् सुहृत्॥
(६। ११६। २२)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

—उस समय राम यमराज की तरह दिख रहे थे। उनसे अनुनय करना, उन्हें कुछ बोलना, यहाँ तक कि उनकी ओर देखने का किसी मित्र में साहस भी नहीं था। राम की इस नैतिक आत्मतुष्टि एवं अपराधी के दण्ड विधान की भूमिका ने उन्हें तत्कालीन समाज के स्त्री-पुरुष का सापेक्ष मूल्यबोध प्रदान किया था। अर्थात् बिल्कुल निरपराध स्त्री को सन्देह-वश त्याग करने की यह दृढ़ धारणा कोई अन्याय ही नहीं।

इसके पश्चात् सीता ने कहा—

यथा मे हृदयं नित्यं नापसर्पति राघवात्।
तथा लोकस्य साक्षी मां सर्वतः पातु पावकः॥
कर्मणा मनसा वाचा यथा नातिचराम्यहम्।
राघवं सर्व धर्मज्ञं तथा मां पातु पावकः॥
आदित्यो भगवान वायुदिशश्चन्द्रस्तथैव च।
अहश्चापि तथा सन्ध्ये रात्रिश्च पृथिवी तथा॥
यथान्येपि विज्ञानन्ति तथा चारित्र संयुताम्॥
(६।११६।२५, २७, २८)

—'जिस कारण मेरा हृदय रामचन्द्र से कभी अलग नहीं हुआ, अतएव लोक साक्षी अग्नि चारों ओर से मेरी रक्षा कीजिए। मन, वचन, कर्म से जिस कारण सर्वधर्मज्ञ राम का कभी उल्लंघन नहीं किया उसी कारण अग्नि मेरी रक्षा कीजिए। भगवान सूर्य, वायु, दिशायें चन्द्र, दिन, सन्ध्या, रात्रि एवं पृथ्वी अन्य भी जिस कारण जानते हैं कि मैं इस प्रकार चरित्रवती हूँ। —यह शपथ लेकर अग्नि प्रवेश के दो पक्ष हैं जिसमें एक पक्ष 'सत्य क्रिया' है। किसी व्यक्ति के प्रति अन्य किसी के सन्देह करने पर वह अपने को निर्दोष प्रमाणित करने के लिए प्रकृति की नित्य स्थायी शक्तियों को साक्षी मानता है। दूसरे पक्ष की भूमिका में राष्ट्र व्यवस्था के अन्तर्गत ऐसी स्थिति में चार प्रकार के विचार हैं: विष, अग्नि, जल एवं तुला अर्थात् स्वयं को निर्दोष प्रमाणित करने के

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

लिए अभियुक्त व्यक्ति यदि निरपराध है तो विष खाने पर उसके शरीर में विष का प्रभाव नहीं होता, अग्नि में प्रवेश करने पर जलता नहीं, जल में डूबने पर मृत्यु नहीं होती एवं तुलादण्ड पर उसके भार की तुलना में हलका हो जाता है। यह शपथ लेकर अग्निप्रवेश करने पर जब सीता जली नहीं तब धर्म एवं राष्ट्र की न्याय-दृष्टि में वे निर्दोष प्रमाणित हुईं। यह कहना अतिशयोक्ति होगी कि तत्कालीन विश्वास की पटभूमि में यह शपथ एकमात्र सम्पूर्ण निरपराध वह व्यक्ति ही ले सकता था जो मन वचन, एवं कर्म से पवित्र होता।

अयोध्या लौटकर कुछ दिनों तक सुख पूर्वक रहने के पश्चात् लोगों ने राम के बारे में कहना प्रारम्भ कर दिया—

कीदृशं हृदये तव सीता सम्भोगजं सुखम्।
अंकमारोप्य तु पुरा रावणेन बलाद्धृतम्॥

(७।४३।१७)

रावण ने जिसे गोद में लेकर बलपूर्वक हरण किया, उस सीता के साथ सम्भोग में तुम्हें कैसे सुख मिलता है? ध्यान देने योग्य है कि सीता की अग्नि परीक्षा के साक्षी अन्ततः राम और लक्ष्मण दो व्यक्ति थे। देवताओं में विशेष रूप से ब्रह्मा ने आकर सीता की शुचिता की घोषणा की थी—इन सब का कोई उल्लेख नहीं किया गया। प्रजा के श्लेषयुक्त वाक्यों को सुनकर राम विचलित हुए; क्योंकि प्रजाने कहा—

अस्माकमपि दारेषु सहनीयं भविष्यति।
यथा हि कुरुते राजा प्रजास्तमनुर्वतन्ते॥

(७।४३।१६)

—ऐसा होने पर हमारी स्त्रियों को भी इस अपराध को सहन करना पड़ेगा। राजा जैसा करता है प्रजा उसी का अनुवर्तन या अनुकरण करती है। राम ने कहा, यह लोकनिन्दा उनके मर्म को छलनी कर रही है। लक्ष्मण से कहा सीता ने अपनी शुचिता का प्रमाण दे दिया है (७।४४।६-१०) तब भी—

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अकीर्तिर्निन्द्यते देवैः कीर्तिर्लोकेषु पूज्यते ॥

—देवता अपकीर्ति की निन्दा करते हैं, संसार में कीर्ति की पूजा होती है।—अतएव सीता के परित्याग का सिद्धान्त स्थिर किया। परित्यक्ता सीता ने लक्ष्मण द्वारा राम को कहला भेजा—

यच्च ते वचनीयं स्यादपवादसमुत्थितः
मया च परिहर्तव्यं त्वं हि मे परमागति ॥

(७।४८।१३, १४)

—इस अपवाद से तुम्हारी जो निन्दा हो रही है उसका निवारण करना ही मेरा कर्त्तव्य है; क्योंकि तुम मेरी परम गति हो।—उस समय समाज में नारी का यह स्थान था कि नारी की परमगति पति ही है। स्त्री के प्रति अन्याय, अभियोग, मिथ्या सन्देह के खण्डन करने का दायित्व पति का नहीं, किन्तु पति निन्दा को हर प्रकार से बचाना ही स्त्री का परम कर्त्तव्य है।

राजसभा में दूसरी बार अग्नि परीक्षा देकर सीता को अपनी शुचिता को पुनः प्रमाणित करने का आदेश राम ने दिया। सभा में सीता के कुछ कहने से पहले ही वाल्मीकि ने कहा—

बहुवर्षसहस्राणि तपश्चर्या मयाकृता।
नोपाश्नीयां फलं तस्या दुष्टेयं यदि मैथिली।
मनसा कर्मणा वाचा भूतपूर्वं न किल्विषम्।
तस्याहं फलमश्नामि अपापा यदि मैथिली।
इयं शुद्ध समाचारा अपापा पतिदेवता।

(७।९६।२०, २१, २३)

हजारों वर्षों तक मैंने तपस्या की है, यदि सीता दुश्चरित्रा हो तो फिर उस तपस्या का फल मैं न भोगूं। मैंने मन, वचन, कर्म से कभी अन्याय नहीं किया है, सीता यदि निष्पाप हो तो फिर मैं उसका फल भोगूं। यह शपथ लेकर मैं कहता हूँ कि सीता शुद्ध चरित्रा, निष्पाप है, पति ही इसका देवता है।—वाल्मीकि की इतनी बड़ी शपथ ही राम

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

और प्रजा के पक्ष में यथेष्ट प्रमाण होने की बात है। जो ऋषि निष्पाप हैं तथा जिन्होंने हजारों वर्ष तक तपस्या की है उनके पक्ष में जो अन्तिम शपथ हो सकती है, उन्होंने राज सभा में बार-बार उसी की खुलकर घोषणा की है। समाज में नारी का स्थान कितने नीचे उतर गया इसके बाद भी प्रजा का सन्देह दूर करने के लिए क्या फिर सीता की अग्नि परीक्षा का प्रयोजन हो सकता है? अन्ततः वाल्मीकि ने भी सीता को अग्नि परीक्षा देने के लिए कहा। सीता ने कहा—

यथाऽहं राघवादन्यं मनसापि न चिन्तये।
तथा मे माधवी देवी विवरं दातुमर्हति॥
मनसा कर्मणा वाचा यथा राममभ्यर्चये।
तथा मे माधवी देवी विवरं दातुमर्हति॥
यथैतत् सत्यमुक्तं मे वेद्मि रामात् परं न च।
तथा मे माधवी देवी विवरं दातुमर्हति॥

यदि मैंने मन में भी राघव के अतिरिक्त किसी का ध्यान किया हो तो फिर देवी माधवी (पृथिवी) मुझे अपनी गोद में ले लो। मन, वचन, कर्म से यदि राम की ही अर्चना की हो तो फिर देवी माधवी मुझे अपनी गोद में ले लो। राम के अतिरिक्त और किसी को जाना नहीं।--यदि यह सच कह रही हूं तो देवी माधवी (पृथिवी) मुझे अपने आश्रय में ले लो। यही सीता की अन्तिम सत्य क्रिया है।

यहाँ ध्यान देने योग्य यह है कि सीता शुचिता के प्रमाण के विनिमय में क्या चाहती हैं वह उन्होंने एक बार भी नहीं कहा कि राम के प्रति विश्वसनीय बने रहने पर वे तथा प्रजा मेरे प्रति सन्देह त्याग करें, मैं फिर राम की प्रियवधू के रूप में रहूँ, सिंहासन पर उनके पार्श्व में स्थान पाऊँ। उनकी वे समस्त आकांक्षाएँ पता नहीं कहाँ खो गईं। क्योंकि वे भली-भाँति समझ रही हैं कि प्रजा फिर सन्देह कर सकती है एवं राम कभी भी उनके पक्ष का समर्थन नहीं करेंगे, बार-बार ही उन्हें अग्नि परीक्षा का सामना करना होगा। अग्नि परीक्षा के लिए तैयार

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

होना पड़ेगा। जिस समाज में नारी का यह स्थान हो उस पर संदेह करने के लिए वहाँ तर्क तथ्य कुछ भी जरूरी नहीं और विश्वास करने पर समाज क्षुब्ध होता है। वहाँ राजसुख पाने पर भी नारी कभी सम्मान की अधिकारी नहीं होगी ; मनुष्य की मर्यादा कभी नहीं प्राप्त कर पाएगी। इसीलिए उन्होंने आत्म-मर्यादा की रक्षा करने के लिए एक अन्तिम सत्य क्रिया की शपथ ग्रहण करते हुए अपनी शुचिता को प्रमाणित किया ; किन्तु राम से, समाज से, जीवन से उनकी कोई प्रार्थना अथवा प्रत्याशा नहीं। आजीवन जिन्होंने एकनिष्ठ भाव से राम की चिन्ता की है, प्यार किया है, अनुगमन किया है, राम ने उसका क्या मूल्य दिया ? सीता को जब पृथिवी ने अपनी गोद में ले लिया तब राम ने 'क्रोध शोक समाविष्ट' होकर पृथिवी से कहा—

आनय त्वं तां सीतां मत्तोऽहं मैथिलीकृते।

—(७।९८।९)

—सीता को तुम ले आओ, मैथिली के लिए मैं उन्मादग्रस्त हो गया।—विरह में उन्हें कष्ट हो ही सकता है और विवाह भी उन्होंने नहीं किया ; किन्तु उसका तो एक कारण पृथ्वी का सीता को अपने आश्रय में लेने के भीतर ही है कि सीता पूरी तरह निर्दोष प्रमाणित हुई थीं, परिणामतः सर्व साधारण के समक्ष राम तो एक तरह से अपराधी प्रमाणित हुए थे। अन्ततः कुछ अप्रतिभ होने की तो बात ही है। विशेषतः, वाल्मीकि की इतनी महत्वपूर्ण शपथ के पश्चात् तो वे अग्नि परीक्षा की आज्ञा को वापस ले सकते थे। उनके ऐसा न करने पर ही वाल्मीकि ने सीता को अग्नि परीक्षा देने के लिए कहा। और इस क्षोभ के कारण ही सीता ने जीवन से ही नहीं, बल्कि राम के प्रति भी वीतस्पृह होकर पृथिवी का आश्रय चाहा। इसके पश्चात् राम के विरह या वियोग को अधिक महत्व नहीं दिया जा सकता। सीताहरण के पश्चात् राम ने इस तरह पागलों जैसा आचरण किया था कि लक्ष्मण को बार-बार इन्हें अत्यधिक विरहोन्माद प्रकट करने से

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

निवृत्त करने की चेष्टा करनी पड़ी थी। किन्तु इतने विरहोन्माद के पश्चात् राम जब पहली बार सीता को देखते हैं तब कहते हैं कि तुम्हारे लिए नहीं; बल्कि अपने सम्मान के लिए ही युद्ध किया। तुम सच्चरित्र या असच्चरित्र जो भी हो, जाओ, अब तुम मेरे योग्य नहीं हो; कुत्ते द्वारा चाटे गए घी की तरह तुम्हारा कोई उपयोग नहीं। लक्ष्मण, भरत, इनमें से जिसे चाहो स्वीकार कर सकती हो। स्मरण रखना होगा कि उस दिन लंका में सीता के चरित्र पर राम के अलावा किसी ने भी सन्देह नहीं किया। अर्थात् लोक निन्दा की बात उठने के पहले ही राम ने स्वयं सर्वप्रथम सीता की निन्दा की। असहाय नारी को परपुरुष ने स्पर्श किया है, बस यही अमार्जनीय और अक्षम्य अपराध है। सीता ने कहा बचपन से एक साथ बड़े हुए हैं, तुम क्या मुझे जानते नहीं? और कहा मेरे मन में तो एकमात्र तुम्हारा ही वास है; जिस देह पर मेरा अधिकार नहीं था, क्या वही इतनी महत्वपूर्ण हो गई? स्पष्ट है कि मन की शुचिता और देह की शुचिता के सम्बन्ध में समाज ने तब भी अलग से विवेचना नहीं की—आज भी नहीं करता है। इसीलिए अशोक वन में रहते समय सीता को इन्द्र आकर खीर खिला गए ताकि रावण का अन्न उन्हें न ग्रहण करना पड़े। किन्तु भवभूति की भाषा में 'यथा स्त्रीणां तथा वाचां साधुत्वे दुर्जनो जनः।' संसार में दुर्जन लोगों की बातों एवं नारी की शुचिता पर विश्वास नहीं करना चाहिए।

पति ही देवता है, पति नारी की एकमात्र गति है—अतः पति को स्त्री पर सन्देह करने और सन्देहवश उसे त्याग देने का मनमाना अधिकार, जनसाधारण को स्त्री के चरित्र पर सन्देह करने का अधिकार, सन्देहवश निरपराध नारी को दण्ड देने का अधिकार—यह सब कुछ अभिपौराणिक युग के सामाजिक मूल्यबोध एवं नारी के स्थान-निरूपण के एकतरफा अधिकार की देन है। ध्यान देने योग्य है कि लंका में सीता को अपने पक्ष के समर्थन में कुछ नहीं कहने दिया गया। उनके

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आचरण के सम्बन्ध में प्रश्न भी नहीं किया। उनका एकमात्र अपराध है कि रावण ने हरण करने के समय उनका स्पर्श किया था। जब पराये पुरुष का स्पर्श इतना बड़ा अपराध हो तब नारी पूर्ण रूप से अन्तः-पुरवासिनी हो उठती है, एकमात्र पुरुष पति के अतिरिक्त अन्य किसी का संग-साथ उसके पक्ष में उस समय सम्पूर्ण निषिद्ध हो जाता है। उसके न्याय-निर्णय की पद्धति इस प्रकार है—निर्दोष प्रमाणित न होने तक यह मान लिया जाएगा कि वह दोषी है। पुरुष के निकट इससे मिलती जुलती एकनिष्ठता के अलावा समाज की कोई माँग नहीं। एवं नारी एकनिष्ठता तथा शुचिता का परिचय देकर भी समाज में सम्मान-पद प्राप्त नहीं कर सकती। आमरण परीक्षा देने के लिए उसे प्रस्तुत रहना पड़ेगा।

नारी की अवस्था का यह अवनमन या अवनति रामायण में अत्यन्त स्पष्ट है। किन्तु कहानी में पूर्वकालीन युग की नारी का कुछ स्वाधीन आचरण अन्तर्निहित है जैसे शबरी अकेले आश्रम में रहती है किन्तु उसके इर्द-गिर्द देखने में आता है कि गौतम अहल्या को मर्मवेधी शाप देते हैं। अर्थात् नारी के सामान्यतम स्खलन को समाज क्षमा नहीं करता। यद्यपि पुरुष के स्खलन के सम्बन्ध में वह अधिक सहिष्णु है।

महाभारत में यह चित्र और भी स्पष्ट, व्यापक एवं निःसंदिग्ध है। जिसके कारण महाभारत का कलेवर रामायण का चौगुना है (रामायण में श्लोक संख्या चौबीस हजार है और महाभारत में एक लाख से कुछ कम है) एवं जिसके कारण महाभारत के रचना काल की व्याप्ति रामायण से अन्ततः दुगुनी है, इसलिए यहाँ समाज का जो चित्र प्राप्त है उसकी परिधि और भी व्यापक है। अतएव इसमें प्राचीनतर काल का सामाजिक चित्र भी जिस प्रकार उपलब्ध है उसी प्रकार रामायण के अनेक परवर्ती काल का भी चित्र उपलब्ध है, फलस्वरूप महाकाव्य की कहानी की रचना के आदिमतम युग का—शायद वैदिक युग से सम्बद्ध

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

परवर्ती युग का जो चित्र प्राप्त होता है वह रामायण की अपेक्षा अनेक प्राचीन है। एवं जिसके कारण इसका अन्तिम संयोजन रामायण के शेषांश की अपेक्षा कम से कम दो सौ वर्ष बाद का है (तीन सौ वर्ष भी हो सकते हैं।) इसलिए इसमें अभिपौराणिक संयोजन और भी स्पष्ट रूप से पुराणधर्मी हैं। महाभारत के आदिमतम अंश से अन्तिम अंश का अन्तर कम से कम आठ सौ वर्ष है; इस दीर्घकालीन अवधि में समाज तो एक ही स्थिति में रहा नहीं। फलतः परिवर्तन का चित्र भी महाभारत में स्पष्टतर है। आदि क्षत्रिय कहानी के रचना के पश्चात् कुछ ऐसी नैतिक कहानियों का संयोजन किया गया जो सार्वजनीन हैं; देश और काल की सीमा का अतिक्रमण करते हुए विद्यमान हैं। अन्तिम अथवा द्वितीय संयोजन के कर्त्ता भृगुवंशीय ऋषि थे, जो ब्राह्मण्य संयोजन के रूप में प्रसिद्ध है। इस अंश में नारी एवं शूद्र के अवनमन या अवनति के स्पष्टतम चित्र हैं।

आदि क्षत्रिय कहानी की रचना जिस समय गाथा के रूप में हुई तब उस प्राचीन युग में नारी के कुछ स्वाधीन चाल-चलन और आचरण के संकेत महाभारत में प्राप्त होते हैं। गान्धारी बार-बार धृतराष्ट्र को दोषी ठहराती हैं, धिक्कारती हैं, दुर्योधन को अनुशासन में रखने की बात करती हैं और अनुशासन भंग करने पर उसे त्याग देने के लिए कहती हैं; धृतराष्ट्र स्वयं जिस मार्ग को न्याय के रूप में विवेचित करते हैं, उसका अनुसरण कापुरुषता एवं अन्ध पुत्र-स्नेह के कारण नहीं करते (२।७५।८-१०; ५।१२२।६) खुले आम राज-सभा में पति की भर्त्सना करते हुए कुरुक्षेत्र युद्ध के लिए उन्हें जिम्मेवार ठहराती हैं। यहाँ प्रचलित अर्थ में वे प्रतिव्रता स्त्री नहीं हैं। नारी होते हुए खुलेआम कृष्ण को अभिशाप दे रही है। कुरुक्षेत्र के युद्ध को वे रोक सकते थे; किन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया इसलिए उन्हें वंश सहित मृत्यु का शाप दिया। (११।२५।४२) कुन्ती प्रचलित अर्थ में स्नेहमयी जननी हैं; किन्तु जब उन्हें लगा कि उनके पुत्र क्षत्रियोचित

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आचरण नहीं कर रहे हैं तब उन्होंने विदुला के उस उपाख्यान को कृष्ण के मुँह से कहला भेजा, जिस उपाख्यान में विदुला अपने पुत्र राजा संजय को क्लीवों जैसी निष्क्रियता के लिए धिक्कारती है (५ । १३२-१३५) द्रौपदी ने अपने पति स्वयं धर्मपुत्र युधिष्ठिर के साथ जीवन के नैतिक, राष्ट्रीय एवं दार्शनिक समस्या के समाधान के सम्बन्ध में प्रचण्ड तर्क-वितर्क किया था। (३ । २७, ३०. ३२, ३७) प्रचलित अर्थ में एवं परवर्ती अनुशासन की दृष्टि से यह पतिव्रता का उपयुक्त आचरण नहीं। धृतराष्ट्र और गान्धारी के साथ जब कुन्ती ने अरण्य-वास की इच्छा प्रकट की तब उन्होंने पुत्रों की युक्ति एवं अनुरोध को स्वीकार नहीं किया। यद्यपि शास्त्र का कथन है कि 'रक्षन्ति स्थविरे पुत्राः' वृद्धावस्था में नारी की रक्षा पुत्र ही करेंगे। दुष्यन्त शकुन्तला को आश्रम में रखकर चले गए। कई वर्षों बाद शकुन्तला ने बालक पुत्र के साथ राजसभा में आकर अनेक कठोर वचनों द्वारा राजा की भर्त्सना की। (१ । ६९ । १-२७) नारी के मुँह से पुरुष के प्रति इतनी कठोर धिक्कार-वाणी ब्राह्मण्य संयोजन में अकल्पनीय है।

महाभारत में नारी सोमपान करती है, (१५ । १७ । १७) खुलेआम घूमती-फिरती है और अपने सम्बन्ध में अनेक निर्णय स्वयं ही लेती है। पितृमती कन्या पिता की अनुमति के बिना पुरुष के संग मिलती-जुलती है। (शकुन्तला, सत्यवती, और भी अनेक); जरूरत पड़ने पर अपने मनचाहे पुरुष को पाने के लिए खुले आम राजसभा में पिता राजा के साथ तर्क करते हुए अपने सिद्धान्त को स्थापित करती है जैसे सावित्री। भीष्म जब अम्बा, अम्बिका और अम्बालिका को हरण करके लाते हैं तब अम्बा उनको बतलाती हैं कि वे शाल्वराज को चाहती हैं। यह सुनकर भीष्म उन्हें शाल्व के पास भेज देते हैं। परवर्ती काल की नारी में इतना साहस नहीं था कि वह अपने गोपन प्रेम की बात अन्य पुरुष को बतलाए और अन्य पुरुष भी उसके प्रेम को सम्मान की दृष्टि से नहीं देखते थे। पाण्डु कुन्ती से कहते हैं—ऋतुकाल में

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नारी जिस किसी पुरुष के साथ सहवास कर सकती है, इसमें दोष नहीं। (१ । ११३ । २५-२६) एवं कुन्ती बारी-बारी से तीन व्यक्तियों के साथ देह सम्बन्ध स्थापित करती हैं। दमयन्ती को छोड़कर जब नल चले जाते हैं और दीर्घकाल तक उनका कोई पता नहीं चलता तब दो बच्चों की प्रौढ़ माँ दमयन्ती निःसकोच अपनी माँ से कहती हैं कि नल के बिना उनके पक्ष में जीवन बिताना सम्भव नहीं, (३ । ५३ । ७८) इसलिए दूसरी बार दमयन्ती के स्वयंवर का आह्वान किया जाना चाहिए। परवर्ती युग में ऐसी किसी घटना की कल्पना भी नहीं की जा सकती। कच ने जब देवयानी के प्रेम को अस्वीकार किया तब देवयानी ने कच को शाप दिया। उस शाप का परिणाम देखकर महाभारतकार का कथन है कि यह शाप देने का अधिकार देवयानी को प्राप्त था। बाद में शर्मिष्ठा के विवाह में दहेज के रूप में ययाति के यहाँ आती है एवं वहाँ अपने आग्रहों की भूमिका में ययाति की गोपन प्रेमिका और उनकी सन्तानों की जननी होती है (१ । ५६) बाद में शर्मिष्ठा को जब यह सब मालूम हो जाता है तब देवयानी ययाति को मिथ्यावादी एवं मूर्ख कहकर तिरस्कार करती है। रुरु के प्रेम में आकृष्ट होकर प्रमद्वरा उनसे विवाह करती है। हिडिम्बा ने अपने प्रेम की स्वीकृति तथा विवाह के लिए भीमसेन को राजी किया। उसी प्रकार उलूपी और चित्रांगदा भी उपयाचिका अथवा स्वयंप्रार्थिनी के रूप में अर्जुन से प्रेम निवेदन करती हैं। अर्जुन इनसे विवाह कर लेते हैं; किन्तु उर्वशी को अस्वीकार करते हैं। नारी स्वयं प्रेमप्रार्थिनी के रूप में पुरुष को युक्ति एवं विनय के साथ मना लेती है - यह चित्र परवर्ती युग में विरल हो जाता है। प्रथम युग की रचना में जब पुरुष नारी के प्रेम में आकृष्ट होकर प्रेम-निवेदन करता तब नारी अपनी शक्ति एवं अधिकार की प्रतिष्ठा के लिए शर्त रखती एवं पुरुष उसे स्वीकार करता; सत्यवती गंगा, शकुन्तला इसके उदाहरण हैं। कौरवों में नारी का बहुविवाह प्रचलित था, द्रौपदी के विवाह के समय वाद-प्रतिवाद में इस

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रकार की बातें सुनने को मिलती हैं। (१।१२२।७) जटिला और वार्क्षी भी बहुपतिका थीं, ऐसा उल्लेख है। (१।१९६।१४-१५) नारी अपनी इच्छा के अनुसार क्वाँरी रहकर तपस्या कर सकती है, इसका उदाहरण भी है। सिद्धा, शिवा (५।१०९।१९) एवं शाण्डिल की तापसी कन्या का (९।५४।६-८) उल्लेख ही उसका प्रमाण है। इसके पश्चात् नारी का यह अधिकार पूरी तरह छीन लिया गया। ऋषि अत्रि की स्त्री पति को त्याग करके तपस्या करने जाती हैं। उनकी तपस्या से प्रसन्न होकर शिव उन्हें सन्तान का वरदान देते हैं एवं वे वहीं केवलमात्र दैवी वरदान से ही सन्तानवती होती हैं। (१३।१४)।

ब्राह्मण्य संयोजन में जहाँ नारी हर प्रकार से गौण एवं पुरुष के अधीन है, वहाँ पूर्वकालीन अंश में पढ़ने को मिलता है कि जो पुरुष सती स्त्री को प्रलोभन देने आता है, उसे सती के आँसू आग बनकर दग्ध कर देते हैं। (१।१८२।६) इसमें सतीत्व के माहात्म्य की घोषणा के साथ ही बिना भेद-भाव के किसी नारी के लिए भोग-अधिकार को अस्वीकृति है जो बाद में उस प्रकार और रही नहीं। तब भी पूर्ववर्ती अंश में उसके आँसुओं के अग्नि में परिणत होने की आशा नहीं। पति के प्रति स्त्री के प्रेम में ही वह शक्ति है। जिस व्याध ने दमयन्ती को पाने के लिए अपनी कामना प्रकट की थी वह दमयन्ती पर आक्रमण करने की चेष्टा करते ही भस्म हो गया।—यह नारी शक्तिमती है, यह आँसू नहीं बहाती, अन्याय के सामने आगबबूला हो जाती है। सैरिन्ध्री के वेश में दौपदी कामुक कीचक पर पाँवों से प्रहार करती है। अपराधी के दण्ड के लिए किसी अतिप्राकृत या अलौकिक की प्रतीक्षा नहीं करती, आँसू भी नहीं बहाती। नारी के चरित्र और आचरण को लेकर शास्त्रों ने जहाँ अनेक निर्देश दिए हैं उस अंश में दैवशक्ति से देवताओं की मध्यस्थता में अपराधी दण्डित हुआ है, उसके पहले असंयत कामुक के प्रलोभन को नारी ने स्वयं ही मुस्तैद होकर क्रोध एवं घृणा के

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

साथ अस्वीकार किया है, आत्मरक्षा के लिए तर्क किया है, युद्ध किया है, अभिशाप दिया है, भर्त्सना की है, पदाघात किया है।

महाभारत में स्वेच्छापूर्वक स्त्री पुरुष के मिलन के विरुद्ध ढेर सारे निषेध हैं। विवाह धीरे-धीरे प्रेम की एक मात्र आश्रय-भूमि हो उठा एवं कन्या अब और वेद के अनुशासन में स्वेच्छापूर्वक 'स्वयं सा मित्रं वनुते जनेजित्' का निर्देश स्वीकार करते हुए इच्छानुसार साथी का चुनाव नहीं करती। बल्कि कन्या को अब पिता अपनी इच्छा के अनुकूल पात्र को दान करता है। यह स्थिति व्यक्तिगत से कुलगत होती गई; धर्मशास्त्र ने भी निर्देश दिया है कि कन्या को कुल में ही प्रदान किया जाना चाहिए। लेकिन पूर्वकालीन अंश में बार-बार देखने को मिलता है कि नारी को प्रेम करने की स्वतन्त्रता प्राप्त थी, वह अपने जीवन संगी का चयन कर सकती थी, उसे पुरुषों की तरह ही प्रेम में, प्रेम निवेदन में एवं प्रेमास्पद को अपने अनुकूल करने की चेष्टा करने का अधिकार प्राप्त था, इसके लिए वह निन्दा का पात्र नहीं होती थी। अम्बा के प्रेम-प्रसंगों को सुनकर स्वयं भीष्म भी उसे गर्हित नहीं मानते, उसकी निन्दा नहीं करते।

व्यभिचार के अपराध में नारी-पुरुष दोनों को समान दण्ड देने की बात दो एक स्थलों पर देखने को मिलती है, (१२।१६५।६३) यहाँ तक कि व्यभिचार के सिलसिले में नारी निर्दोष है क्योंकि पुरुष द्वारा बलात्कार करने पर वह असहाय स्थिति में होती है—इस तरह की बातों का भी उल्लेख है। (१२।२६५।४०)। महाभारत के प्रथम अंश में व्यभिचार सम्बन्धी ऐसी ढेर सारी कहानियाँ हैं जिनके बारे में कोई दोषारोपण नहीं, लगता है केवल तथ्य का ही विवरण दिया जा रहा है। इस तरह ही स्वेच्छापूर्वक नर-नारी के मिलन से महाभारत के अनेक महानायकों जैसे—वेदव्यास, भीष्म, कर्ण, पंच पाण्डव एवं उपनायकों का भी जन्म हुआ है। इन घटनाओं के इतने निःसंकोच विवरण और उस मिलन की नैतिकता के प्रतिपादन की तनिक भी कोई

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

चेष्टा नहीं। उस विवरण से ऐसा लगता है कि इस तरह की घटनाओं का प्रचार-प्रसार लोगों में मौखिक रूप से होता रहा है और इन घटनाओं के बारे में समाज को जानकारी थी कि ऐसी घटनाएँ समाज में घटती हैं। उनका समर्थन अथवा निन्दा कुछ भी प्रकट रूप में नहीं था।

इस निन्दा के उग्र रूप धारण करने के पूर्व समाज में नारी का स्थान निचले स्तर पर आ गया, उस समय वह पिता अथवा पति की यानी किसी पुरुष की व्यक्तिगत सम्पत्ति हो गई। कन्या अथवा पत्नी के अतिरिक्त भी समाज में नारी है—उस नारीसामान्य के सम्बन्ध में स्पष्ट उच्चारित बोध है—'नारी नरक का द्वार है'। वह मोहिनी के रूप में दीखती है, पुरुष की कामना को उत्तेजित करती है अतएव पुरुष के प्रलुब्ध होने पर पूरा दायित्व नारी का ही है। व्यक्तिगत सम्पत्ति हो उठने के पश्चात् ही तो 'बिना कहे दूसरे का द्रव्य या वस्तु ग्रहण करने का' प्रश्न उठता है। ब्राह्मण्य संयोजन के बहुत पहले से ही इस स्थिति या समय के संकेत उभर रहे थे; किन्तु तत्कालीन सामाजिक मानसिकता को स्पष्ट रूप से ब्राह्मण्य संयोजन में ही लिपिबद्ध किया गया है। इस भाग में देखने को मिलता है कि नारी अशुभ है, समस्त अमंगलों का कारण है, दुःख की कन्या है। (१ । १५९ । ११) शान्तिपर्व में मरणासन्न भीष्म युधिष्ठिर से कहते हैं कि 'नारी से अधिक अशुभ और कुछ नहीं है वत्स ! पुरुष को नारी के प्रति कोई स्नेह-ममता नहीं रखना चाहिए। (१२ । ४० । १); १३ । ४३ । २५) पूर्व जन्म के पापों के कारण इस जन्म में नारी होकर आना पड़ता है। ६ । ३३ । ३२) अथवा नारी साँप की तरह है, पुरुष को कभी भी उसका विश्वास करना उचित नहीं। (५ । ३७ । २९) तीनों लोक में ऐसी कोई नारी ही नहीं जो स्वाधीनता प्राप्त करने योग्य हो। इतना भी लगता है काफी नहीं था, इसलिए देवताओं की दुहाई दी गई कि प्रजापति या सृष्टिकर्त्ता की इच्छा है—नारी स्वाधीनता पाने के योग्य नहीं। (१२ । २० । १४) जो छह

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वस्तुएँ एक मुहूर्त्त की असावधानी के कारण नष्ट होती हैं, वे हैं—गाय, सेना, कृषि, स्त्री, विद्या एवं शूद्र के साथ सम्बन्ध। (५।३३।९०) नारी अकेले धर्माचरण की अधिकारिणी है, केवल वह पति के साथ ही धर्मानुष्ठान में योग दे सकती है। (८।४।१३) यह अवश्य ही वैदिक युग के अन्तिम समय से ही है, संभवतः जब उपनयन संस्कार से उसको वंचित कर दिया गया तभी से ही। और कुछ ऐसा हुआ कि आर्यों ने, प्रागार्य अथवा आर्यों से भिन्न वर्ण के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करना शुरू कर दिया, इसलिए आर्य वर्ण के अतिरिक्त दो चार व्यतिक्रमों के बावजूद अन्य किसी को उपनयन संस्कार प्रदान करना कार्यतः बन्द हो गया।

अनेक स्थलों पर सती एवं कर्त्तव्यपरायणा नारी की प्रशंसा है (१।११० एवं अन्यत्र) अपनी भक्ति से अथवा समर्पण भावना के साथ पति को प्रसन्न करना और उनकी सन्तान धारण करना, उसकी चरितार्थता की पराकाष्ठा है। कर्मनिष्ठ पतिव्रता नारी तपस्विनी है (१३।१४६।४८, ५१) गृहिणी की भूमिका में उसकी साथकता पुण्य है और इस पुण्य की प्रशंसा में महाभारत का ब्राह्मण्य भाग मुखर है। प्राचीनतर अंश में अनेक विधवाएँ हैं, सत्यवती कुन्ती एवं अनेक मृत वीरों एवं कृष्ण की स्त्रियों का उल्लेख है, इनमें किसी ने सहमरण स्वीकार नहीं किया, केवल माद्री को छोड़कर, वह भी समाज के निर्देश द्वारा नहीं बल्कि व्यक्तिगत अपराध-बोध के कारण उसने सहमरण स्वीकार किया। इनमें किसी ने भी दूसरा विवाह नहीं किया; किन्तु अम्बिका और अम्बालिका ने नियोग प्रथा द्वारा सन्तान धारण किया था। प्रोषितपतिका अर्थात् जिसका पति प्रवास में हो, उसके लिए कठोर निर्देश है, जिससे उसके आचरण में केवल चपलता नहीं किसी प्रकार की सजीवता भी जाहिर न हो। (१२।१२३।१६-१७) पति के सान्निध्य में रहने पर यथासम्भव मनोयोग तथा निष्ठा के साथ स्त्री उसकी सेवा करेगी। मधुरभाषिणी स्त्री की जिस प्रकार प्रशंसा भी है

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(५ । ३३ । ८६) उसी प्रकार कटुभाषिणी अथवा कर्कशा की निन्दा भी है (५ । ३३ । ८४) जिस बहू की सास को गृह-कार्य करना पड़े अथवा जो बहू सास की किसी प्रकार की निन्दा करती है वह पापभागी होती है । (१३ । ६३ । १३१) पतिव्रता सती का ऐसा ही माहात्म्य है कि धर्मव्याध के उपाख्यान में तपस्वी को प्रतिव्रता के निकट धर्म की शिक्षा लेने के लिए आना पड़ा । (३ । २०५)

परवर्ती काल में विवाहिता नारियाँ पालकी में यातायात करतीं (१ । ७३ । २१ ; ८० । २१ ; ३ । ६६ । २३ ; १५ । २३ । १२) लंकाकाण्ड में युद्ध के अन्त में राम से मिलने के लिए सीता भी पालकी में आ रही थीं ।) पुरुष सहयात्री की देख-रेख में यातायात करतीं और अन्तःपुर में भी परदे में तथा घूँघट में रहतीं । (५ । ८६ । १६ ; १५ । १५ । १३) सभा में जब आतीं तो उनके बैठने के लिए एक स्वतंत्र स्थान होता । (१ । १३४ । १२) लम्बे समय तक विवाहिता नारी के पीहर में रहने पर भी निन्दनीय माना जाता, इससे शायद उसके यश, चरित्र एवं गुण नष्ट हो जाते हैं । (१ । ७४ । १२) अर्थात् धीरे-धीरे विवाहिता नारी का एकमात्र आसरा उसकी ससुराल हो गई । पित्रालय या पीहर में रहने पर नारी कलंकित होती है (५ । ३६ । ८०) कारण का अनुमान आसानी से लगाया जा सकता है, वैसी नारी पति द्वारा परित्यक्ता अथवा पति और ससुराल के परिवार में घृणा के पात्र के रूप में समझी जाती थी और उससे बड़ा कलंक शायद ही कोई था । स्वयं धर्मपुत्र युधिष्ठिर ने नारी की निन्दा करते हुए कहा है कि नारी सारे अमंगलों का मूल है (१२ । ६) भीष्म ने कहा है कि नारी द्वारा वंश कलंकित होता है ; (१२ । ४-८) कृष्ण ने कहा है कि नारी के कलंकिता होने से वर्णसंकर होता है और उससे पूर्ण सर्वनाश होता है । (६ । २३ । ४१)

धीरे-धीरे किशोरावस्था के बाद नारी का विवाह अनिवार्यता का पर्याय हो गया, कुमारी या अविवाहिता नारी की चर्चा बहुत कम सुनने को मिलती है । कुणि गर्ग की कन्या अनेक दिन तपस्या करने के बाद जब

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

स्वर्ग में उत्तम स्थान प्राप्त करने के लिए देह-त्याग के लिए प्रयत्नशील हुई तब नारद ने आकर उससे कहा कि कुमारी कन्या के लिए स्वर्ग में कोई सम्मान का आसन नहीं है क्योंकि वह अशुचि है ; अपवित्र है। बाध्य होकर वृद्धावस्था या ढलती उम्र में उस तापसी को विवाह करने के पश्चात् प्राण-त्याग करना पड़ा। (६।५२।१—) उसी अध्याय में ही एक और अविवाहिता नारी की कहानी है जिसने यौवन में विवाह के अनेक प्रस्तावों को ठुकरा दिया था ; क्योंकि कोई भी पुरुष उसके मनोनुकूल नहीं था। बहुत दिन तपस्या करने के पश्चात् उसे नारी के अशुचि होने की बात सुनाई पड़ी। इसलिए एक रात के लिए गालव की स्त्री बनना पड़ा ताकि उसे स्वर्ग में स्थान प्राप्त हो सके। तपस्विनी सुलभा जब राजा जनक की सभा में दार्शनिक तत्वों की आलोचना के लिए आती हैं तब जनक अनेक विद्रूपात्मक कठोर वाक्यों द्वारा उन्हें आलोचना से दूर रखने की चेष्टा करते हैं। एक मात्र ज्ञान की खोज में आई वे इतनी रूढ़ या रूखी बातें सुनने के बाद क्षुब्ध होकर दूसरे दिन ही सभा छोड़कर चली गईं। (१२।३२०) याद आता है गार्गी के प्रश्नों के दबाव से बचने के लिए याज्ञवल्क्य ने भी उन्हें दूर करने का का प्रयास करते हुए कहा कि गार्गी प्रश्न मत करो, तुम्हारा सर गिर जायगा। ऐसी बात किसी पुरुष विद्यार्थी को तो जनक अथवा याज्ञवल्क्य ने कभी नहीं कहा। इन कहानियों से समझ में आता है कि प्रथमतः अविवाहिता नारी को लेकर समाज आश्वस्त नहीं था इसलिए विवाह उसके पक्ष में बाध्यतामूलक हो उठा। जरत्कारु ऋषि का प्रसंग कुछ अलग है ; उन्होंने विवाह इसलिए किया कि पुत्र, सन्तान पैदा न करने से पुरखों के पिण्ड-तर्पण की व्यवस्था नहीं हो सकती थी, इसलिए विवाह अनिवार्य था। उनकी स्वर्ग-प्राप्ति में तपस्या द्वारा बाधा नहीं पहुँचती। वस्तुतः शास्त्र एवं साहित्य में हम ऐसे अनेक तपस्वियों का उल्लेख पाते हैं जिनकी स्वर्ग-प्राप्ति में उनका कौमार्य बाधक नहीं रहा।

द्वितीयतः शिक्षिता नारियों की संख्या मुट्ठी भर होने के कारण

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सहसा किसी विदुषी एवं बुद्धिमती नारी के सामने आने पर पुरुष कुछ विचलित महसूस करते। ब्रह्म ज्ञान का मूल तत्व समदर्शिता तो नारी और शूद्र के पक्ष में बराबर ही बाधा ग्रस्त होती रही, इसलिए शिक्षिता नारी प्रतिपक्ष पुरुष की ऊष्मा अथवा उत्तेजना को ही जगाती, शिक्षार्थिनी के रूप में आने पर भी संभवतः पुरुष स्वयं को निरापद या सुरक्षित महसूस नहीं करता।

समाज को नारी से यही प्रत्याशा रहती है कि वह, सुन्दर, स्वस्थ और गृह-कार्य में निपुण होगी। पति एवं ससुराल के परिवार के लिए सुबह से शाम तक परिश्रम करेगी, तथा मुख्य रूप से पुत्र-सन्तान को जन्म देगी। सन्तानों का लालन-पालन एवं पति तथा उसके स्वजनों, आत्मीयों की सेवा करेगी। किन्तु सबसे बड़ी बात तो यह कि उसका मन, चिन्ता, व्यक्तित्व कुछ नहीं रहेगा। वह परछाई की तरह पति का अनुगमन करेगी। ऐसा होते हुए वैसी स्त्री के भाग्य में भी सन्देह और लांछना लिखी होगी। यह हम सीता के भाग्य से ही जानते हैं। नारी के, विशेष रूप से स्त्री के प्रतिशब्दों या समार्थक शब्दों की ओर ध्यान देने पर भी कुछ-कुछ समझ में आता है कि समाज में उसका क्या स्थान था? रामायण एवं महाभारत में ही वर्णन एवं सम्बोधन के सिलसिले में पहले इन शब्दों का परिचय प्राप्त होता है। परवर्ती साहित्य में इस तरह के विशेषणात्मक शब्द चक्रवृद्धि की दर से बढ़ते रहे। कई शब्दों को देखने से ही समझ में आएगा कि नारी किस संज्ञा द्वारा समाज एवं साहित्य में आविर्भूत हुई—जैसे भार्या अर्थात् जिसका भरण-पोषण किया जाए, भृत्य के साथ इसका अन्तर केवल प्रत्यय में है। कहना नहीं होगा कि यहीं पुरुष का जोर है, वह अन्न जुटाता है क्योंकि स्वयं के भरण-पोषण के लिए अर्जन करने जैसी शिक्षा उसे नहीं दी जाती थी, सम्पत्ति में भी अधिकार या हिस्सा नहीं दिया जाता था, इसलिए वह पूरी तरह ही पति के ऊपर निर्भरशील थी। ऐसे ही—कामिनी, रमणी कान्ता में अन्त के दो पुंलिंग शब्द 'प्रिय' के अर्थ में हैं अर्थात् एक

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नारी के पक्ष में जो पुरुष प्रिय है वह उसका ही रमण और कान्त है किन्तु नारी के क्षेत्र में यह संज्ञा व्यक्ति निरपेक्ष है मानो उसका धर्म ही पुरुष की तृप्ति विधान के लिए है। एक और समानार्थक शब्द है जाया जिससे पुरुत सन्तान रूप में पैदा होता है। इसके अतिरिक्त भी वर्णनात्मक सम्बोधनों का अधिकांश ही देह से सम्बन्धित है। जैसे रम्भोरु, सुश्रोणी, पीनस्तनी इत्यादि। (और भी नीचे कुछ अपमान सूचक किन्तु बहुव्यवहृत शब्द वरारोहा इत्यादि भी हैं) मुख्यतः यौन सम्भोग की वस्तु के रूप में ही नारी का परिचय प्राप्त होता है।

व्यवस्था कुछ ऐसी थी कि जिससे नारी को समाज में स्थान देने का प्रश्न ही न उठे। एकाध व्यतिक्रम को छोड़कर साधारणतः शिक्षा में नारी का अधिकार नहीं था। मनुसंहिता इसी समय की ही रचना है। पुत्र की शिक्षा व्यवस्था का विधान देने के पश्चात् कहा गया है 'कन्याप्येवं पालनीया शिक्षणीयाति यत्नतः' कन्या को भी इस प्रकार शिक्षा देनी पड़ेगी और अत्यन्त यत्न पूर्वक पालन करना होगा ; किन्तु ठीक उसके बाद ही कहा गया है कि नारी के पक्ष में विवाह ही उपनयन है, पतिगृह में वास, गुरुगृह में वास के समान है और पति की सेवा वेदाध्ययन है। (मनुसंहिता २।६७) अर्थात् विवाह करके पतिगृह में रहकर पति की सेवा करना ही उसके वेदपाठ या वेदाभ्यास का विकल्प है उसका एक ही या समान फल प्राप्त होगा। तात्पर्य यह है कि उसे फल चाहे जो भी मिले या न मिले ; उसने विद्या तो प्राप्त नहीं की। अतएव भले ही सुनते पढ़ते रहें कि 'पुराकल्प तु नारीणां मौञ्जी-बन्धमिष्यते। अध्यापनञ्च वेदानां सावित्री वचनं तथा॥ (स्मृति चन्द्रिका, संस्कार काण्ड, मैसूर संस्करण, पृष्ठ ६२) अर्थात् प्राचीन काल में नारियां यज्ञोपवीत धारण करतीं, वेद का अध्यापन एवं सावित्री पाठ प्रचलित था अथवा हारीत धर्मशास्त्र में उल्लेख है कि 'द्विविधा स्त्रियो ब्रह्मवादिन्यः सद्योवध्वश्च' यानी नारियाँ दो प्रकार की हैं—ब्रह्मवादिनी और नववधू। इसके बावजूद समस्त संस्कृत साहित्य की ब्रह्मवादिनी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नारियों को उँगली पर गिना जा सकता है। बाकी सब तो वधू ही हैं जिनके लिए पति सेवा ही वेदाभ्यास है। शिक्षा के अतिरिक्त सम्पत्ति में भी नारी का अधिकार नहीं था। इस कारण से भी समाज में स्वतन्त्र व्यक्ति के रूप में स्थान प्राप्त करना उसके पक्ष में कठिन था; क्योंकि भरण-पोषण के लिए उसे परमुखापेक्षी होना पड़ता। उसे चाहे पिता हो या पति हो दोनों का मुखापेक्षी होना पड़ता। तृतीयतः किसी अर्थकरी वृत्ति या आर्थिक स्रोत की शिक्षा अथवा व्यवहार उसके पक्ष में निषिद्ध था। संभवतः समाज के निम्न स्तर की स्त्रियां कुटीर शिल्प या घरेलू उद्योगों आदि की पेशेवर विद्या की चर्चा करके सामान्य कुछ आर्थिक सहायता अपने परिवार के लिए कर सकती थीं किन्तु मध्य-वित्तीय एवं उच्च वित्तीय स्तर की नारियों के किसी धन्धे की चर्चा या उल्लेख रामायण अथवा महाभारत में या अन्यत्र कहीं भी कमोवेश प्राप्त नहीं। फलस्वरूप वह पुरुष के ऊपर आर्थिक दृष्टि से निर्भरशील होने के लिए बाध्य होती। चतुर्थतः समसामयिक शास्त्र एवं साहित्य में देखने को मिलता है कि नारी का अपनी देह पर भी कोई अधिकार नहीं था। एक मात्र गणिका को छोड़कर जिसकी शिक्षा का आर्थिक दायित्व राष्ट्र वहन करता और उसकी अपनी देह पर बहुत कुछ उसकी अपनी स्वतंत्रता थी एवं वह अन्न वस्त्र के लिए किसी पुरुष की दया पर निर्भर नहीं थी। निश्चित रूप से उसका वह पेशा गर्हित था, घृणित था किन्तु कितना ही गर्हित क्यों न हो वह उसके द्वारा स्वतंत्र रूप से अर्थोपार्जन कर सकती थी।

गणिका हो चाहे गृहिणी ही हो, पुरुष के मनोरंजन द्वारा ही नारी के भरण-पोषण का प्रावधान होता। मृत्युलोक की गणिका का स्वर्ग की अप्सरा के रूप में चित्रण किया गया है, उनका जो विवरण प्राप्त होता है, उससे समाज में रूपाजीवा के आचरण की भूमिका और स्थान का पता चलता है। रामायण एवं महाभारत में सर्वत्र ही ऋषियों का ध्यान भंग करने अथवा अन्य प्रकार से इष्ट सिद्धि के लिए अप्सरायें

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आती हैं—जैसे ऋष्यशृंग के उपाख्यान में। ये सभी रूपवती, तरुणी होतीं किन्तु इनकी भूमिका पूर्णतया निष्क्रिय अथवा निरर्थक होती, इन्द्र अथवा अन्य देवता जब किसी ऋषि के तप या यज्ञ से असहिष्णु या असन्तुष्ट होते एवं अस्थिरता का बोध करते तब अप्सराओं को भेज कर उनका ध्यान भंग करवाते। कार्य सिद्ध होने पर ये स्वर्ग में लौट आतीं। यह संवेदनारहित मांसल तरुणी की कल्पना ही स्थूल रूप से नारी के निकट पुरुष की प्रत्याशा थी। वह जैसे केवल भोग्य वस्तु हो। यदि ऐसा न होता तो राम सीता के लिए यह न कह पाते 'नोत्सहे परिभोगाय' यानी तुम्हें भोग नहीं सकता।

रामायण और महाभारत में नारी की यह भोग्य-वस्तु की भूमिका नाना प्रकार से चित्रित है। प्रथमतः उपाख्यानों में—असंख्य उपाख्यानों में नारी इस भूमिका में अवतीर्ण हुई है। इस सन्दर्भ में एक कहानी का उल्लेख किया जा सकता है। ऋषि कुमार गालव ययाति के यहाँ आए, इसलिए कि राजा यदि कुछ आर्थिक सहायता प्रदान करें तो गुरु दक्षिणा दें ; क्योंकि गुरुदक्षिणा देने की कोई उचित व्यवस्था उनके पास नहीं थी। उस समय ययाति अर्थ संकट में थे, इसलिए गालव से कहा, तुम मेरी इस सुन्दरी तरुणी कन्या माधवी को ले जाओ' इसे किसी राजा के पास एक वर्ष के लिए देने पर राजा इससे जो पुत्र सन्तान प्राप्त करेगा उसके बदले वह तुम्हें अर्थ प्रदान करेगा। गालव ने माधवी को लेकर बारी-बारी से तीन राजाओं को एक-एक वर्ष के लिये भाड़े पर दे दिया। उसके बदले में उन्हें जो अर्थ मिला उससे कुल मिलाकर उनकी गुरुदक्षिणा के लिए उपयुक्त अर्थ संचित हो गया, तब उन्होंने माधवी को उसके पिता ययाति के पास लौटा दिया। (महाभारत, ५। ११८-२२) इस कहानी में नारी का स्थान मर्मान्तिक रूप से स्पष्ट है। प्रथमतः पिता स्वयं अर्थ न दे पाने के कारण कुमारी कन्या को लगभग गणिकावृत्ति की ओर धकेल दे रहा है, स्वयं ब्राह्मण कुमार को गुरु दक्षिणा का अर्थ देने का पुण्य प्राप्त करने के लिए।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

द्वितीयतः समाज में कम से कम ऐसे तीन राजाओं का परिचय प्राप्त होता है जो सुन्दरी तरुणी कुमारी का शरीर एक वर्ष के लिए भाड़े पर लेने में किसी प्रकार की द्विधा नहीं प्रकट करते। पुत्र सन्तान प्राप्त करने का कितना निष्ठुर हृदयहीन उपाय है। तृतीयतः ब्राह्मण ऋषि कुमार ने अनायास बिना किसी परिश्रम द्वारा इस कुत्सित उपाय से प्राप्त अर्थ को स्वीकार किया एवं अपनी चेष्टा से तीन राजाओं के पास माधवी को गिरवी रखकर उस अर्थ का संग्रह किया। चतुर्थतः इस प्रकार इकट्ठा किये गए अर्थ को गुरुदक्षिणा के रूप में देते हुए उन्हें कोई संकोच या लज्जा नहीं। कहानी का अन्त यहीं नहीं होता बल्कि इस प्रकार जिस लड़की ने लांछन एवं उत्पीड़न झेला उसे ययाति ने विवाह करने के लिए कहा, उसने अस्वीकार कर दिया और तपस्या करने चली गई। ययाति के स्वर्ग जाते समय जब मालूम हुआ कि उनके संचित पुण्य में कुछ कमी रह गयी है तब माधवी के पुण्य से उस कमी को पूरा किया गया फिर वे स्वर्ग गए। स्पष्ट है कि उस युग के परिप्रेक्ष्य में लौकिक, पारमार्थिक हर प्रकार की वंचना ही माधवी के भाग्य में थी। उस समय इन सब के पीछे समाज की मानसिकता में जो बोध सक्रिय था वह है ; 'नारी व्यक्ति नहीं, वस्तु एवं भोग्य वस्तु है।'

इस बोध की पुष्टि बार-बार तब होती है जब देखने को मिलता है कि हाथी, स्वर्ण, रथ, अश्व, भूमि इत्यादि के साथ नारी भी दान की तालिका में जुड़ी है (१ । १६८ । १६, ८१ ; ८१ । ३७ ; २२१ । ४६ ; ४ । ३४ । ५ ; १५ १४ । ४ एवं अन्य अनेक स्थलों पर) यह दान, विवाह, श्राद्ध, विजयोत्सव, अतिथि स्वागत, यज्ञ एवं अनेक सामाजिक अनुष्ठानों में अनिवार्य था। अर्थात् नारी का शरीर और श्रम दोनों पुरुष की भोग्य वस्तु है किन्तु इसके लिए शास्त्रकारों में किसी प्रकार की कोई कुण्ठा नहीं। एवं यह प्रथा वैदिक काल से ही चली आ रही थी। महाभारत में एकाधिक ऐसी कहानियाँ हैं जहाँ अतिथि के सत्कार के लिए गृहस्वामी अपनी स्त्री को उसके शयन-कक्ष में भेज रहे हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कभी तो ध्यानयोग के द्वारा ज्ञात होता है कि अतिथि के वेश में वह साक्षात् धर्म है, किन्तु प्रश्न रह जाता है कि स्त्री को भेजने के समय (अथवा गुरु की अनुपस्थिति में जब शिष्य गुरु-पत्नी को अतिथि के पास भेजता है) तब तो यह पता नहीं था कि अतिथि साक्षात् धर्म है, उस समय तो मनुष्य जानकर ही भेजा गया था।

नारी एक प्रलोभन है, वह मोहिनी है, इस बात की विश्वसनीयता के लिए एक नारी अप्सरा पंचचूड़ा द्वारा ही कहलाया गया है कि नारी की काम-वासना स्वाभाविक रूप से ही पुरुष की अपेक्षा अधिक है। (१३।३८) अप्सरा स्वर्ग की गणिका का प्रतिरूप है, तब भी यह आख्यान उद्देश्य मूलक है इसे समझने में कठिनाई नहीं। भीष्म, युधिष्ठिर से कहते हैं आदिकाल में पुरुष इतना धर्मपरायण था कि देवताओं को ईर्ष्या होने लगी तब उन्होंने पुरुष को लुभाकर उसे धर्मच्युत करने के लिए नारी की रचना की। (१३।४२) बाइबिल में ईव या हौवा की भूमिका स्मरणीय है; किन्तु हौवा ने स्वेच्छया आदम को लुभाया नहीं; बल्कि स्वयं शैतान ने उसे प्रेरणा दी थी। महाभारत में पुरुष को धर्म-च्युत करना नारी का स्वभाव ही है। स्वयं देवताओं ने इस कार्य के लिए ही उनको रचा है।

प्रथम युग के रचित भाग में नारी पुरुष के समकक्ष न होने पर भी अनेक अंशों में उसका आचरण स्वतंत्र था। उसकी वैचारिक क्षमता और स्वतंत्र मानसिकता को स्वीकृति प्राप्त थी। अर्थात् तब भी वह व्यक्ति थी, वस्तु में परिणत नहीं हुई थी, हालांकि उसकी चेतना की गहराई में धीरे-धीरे यह उतर रहा था कि पुरुष की तुलना में वह हीनतर प्राणी है एवं उसके ऊपर पुरुष का विधि-निर्दिष्ट अधिकार है। एक उपाख्यान पर ध्यान देने से स्पष्ट हो जाता है। द्यूत-सभा में युधिष्ठिर ने जब जुए में बारी-बारी से सारी सम्पदा, भाइयों और स्वयं को दाँव पर रख दिया और हार गए, फिर जब कुछ भी शेष नहीं रहा तब कौरवों के उकसाने पर द्रौपदी को दाँव पर रखा और हार गए।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उसके बाद कौरवों के दूत ने जब अन्तःपुर में द्रौपदी को इस समाचार की सूचना दी तब मनस्विनी नारी ने उससे प्रश्न किया। क्या युधिष्ठिर पहले स्वयं को दाँव पर रखकर हारे हैं या पहले मुझे दाँव पर रखकर हारने के पश्चात् स्वयं को हारे हैं ? अर्थात् यदि वे पहले स्वयं को हार गए हैं तब तो मैं उनकी सम्पत्ति नहीं। इस प्रश्न के भीतर द्रौपदी के स्वतन्त्र चिन्तन का परिचय प्राप्त होता है किन्तु उस तेज-तर्रार नारी को भी पता नहीं था कि पहले हो या बाद में हो, युधिष्ठिर को उसे दाँव पर रखने का कोई अधिकार नहीं था। इस प्रकार छोटी-छोटी उक्तियों और घटनाओं के भीतर ही समाज में नारी के स्थान की सूचना मिलती है और तभी पकड़ में आता है कि चेतना के स्तर पर वह किस हद तक पराधीन होकर रह गई।

सावित्री के उपाख्यान में प्राचीनकाल में नारी की कुछ स्वतंत्रता देखने को मिलती है। राजा अश्वपति ने पुत्र का वर माँगा; किन्तु उन्हें तेजस्विनी कन्या सावित्री प्राप्त हुई। सावित्री ने जब यौवन की देहरी पर पाँव रखा तो अश्वपति ने 'ज्वलन्तीमिव तेजसा' कन्या से कहा—

इदं मे वचनं श्रुत्वा भर्तुरन्वेषणे त्वर।
देवतानां यथा वाच्यो न भवेयं तथा कुरु॥

मेरी यह बात सुनकर तुम पति के सन्धान में (३।२७७।२६) शीघ्रता करो ताकि मुझे देवताओं के निकट निन्दित न होना पड़े। उस समय सावित्री वृद्ध सचिवों के साथ रथ पर सवार होकर राजर्षियों के तपोवनों में अन्वेषण के लिए गईं। लौटकर देखती हैं कि राजसभा में नारद अश्वपति से कन्या के विवाह के लिए उलाहना दे रहे हैं। अश्वपति ने सावित्री से पूछने पर जाना कि द्युमत्सेन के पुत्र सत्यवान को उन्होंने चुना है। तब नारद ने सत्यवान के तमाम गुणों की प्रशंसा करते हुए कहा उनका दोष केवल इतना है कि उनकी कुल आयु केवल एक

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वर्ष और है। यह सुनते ही अश्वपति ने सावित्री से कहा, तुम किसी दूसरे का वरण करो सावित्री ! उत्तर में सावित्री ने कहा—

सकृदंशो निपतति सकृत् कन्या प्रदीयते।
सकृदाह ददानीति त्रीण्येतानि सकृत् सकृत् ॥
दीर्घायुरथवाल्पायुः सगुणो निर्गुणोऽपि वा।
सकृद्वृतो मया भर्ता न द्वितीयं वृणोम्यहम् ॥
मनसा निश्चयं कृत्वा ततो वाचाभिधीयते।
क्रियते कर्मणा पश्चात् प्रमाणं मे मनस्ततः ॥
(३।२७८।२५-२७)

अर्थात् (अंश विभाजन या बँटवारे के समय) हिस्सा एक बार ही पड़ता है, कन्या का सम्प्रदान एक बार ही किया जाता है एवं 'दान दिया' यह बात एक बार ही कही जाती है—ये तीनों एक-एक बार ही होते हैं। दीर्घायु हो या अल्पायु, गुणवान हो या अयोग्य, एक बार पति का वरण किया है, दूसरे किसी का वरण करूँगी नहीं। लोग, पहले मन में निश्चय करते हैं फिर उसे वाणी द्वारा व्यक्त करते हैं—कहते हैं। फिर उसे कार्य रूप में परिणत करते हैं; इस सम्बन्ध में मेरा मन ही प्रमाण है।' यहाँ ध्यातव्य यह है कि पिता अश्वपति एवं देवर्षि नारद दोनों सम्मान्य श्रेष्ठ व्यक्तियों के निर्देश एवं परामर्श की उपेक्षा करके खुले आम राज सभा में सावित्री ने इस तरह का अपना मत प्रस्तुत किया कि वे उसी से विवाह करेंगी जिसे प्यार किया है और उनके मत की उपेक्षा नहीं हुई। उन्होंने जिसे चाहा था उसे ही वरण करने का अधिकार प्राप्त किया। समाज का यह लचीलापन जो गान्धर्व विवाह में भी स्वीकृत है, वह धीरे-धीरे लुप्त हो गया। सावित्री, सीता, दमयन्ती इन सभी नारियों ने अपने गहरे प्रेम के कारण पति के लिए जो त्याग स्वीकार किया, परवर्ती युग में वही पतिव्रता-धर्म के अनुशासन में परिणत हुआ। किन्तु जिस शक्ति के द्वारा वे ऐसा कर सकी थीं, वह मृत्युंजय अथवा कालजयी प्रेम की सार्व-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भौमता है उसको स्वीकार करने की स्वतः स्फूर्त शक्ति या प्रेरणा समाज में रही नहीं।

परिणामतः, पतिव्रता धर्म कुछ यांत्रिक निर्देशों के समाहार गा संग्रह के रूप में परिणत हो गया। इसका एक अच्छा उदाहरण वन पर्व में है जहाँ सत्यभामा द्रौपदी से प्रश्न करती हैं कि पाँच पतियों को तुमने किस उपाय द्वारा तुष्ट एवं वशीभूत कर रखा है ?

तव वश्या हि सततं पाण्डवाः प्रियदर्शने।
मुखापेक्षाश्च ते सर्वे तत्त्वमेतद्ब्रवीहि मे॥

अर्थात्—ओ प्रियदर्शिनी ! पाण्डव हमेशा तुम्हारे वश में हैं, तुम्हारे मुखापेक्षी हैं, उसका रहस्य मुझे बताओ—सत्यभामा ने जानना चाहा कि कोई रासायनिक चूर्ण अथवा मंत्र का प्रयोग द्रौपदी करती है कि नहीं। द्रौपदी ने कहा—

न जातु वशगो भर्ता स्त्रिया : स्यान्मंत्र कारणात् (३ । २२२ । १२)

इन सबका जो प्रयोग करती हैं—

पापानुगास्तु पापास्ताः पतीनुपसृजन्त्युत।
न जातु विप्रियं भर्तुः स्त्रिया कार्यं कथञ्चन॥ (—१६)

वे पापिष्ठा हैं ! पाप का अनुसरण करके पति को क्षति पहुँचाती हैं। पति का कुछ अनिष्ट करना स्त्री को कदापि उचित नहीं। इसके पश्चात् द्रौपदी ने बतलाया कि किस प्रकार पाँच पतियों को वे सन्तुष्ट रखती हैं—

दुर्व्याहृत.च्छंकमाना दुःखिताद्दुरवेक्षितात्।
दुरासिताद्दुर्व्रजितादिङ्गिताध्यासितादपि॥ (२०)
ना भुक्तवति नास्नाते ना संविष्टे च भर्तरि।
न संविशामि नास्नामि सदा कर्म करेष्वपि॥ (२३)
निरताहं सदा सत्ये ! भर्तुणामुपसेवने॥ (२८)
पत्याश्रयो हि मे धर्मो मतः स्त्रीणां सनातनः।
स देवः स गतिर्नान्या तस्य का विप्रियं चरेत्॥ (३५)

'अप्रिय बातें कहने में मुझे शंका होती है, उदास होकर अप्रिय ढंग

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

से देखने में भी, अप्रिय ढंग से रहते, चलते इंगित करते, आसन ग्रहण करते भी शंका बनी रहती है। पति एवं भृत्यों या गृहसेवकों का भोजन समाप्त न होने तक मैं भोजन नहीं करती, उनका स्नान पूरा न होने तक नहाती नहीं, उनके न बैठने पर बैठती नहीं सत्यभामा ! मैं रात-दिन पतियों की सेवा में तल्लीन रहती हूँ। मेरी दृष्टि में पति का आश्रय ग्रहण करना ही स्त्री का सनातन धर्म है। पति ही देवता है, पति ही गति है। ऐसे पति के प्रति कौन स्त्री अप्रिय आचरण करेगी। इसके बाद अपने आचरण के सम्बन्ध में और भी बतलाती हैं—

अहं पतीन्नातिशये यात्यश्ने नातिभूषये।
नापि परिवदे श्वश्रूं सर्वदा परियंत्रिता ॥ (—३६)

—मैं पति से अधिक सोना, खाना-पीना, एवं साज-सिंगार नहीं करती। सास के साथ तर्क-वितर्क नहीं करती। हमेशा उनका अनुशासन मानती हूँ, उनके कहे-सुने में रहती हूँ।

उपर्युक्त श्लोकों की यह द्रौपदी प्रारम्भिक क्षत्रिय कहानी की नहीं है और चाहे जो भी हो किन्तु पतियों में विशेष रूप से ज्येष्ठ एवं श्रेष्ठ धर्मज्ञ पति युधिष्ठिर के साथ उन्होंने केवल तर्क-वितर्क ही नहीं किया बल्कि अनेक धिक्कार और उपालम्भ दिया है। मूल कहानी में इतना वशवर्ती रूप द्रौपदी का नहीं मिलता; ब्राह्मण्यभाग के रचना-कारों ने युग की आवश्यकता के अनुसार अन्य एक द्रौपदी की सृष्टि की। द्रौपदी की शक्ति एवं सामर्थ्य का एक और उत्स वहीं दिया गया है—

सर्वराज्ञः समुदयमायं च व्ययमेव च।
एकाहं वेद्मि कल्याणि ! पाण्डवानां यशस्विनाम् ॥ [५१]
एकाहं वेद्मि कोशं वै पतीनां धर्मचारिणाम् ॥ [५४]

—'कल्याणी ! राजा एवं यशस्वी पाण्डवों की समस्त आय और व्यय अकेले मैं ही जानती हूँ।' यह द्रौपदी मूल कहानी की है जिसके व्यक्तित्व के प्रति कवि ने नाना प्रकार से सम्मान व्यक्त किया है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

परवर्ती ब्राह्मण्य संयोजन के समय अन्तिम भाग में धर्मसूत्रों के दवाव के कारण सम्पत्ति में नारी का कोई अधिकार नहीं था। निश्चय ही यहाँ द्रौपदी का आय-व्यय की अधिकारिणी के रूप में कोई उल्लेख नहीं। केवल इतना ही वतलाया है कि वे सव कुछ की जानकारी और हिसाव रखती हैं। तव भी धर्मसूत्र के अनुसार जहाँ पति का धन उसके प्रवास-काल में स्त्री आवश्यकतानुसार उपयोग में ला सकती है, दान नहीं कर सकती, उस युग के पश्चात् पति अपनी आय-व्यय का सारा व्योरा स्त्री के सम्मुख रखते ऐसा महसूस करने का कोई कारण नहीं। मनु एवं अन्यान्य धर्म शास्त्रकारों का रुख इस सम्वन्ध में रूढ़ और रूढ़िभाषी हो था। क्षत्रिय कहानी की नायिका द्रौपदी को कुछ-कुछ पतियों के समकक्ष अधिकार प्राप्त था, यह उस प्रथम युग की नारी का वर्णन है जो कुन्ती, गान्धारी के तुल्य है जिन्होंने जरूरत पड़ने पर पति के साथ तर्क किया है, उसे दोषी ठहराया है, धिक्कारा है। अर्थात् यह उस युग का चित्र है जव नारी को हर प्रकार से पुरुष की अधीनता स्वीकार करनी नहीं पड़ी थी। मनुष्य एवं व्यक्ति की हैसियत से समाज में उसकी कुछ मर्यादा सुरक्षित थी।

जिसको अव हम हिन्दू धर्म कहते हैं उसके धर्मग्रन्थ, धर्मसूत्र उतने नहीं जितने दो महाकाव्य, वीस धर्मशास्त्र, अठारह महापुराण एवं कई उपपुराण हैं। इनमें रामायण एवं महाभारत ही प्रारम्भिक ग्रन्थ हैं एवं प्रारम्भ में ही देखने को मिलता है कि दोनों के कम से कम दो भाग हैं—मूल क्षत्रिय कहानी एवं ब्राह्मण्य संयोजन। मूल भाग सम्भवतः रचना के कई सौ वर्ष पूर्व से ही गाथा एवं कहानी के रूप में जनमानस में विद्यमान था जो भाट-चारणों के गीतों, काव्यपाठों द्वारा लोकप्रिय था एवं जन-जन में जिसका प्रचार-प्रसार था। फलस्वरूप परवर्ती संयोजनकर्त्ता इस भाग में विशेष हस्तक्षेप कर नहीं सके। इच्छा के अभाव में नहीं वल्कि इसलिए कि कहानी का जो रूप कई शताब्दियों से काव्य-वैशिष्ट्य के कारण लोकप्रिय एवं अमर था उसका परिवर्तन

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

साधारण श्रोता स्वीकार नहीं करेंगे अतएव जब दोनों मूल महाकाव्यों ने अत्यधिक जनप्रियता प्राप्त कर ली तब इस प्रकार के संयोजनकर्त्ताओं या संकलनकर्त्ताओं ने इन दोनों को बारी-बारी से अपने हाथ में लिया और उनकी लोकप्रिय आधार-भूमि पर उन्होंने अपने वक्तव्यों, विधि-निषेधों और अनुशासन का प्रक्षेपण किया। इससे उन्हें पूरा समाज श्रोता के रूप में प्राप्त हुआ। रामायण एवं महाभारत के काव्यरस से जो मुग्ध थे, वे अब बाध्य होकर ही महाकाव्य के भीतर अनुप्रविष्ट इन सब प्रक्षिप्त, उद्देश्य-प्रेरित अभिपौराणिक तत्वों को सुनने लगे। ये सब अभिपौराणिक हैं क्योंकि पुराणों में जो सामाजिक प्रथा, धार्मिक मूल्यबोध प्रचारित है उसका प्रारम्भिक रूप इन प्रक्षिप्त अंशों में प्राप्त होता है। ये उद्देश्य प्रेरित हैं इसलिए कि ब्राह्मण्य धर्म का तत्कालीन नवीनतम परिवर्तन, जिसे परवर्ती काल में हिन्दू धर्म की संज्ञा प्राप्त हुई, उसके स्वकीय मूल्यबोध की अभिव्यक्ति यहाँ प्राप्त है जिसके दो मुख्य पक्ष हैं—प्रथमतः शूद्रों का और द्वितीयतः नारी का अवमूल्यन। तृतीयतः ब्राह्मणों की महिमा का वर्णन। चतुर्थतः शैव, वैष्णव आदि जैसे साम्प्रदायिक धर्म का प्रवर्तन। इनके वक्तव्य से ही स्पष्ट है कि ये उद्देश्य प्रेरित हैं एवं इनका अधिकांश ही सम्प्रदाय से जुड़े उन पुरोहितों की रचना है जो सभी शिक्षित नहीं थे। परिणामतः ये सारे अंश काव्यमूल्य की दृष्टि से निकृष्ट हैं।

समाज ने नारी के अवमूल्यन को अनेक कारणों से प्रयोजनीय माना था किन्तु इन दिनों यह तर्क स्थापित किया जाता है कि ईसा पूर्व तीसरी सदी से ईसा की तीसरी सदी तक अनेक बाहरी शत्रुओं के आक्रमण से उन दिनों उत्तर भारत काफी अस्त-व्यस्त था, उनमें अनेक ऐसे दस्यु या डाकू थे जिनके आक्रमण से नारी की रक्षा करना कठिन हो गया था इसलिए अवरोध प्रथा विस्तृति एवं कठोरता प्राप्त करती है। यही तर्क तुर्की आक्रमण के सम्बन्ध में भी दिया जाता है। नारी शिक्षित, स्वावलम्बी होने पर जितनी असहाय

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

होती है, अशिक्षित एवं परमुखापेक्षी होने पर अवश्य ही उससे अधिक असहाय होती है, इसलिए नारी को शिक्षा के अधिकार से वंचित करने के लिए इन सब तर्कों की रचना की गई। व्यक्तिगत सम्पत्ति जब समाज में बढ़ने लगी तब एक ऐसी विशेष सुविधा भोगी श्रेणी की सृष्टि हुई कि उस श्रेणी की स्वार्थ-रक्षा के लिए ही नारी अपने पूर्वकालीन अधिकारों से धीरे-धीरे वंचित होने लगी। स्वार्थ यह था कि सम्पत्ति के उत्तराधिकार के लिए परिवार का पुरुषकर्त्ता एकनिष्ठ भाव से यह कामना करने लगा कि एक मात्र औरस पुत्र ही उसकी संचित सम्पत्ति का मालिक बन सके। लेकिन अब यह किस प्रकार निश्चय किया जा सकता है कि पुत्र सचमुच उसका ही औरस पुत्र है या नहीं? यदि स्त्री को अन्य सभी पुरुषों के साहचर्य से पूरी तरह अलग रखने की निश्चित व्यवस्था की जाए तो तभी एक मात्र गृहकर्त्ता आश्वस्त हो सकता है कि पुत्र उसी का है। यह स्वार्थ-प्रेरित कामना कितनी उग्र एवं उन्मादग्रस्त हो उठी थी, उसका एक प्रमाण महाभारत के निम्नलिखित श्लोक में प्राप्त है।

न चन्द्रसूर्यौ न तरुं पुन्नाम्नो या निरीक्षते।
भर्तृवर्जं वरारोहा सा भवेद्धर्मचारिणी॥ (१२। १५६। ८८)

अर्थात्-जो नारी पति के अतिरिक्त किसी पुंलिंगान्त (नाम की वस्तु) चन्द्र सूर्य, वृक्ष का भी दर्शन न करे वह धर्मचारिणी है।

यह अवरोध व्यवस्था पर्दा प्रथा का एक अन्तिम और उन्मान्दग्रस्त संस्करण है। पुरुष के सान्निध्य से पूरी तरह दूर रखने पर गृह स्वामी आश्वस्त हो जाता है कि पुत्र उसका है, अतएव समस्त जीवन की संचित सम्पत्ति के भोग का अधिकार उसी को प्राप्त हो। व्यक्तिगत सम्पत्ति की वृद्धि के अनुपात में नारी अपनी स्वतंत्रता खो देती है। हालांकि यह अपचेष्टा या कुचेष्टा सर्वत्र सार्थक नहीं हुई इसलिए ही अलंकार शास्त्र के अधिकांश उदाहरण के श्लोकों में अवैध प्रणय के ही उदाहरण मिलते हैं। 'जार' एवं 'जारिणी' असंख्य बार ऋग्वेद से ही व्यवहृत हुआ

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हैं। ईसा पूर्व दूसरी सदी में वात्स्यायन ने 'कामसूत्र' की रचना की जिसमें निःसंकोच भाव से पर स्त्री और अविवाहिता कुमारी को किस प्रकार रिझाकर-लुभाकर अपने अनुकूल करते हुए भोगा जा सकता है— उसका ब्योरा सभी कुछ दिया। इसलिए यह अनुमान लगाना गलत होगा कि कुलस्त्री या कुलीन वंश की स्त्री मात्र ही अवरोध या प्रतिबन्ध में रहने के कारण ही सती साध्वी रहती। फल स्वरूप सन्देहग्रस्त या शंकालु पुरुष, स्त्री के जीवन को विपाक्त कर देता एवं जब आश्वस्त होता तब निश्चय ही कभी-कभी उसके यत्न या श्रम से उपार्जित सम्पत्ति स्त्री के उपपति या प्रेमी की जारज या अवैध सन्तान के हाथ जा पड़ती। इसके कारण नारी का जीवन विशेष रूप से तरुणी, सुन्दरी स्त्री का जीवन विपाक्त हो उठा। समाज के मन में रामचन्द्र ने जो विष घोला, उन्होंने जिस अन्याय का प्रवर्तन किया उसका परिणाम अभी भी अक्षुण्ण है। सन्देह के कारण परित्यक्ता असंख्य नारी अभी भी दासीवृत्ति का सहारा लेती हैं। सन्देह में परित्यक्त करने के अलावा भी यथार्थतः चारित्रिक पतन भी परित्याग का कारण था जो आसानी से हो सकता था। इसके अलावा भी था बार-बार विवाह करना, अम्बिका, अम्बालिका, एवं दासी के गर्भ से व्यास की सन्तान उत्पन्न होना। कुन्ती के पति से भिन्न अन्य पुरुषों (हालांकि वे कहानी में देवता हो गए हैं) द्वारा क्षेत्रज सन्तान को जन्म देने में उस पुरुष वंशधर के लिए अदम्य आकांक्षा का फल रहा है। इस काल में नारीके मनुष्यत्व की अवमानना के अनेक प्रकार एवं व्यवस्था का प्रारम्भ होता है। यज्ञ में दक्षिणा की तालिका में वह पहले से ही थी। रामायण और महाभारत काल में और भी कई कारणों से नारी का दान किया जाता। प्रथमतः अतिथि स्वागत, किसी वृहत् क्रियाकर्म—श्राद्ध, उत्सव, युद्धयात्रा, युद्धजय, दहेज के माध्यम से नारी को दान एवं भोग्य वस्तु की सूची में स्थान मिला। द्वितीयतः अन्यान्य भोग्य वस्तुओं के साथ सुन्दरी तरुणी नारी के दान की व्यवस्था कर पाना दाता की सामाजिक प्रतिष्ठा की पहचान बन

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

गया। अर्थात् धनी लोग आत्म-प्रचार के लिए अनेक नारियों का अनादर करने या उन्हें अपमानित करने में कोई संकोच नहीं करते थे। राजाओं के अन्तःपुर की दासियाँ भी राज परिवार के पुरुषों की भोग्य वस्तु थीं—ऐसी कहानियाँ भी प्राप्त होती हैं यानी इन गरीब औरतों को श्रम के साथ देह का भी दान करना पड़ता। बहुपत्नीत्व के कारण भी नारी को अपमानित किया जाता था, यहाँ तक कि परिवार के बीच सन्तानों की आँखों के सामने उनकी माताओं का अपमान किया जाता एवं वहाँ विधवा विगत यौवना और श्रीहीना वधू को इस बात की जानकारी होती कि तरुणियों एवं सुन्दरियों को लाकर गृहस्वामी एक बड़े परिवार के तमाम आत्मीयों, स्वजनों के सामने ही पूर्व विवाहिता का सम्मान धूल में मिला देगा।

पुराणों में नारी के जिस घोर अपमान, असम्मान का वर्णन बार-बार धृष्टता एवं निर्लज्जता के साथ किया गया है उसकी सूचना या संकेत रामायण एवं महाभारत के ब्राह्मण्य प्रक्षेपों में है। क्षत्रिय कहानी की नारी का जो चित्र पहले से था वह यथा सम्भव वैसा ही सुरक्षित है; इसलिये कि जो रसोत्तीर्ण साहित्य समाज की स्मृति में भास्वर था उसको तोड़ने या आघात पहुंचाने की चेष्टा व्यर्थ होती। किन्तु समाज के ब्राह्मण्य मूल्यबोध के प्रवक्ताओं ने उसी रसोत्तीर्ण साहित्य को ही जन-शिक्षा के माध्यम के रूप में इस्तेमाल किया जिससे जन-साधारण को नाना प्रकार शिक्षाएँ दी जा रही थीं उनमें क्रमशः एक मुख्य शिक्षा यह थी—'न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति' यानी नारी को स्वतंत्रता का कोई अधिकार नहीं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मृच्छकटिक

नाटक के शैली-भेद या प्रकार-भेद के अनुसार मृच्छकटिक प्रकरण नाटक है। भरत ने अपने नाट्य शास्त्र में कहा है कि कवि जब अपनी कल्पना शक्ति के माध्यम से कहानी एवं नायक की सृष्टि करते हुए नाटक की रचना करता है तब वह प्रकरण कहलाता है। प्रकरण के दो प्रकार या भेद होते हैं—शुद्ध एवं संकीर्ण। नायिका यदि कुलस्त्री या कुलीन है तो प्रकरण शुद्ध एवं गणिका होने पर संकीर्ण कहलाता है (यत्र कविरात्मबुध्या वस्तु शरीरञ्च नायकमेव च। औत्पत्तिकं प्रकुरुते प्रकरणमिति तदबुधैर्ज्ञेयम॥ नाट्य शास्त्र २०।४८) प्रायः डेढ़ हजार वर्ष बाद ईसा की चौदहवीं शताब्दी में विश्वनाथ ने अपने साहित्य-दर्पण ग्रन्थ में कहा है—प्रकरण की घटना कवि द्वारा कल्पित किन्तु लौकिक होगी; मूल रस शृङ्गार, नायक विप्र, अमात्य अथवा वणिक जो धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष की चर्चा में निरत एवं धीर प्रशान्त होता है। नायिका कभी कुलनारी, कभी वेश्या, कभी दोनों रहेंगी। (भवेत् प्रकरणे वृत्तं लौकिकं कविकल्पितम्। शृंगारोऽङ्गी नायकस्तु विप्रोऽमात्योऽथवा वणिक॥ सापायधर्मकामार्थपरो धीर प्रशान्तकः। नायिका कुलजा क्वापि वेश्या क्वापि द्वयं क्वचित्॥ ६।२५३-५४) लगता है भरत एवं विश्वनाथ के बीच जो काल का व्यवधान है उसमें कुछ प्रकरणों की रचना हुई है एवं प्रकरण की संज्ञा ने और भी स्पष्ट विवरण प्राप्त किया है, फलस्वरूप नायक का सामाजिक परिचय एवं चरित्र, एक ही नाटक में कुलनारी एवं वेश्या की एक साथ उपस्थिति एवं मूल रस की प्रकृति के सम्बन्ध में स्पष्टतर निर्देश देना सम्भव हुआ है। भरत एवं विश्वनाथ दोनों ने ही बताया है कि कहानी कवि-कल्पित होगी; विश्वनाथ ने उसमें जोड़ा कि वह लौकिक होगी, इसलिए नायक यहाँ राजा नहीं बल्कि अमात्य अथवा वणिक एवं विप्र (अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, अथवा वैश्य) उन्नत चरित्र और धर्म परायण होगा।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मृच्छकटिक की कहानी अथवा 'वस्तु' सम्पूर्ण ही लौकिक है। 'बृहत्कथा' में इस कहानी का संक्षिप्त बीज है, 'कथासरित्सागर' में भी उसके विभिन्न अंश के सूत्र हैं। कथासरित्सागर में गणिका कुमुदिका के प्रति उज्जयिनी का एक दरिद्र ब्राह्मण आसक्त है (५८।२) इस ग्रन्थ में ही अन्यत्र उल्लेख है कि रुपणिका नामक गणिका एक ब्राह्मण के प्रति आसक्त है (१२।४); गणिका मदनिका के प्रासाद के (३८।२०-२६) साथ वसन्तसेना के प्रासाद का वर्णन मिलता-जुलता है; जैसे इसके अठारहवें अध्याय में देखने को मिलता है जुआड़ी मन्दिर में घुस जाते हैं। मृच्छकटिक के नवें अंक के राजा पालक और दसवें अंक के नये राजा गोपाल पुत्र आर्यक हैं। कथासरित्सागर में प्रद्योत और अंगारवती के दो पुत्रों का नाम गोपाल और पालक है। भास का विख्यात नाटक चारुदत्त चार अंकों में समाप्त है, वहाँ की कहानी मृच्छकटिक के पाँचवें अंक की कहानी तक है। लगता है शूद्रक को इस नाटक से ही नाटक-रचना की प्रेरणा प्राप्त हुई थी। 'काव्यालंकार सूत्र' के रचयिता वामन ने अपने ग्रन्थ के उदाहरण में जिन श्लोकों और उक्तियों को उद्धृत किया है उनमें दो चारुदत्त और मृच्छकटिक दोनों में हैं। (१) यासां बलि सपदि मद्गृहदेहलीनाम्। (२) द्यूतं हि नाम पुरुषस्य सिंहासनं राज्यम्। तीसरा है—व्यसनं हि नाम सोच्छ्वासं मरणम् भास में है एवं इसकी प्रतिध्वनि मृच्छकटिक में प्राप्त होती है।

'सूक्ति मुक्तावली' में एक श्लोक है, जिससे पता चलता है कि रामिल और सोमिल नाम के दो व्यक्ति शूद्रककथा के रचयिता थे। इनका काव्य अर्द्धनारीश्वर जैसा था। (तौ शूद्रककथाकारौ रम्यौ रामिल सोमिलौ। काव्यं ययोर्द्वयोरासीदर्धनारीनरोपमौ॥) इसका एक अर्थ यह हो सकता है कि इनका काव्य एक दूसरे के काव्य का परिपूरक था; अथवा अन्य अर्थ यह हो सकता है कि इन दोनों ने एक साथ 'शूद्रककथा' की रचना की थी। यह काव्य उपलब्ध नहीं है तब भ एक 'शूद्रककथा' के होने का संकेत उस श्लोक से प्राप्त होता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

शूद्रक के यथार्थ परिचय के सन्दर्भ में आज भी विवाद का अन्त नहीं हुआ है। प्रथम अथवा द्वितीय शिवमार राजा (सातवीं से आठवीं सदी के) आभीर राजा शिमुक (ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी के) शिशुक, शिशुक इत्यादि अनेक नामों से अनेक स्थानों और अनेक युगों में नाट्यकार को स्थापित किया गया है। विभिन्न पुराणों में हम शिमुक, शिशुक, सिन्धुक और शिप्रक इत्यादि नामों के राजाओं का उल्लेख पाते हैं। किन्तु यदि शूद्रक सातवाहन वंश के रहे हों तो फिर उस वंश के राजा ब्राह्मण्य गर्वित थे, ब्राह्मणत्व के पोषक थे। बाणभट्ट ने कादम्बरी में एक शूद्रक राजा का उल्लेख किया है जो पूर्वजन्म में चन्द्रापीड़ और चन्द्र थे (दण्डी ने अपने 'दशकुमारचरित' में शूद्रक के अनेक जन्मों की कथा का उल्लेख किया है।) उससे लगता है कि ईसा की सातवीं शताब्दी से ही यानी बाणभट्ट के युग में ये शूद्रक एक इतिहास-प्रसिद्ध राजा थे। दक्षिण के राजा द्वितीय शिवमार ने 'कल्पनारत्न' नाम से हाथियों को शिक्षित करने के सम्बन्ध में एक ग्रन्थ की रचना की थी, इनके पौत्र शिवमार के सम्बन्ध में ७२६ ई० के बारदूर शिलालेख से पता चलता है कि ये शतायु थे (स्मृत्याविरोधेन वर्षशतपूर्णायुः। वेताल पंचविंशति (वेताल पचीसी) के वीरवरोपाख्यान में शूद्रक एक विजयी राजा थे, उनके एक कर्मचारी वीरवर ने राजा की मृत्यु आसन्न जानकर अपने पुत्र की बलि द्वारा शूद्रक के लिए परमायु का वर प्राप्त किया। मृच्छकटिक में भी राजा शूद्रक की शतवर्ष परमायु होने का उल्लेख है। यह भी उल्लेख है कि वे हस्तिशिक्षाविद् थे। इन सब बातों से लगता है कि नाटक में शूद्रक के परिचयात्मक श्लोकों में अति प्रसिद्ध राजा के गुणों को नाट्यकार शूद्रक में अरोपित किया गया है। ये शूद्रक सम्भवतः कादम्बरी में उल्लिखित राजा शूद्रक हैं जिनके बारे में आठवीं शताब्दी के आलंकारिक वामन ने अपने ग्रन्थ 'काव्यालंकार सूत्र वृत्ति' में श्लेष गुण के प्रसंग में उल्लेख किया है और ग्यारहवीं सदी के कवि कल्हण ने अपने ग्रन्थ 'राजतरंगिणी' में जिनके

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सम्बन्ध में कहा है कि वे विक्रमादित्य के समान थे। 'रायमुकुट' में शूद्रकवध' नाम की एक परिकथा, पंचशिख रचित 'शूद्रकचरित' एवं त्रिक्रमान्त शूद्रक नामक एक नाटक का उल्लेख प्राप्त होता है। तामिलनाडु में प्राप्त दण्डी के 'अवन्तीसुन्दरीकथा' की एक पाण्डुलिपि में एक श्लोक प्राप्त होता है, जिसका अर्थ है—शूद्रक ने स्वच्छ खड्ग की धार से बार-बार पृथिवी पर विजय प्राप्त की, फिर आत्मचरितार्थक रचना द्वारा पृथिवी को सुप्रतिष्ठित किया। (शूद्रकेणासकृज्जित्वा स्वच्छया खड्ग धारया। जगद्भूयोऽभ्यवष्टब्धं वाचा स्वचरितार्थया)। यहाँ सम्भवतः शूद्रक-विरचित, कोई अधुनालुप्त आत्मचरित अथवा 'शूद्रक-चरित' नामक लुप्त रचना का ही उल्लेख किया गया है। वामन ने अपने 'काव्यालंकार सूत्र वृत्ति' में 'शूद्रक विरचितेषु प्रबन्धेषु' (३।२।४) लिखा है। यहाँ बहुवचन से लगता है शूद्रक ने मृच्छकटिक के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों की भी रचना की थी।

शूद्रक नाम में भी वैशिष्ट्य है; सुनते ही बोध होता है कि यह पैतृक नाम नहीं है, (अशूद्र माता-पिता सन्तान का यह नामकरण नहीं करेंगे और शूद्र पिता-माता भी ऐसा नहीं करेंगे)। सम्भवतः यह उपाधि के रूप में ही व्यवहृत है। लगता है किसी शूद्र जातीय राजा अथवा/एवं नाटककार ने सुयश अर्जित करने के पश्चात् अपने शूद्र-परिचय में स्वार्थिक 'क' प्रत्यय जोड़कर विशेषण के रूप में प्रयोग किया था। ग्यारहवीं सदी के भागवत पुराण में उल्लेख है कि दक्षिणापथ के अन्ध्रभृत्य राजवंश के प्रतिष्ठाता शिमुक, वृषल अर्थात् शूद्र थे। ये नाटककार नहीं भी हो सकते हैं; किन्तु नाटक दक्षिणापथ का है, इस प्रकार के अनुमान का कुछ-कुछ आधार भी है; अनेक आचार, संस्कार और दक्षिणदेशीय कुछ शब्द इसमें हैं (जैसे कर्णाटकलह, देवी सहा-वासिनी, खुन्टमोड़क, वरण्डलम्बुक इत्यादि शब्द अथवा वीरक की उक्ति 'वयं दाक्षिणात्याः' इत्यादि)।

नाटककार के काल को लेकर जिस प्रकार विवाद है उसी प्रकार

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उसके स्थान को लेकर भी है। भाषा की दृष्टि से सामाजिक पृष्ठभूमि के कुछ अंश में दाक्षिणात्य प्रभाव स्पष्ट है; किन्तु मुख्यतः इस नाटक में घटना उज्जयिनी की है। नाटक में उज्जयिनी के सम्बन्ध में ढेर सारी गर्वपूर्ण उक्तियाँ हैं। ऐसा भी हो सकता है कि उज्जयिनी की घटना की हैसियत से ही नाट्य वस्तु परिचित और लोकप्रिय हुई हो और इस लिए दक्षिणी नाटककार उज्जयिनी में ही इसकी स्थापना करते हैं तब भी दक्षिण के कुछ-कुछ चिह्न या संकेत रह जाते हैं। निश्चित रूप से सम्पूर्ण विपरीत सम्भावना का भी खण्डन करना कठिन है। भाषा द्वारा निश्चित रूप से कुछ समझ में नहीं आता। चारुदत्त, शर्विलक, आर्यक, अधिकरणिक, दर्दुरक एवं पाँचवे अंक में एक बार वसन्तसेना भी संस्कृत बोलती हैं। शौरसेनी जो मुख्य नाटकीय प्राकृत है, उसमें वसन्तसेना, सूत्रधार, वीरक, चन्दनक, श्रेष्ठी कायस्थ, मदनिका, धूता और वसन्तसेना की मां बात करते हैं। मैत्रेय प्राच्या में बात करते हैं; संवाहक, कर्णपूरक, वर्धमानक, स्थावरक, रदनिका, ये सब मागधी बोलते हैं और संस्थानक निकृष्टतम प्राकृत शाकारी में बात करता है।

दसवें अंक में राजनैतिक पृष्ठभूमि के परिवर्तन के फलस्वरूप जो आर्यक राजा हुए वे नाटक में गोपालदारक हैं। इस शब्द का एक अर्थ है ग्वाले का लड़का किन्तु यह अर्थ संगत प्रतीत नहीं होता, क्योंकि प्रथमतः संस्कृत नाटक में ग्वाले का लड़का संस्कृत नहीं, प्राकृत बोलता है। द्वितीयतः ग्वाले के लड़के का नाम आर्यक अधिक अपेक्षित नहीं। तृतीयतः दसवें अंक के पचासवें श्लोक में पढ़ने को मिलता है कि आर्यक ने अपने वंश के गौरव की रक्षा की है, यह बात ग्वाले के लड़के के संबंध में प्राचीन भारत में प्रयुक्त नहीं हो सकती थी। इसलिए यहाँ गोपाल दारक यानी आर्यक के पिता का नाम गोपाल है, इसी अर्थ को सूचित करता है।

नाटक के नामकरण में भी कुछ वैशिष्ट्य है। प्रकरण का नाम नायक-नायिका के नाम पर होता है जैसे 'मालती माधव'। उस दृष्टि

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

से इस नाटक का नाम 'चारुदत्त वसन्तसेना' होना चाहिए था किन्तु नाम मृच्छकटिक पड़ा। इस नाम का सूत्र छठे अंक के प्रारम्भ में एक सामान्यतः गौण घटना में निहित है। पूर्वरात्रि में प्रिय-संगम के पश्चात् प्रातः वसन्तसेना बगीचे में चारुदत्त से मिलने जाएँगी। वहाँ चारुदत्त पहले से ही गए हुए हैं। सुबह घर पर चारुदत्त के पुत्र रोहसेन का रोना सुनकर दासी से उसका कारण पूछने पर वसन्तसेना को पता चला कि रोहसेन पड़ोसी के लड़के की सोने की गाड़ी लेकर खेल रहा था। पड़ोसी का लड़का अपनी गाड़ी लेकर अपने घर चला गया इसलिए यह रोता है। उसको बहलाने के लिए दासी एक मिट्टी की गाड़ी ले आई, उससे रोहसेन का मन बहला नहीं और रोना भी नहीं थमा। यह सुनकर वसन्तसेना की आँखों में आँसू आ गए। रोहसेन ने यह देखकर पूछा—'तुम कौन हो?' वसन्तसेना ने कहा—"मैं तुम्हारी मां लगती हूँ।" लड़के ने कहा—'मेरी मां इतने गहने नहीं पहनती।' इसके बाद वसन्तसेना ने अश्रुपूरित नेत्रों से अपने अंग के सारे गहने बारी बारी से खोला और रोहसेन की मिट्टी की गाड़ी में रखकर कहा—'जाओ बेटे! यह सब देकर सोने को खिलौना गाड़ी बनवा लो।"

यह खेलने वाली मिट्टी की गाड़ी ही संस्कृत में 'मृत्शकटिक' कहलाती है। उससे ही नाटक का नाम 'मृच्छकटिक' रखा गया। इसके प्रति विशेष ध्यान देने का कारण यह है कि नाम रखने में शूद्रक ने प्रचलित रीति का उल्लंघन करके इस घटना के द्वारा जब नामकरण किया तब निश्चय ही इसका कोई गूढ़ निहितार्थ उनका अभीष्ट था।

एक अर्थ में यह निहितार्थ ही नाटक के मूल कथ्य के रूपक का आकर्षण है। इस नाटक के पहले पाँच अंकों की घटना भास के 'चारुदत्त' नाटक के चार अंकों से ली गई है। नायक-नायिका अभिसार के लिए जा रहे हैं, वहीं उनके आसन्न मिलन के संकेत में भास के नाटक की परिसमाप्ति होती है। किन्तु मृच्छकटिक में नाट्य-वस्तु का

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जो कुछ गौरव है वह छठें से दसवें अंक तक निहित है। नाटक की अन्तर्निहित समस्या छठें अंक में दिखाई देती है। सातवें से नवें अंक तक में जटिल हो जाती है और दसवें अंक में उसकी अन्तिम परिणति होती है। इसलिए मृच्छकटिक जहाँ नाटकीय तात्पर्य की गम्भीरता से जुड़ता है, वहाँ सब कुछ शूद्रक का ही कृतित्व है एवं छठे अंक से ही उस अंश की सूचना है। यह घटना छठे अंक के प्रारम्भ में ही है एवं इसके ही भीतर नामकरण का उत्स है।

नाटककार यहां मंच पर एक दृश्य प्रस्तुत करता है कि गहनों से लदी वसन्तसेना ने सारे गहने खोलकर मिट्टी की गाड़ी में रख दिया और वे आभूषण रहित हो गई क्योंकि गहनों को पहने की स्थिति में रोहसेन उन्हें मां के रूप में स्वीकार नहीं कर सकता। इससे गहना धारण करने में चारुदत्त के साथ उनके सम्बन्ध की भी जैसे एक प्रच्छन्न अस्वीकृति रह जा रही थी। यहाँ दो घटनाएँ घटीं जिसके रूपक का तात्पर्य है—एक तो वसन्तसेना का गहने खोलना, दूसरा मिट्टी की गाड़ी का सोने से भर जाना।

समाज में भले-बुरे का जो अन्तर्निहित द्वन्द्व है, वह लगता है एक सांकेतिक रूपकल्प के रूप में यहाँ दिखाई पड़ा। राजा पालक एवं उसका साला शकार दोनों धनी हैं और दोनों शक्तिमान तथा दुर्जन हैं। चारुदत्त शर्विलक, संवाहक, दर्दुरक, स्थावरक, वर्धमानक, मदनिका रदनिका गोह, आहीन्त ये सभी ईमानदार और दरिद्र हैं। व्यतिक्रम एक ही थीं वसन्तसेना। वे धनी थीं किन्तु उनमें कोई छल छद्म नहीं था। छठे अंक में जब उन्होंने गहने उतार दिए तभी उन्हें लगा कि वे चारुदत्त के पास आकर उसके बराबर खड़ी हो पाई हैं। और मंच के ऊपर जब एक मिट्टी की गाड़ी में सोने के गहने भर दिए गए तब वह मिट्टी की गाड़ी ही नाटक के साधु चरित्रों का प्रतीक बन गई और बाहर से जो गरीबी और खस्ताहाली के पर्याय हैं (जैसे वसन्त सेना का जन्म गणिका कुल में, चारुदत्त तथा अन्याय चरित्रों की साधुता

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

और दरिद्रता) किन्तु जिनका आभ्यन्तर चरित्र बल विशुद्ध सोना है उनका प्रतीक बन गई वही मृतशकटिका। इसी एक रूपक पर आधारित है नाटक का मूल कथास्रोत और इसके द्वारा ही नाटक के नामकरण की यथार्थता या सार्थकता प्रमाणित होती है।

हालांकि अधिकांश संस्कृत नाटकों में राजा ही नायक की भूमिका में हैं, किन्तु मृच्छकटिक में राजा नेपथ्य में ही रहता है। इस नाटक के अन्य चरित्र समाज के सभी स्तरों से लिए गए हैं एवं बहुसामाजिक अवस्था तथा पेशे का चरित्रों में प्रतिफलन हुआ है। नेपथ्य में राजा प्रकट में एक समय के धनाढ्य चारुदत्त, धनी वसन्त सेना, कुलपुत्र शर्विलक और संवाहक, नव धनाढ्य संस्थानक, अधुना दरिद्र दर्दुरक, दरिद्र चारुदत्त का सखा मैत्रेय, गणिका मदनिका भृत्य स्थावरक, वर्धमानक, दासी रदनिका एवं दरिद्र चण्डाल। पेशे की दृष्टि से गणिका, वणिक विट, चेट या जार अधिकरणिक या दण्डाधिकारी न्यायाधीश, श्रेष्ठी कायस्थ, दास-दासी, चोर, संवाहक श्रमण, हाथी का महावत, प्रवहणिक, जुआड़ी चंडाल सभी हैं। वर्णों में ब्राह्मण, वैश्य, कायस्थ और चण्डाल हैं। बीच-बीच में एक ही पेशे के व्यक्तियों में भिन्न चरित्र के मनुष्यों की विचित्रता उभरी है। जैसे दो विदूषक वीरक चन्दनक गोह-आहीन्त।

नायक की हैसियत से जिस प्रकार चारुदत्त के चरित्र में, उसी प्रकार नायिका के हैसियत से वसन्तसेना के चरित्र में अन्तर्हित द्वन्द्व है। चारुदत्त विवाहित हैं, पुत्रवान हैं, एवं पत्नी धूता के प्रति उदासीन नहीं किन्तु उनके जीवन में एक ऐसा नया और उत्कृष्ट प्रेम प्रवेश पा चुका है, जिसकी चरितार्थता का रास्ता सामाजिक नियमों के कारण अवरुद्ध है क्योंकि गणिका को धन के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है और सम्प्रति वे निर्धन हैं। वसन्तसेना गणिका है, चारुदत्त के प्रति प्रेम है, मिलन का रास्ता सहज नहीं क्योंकि आर्थिक स्थिति के कारण चारुदत्त उसके पास तक जाने में समर्थ नहीं। किन्तु

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इस प्रेम के कारण वसन्तसेना के जीवन में एक परिवर्तन आ गया है इसलिए उसने मन वचन कर्म से गणिका वृत्ति को छोड़ दिया है। जो कुछ गहने नाटक के नामकरण में इतने तात्पर्य पूर्ण हो उठे हैं उन्हें प्रथम अंक में वसन्तसेना कौशल पूर्वक चारुदत्त के पास सँजोकर रख देती हैं ताकि उनकी मुलाकात फिर हो सके। दैवयोग से उन गहनों को चुरा कर चोर शर्विलक मदनिका के निष्क्रय मूल्य या शुल्क के रूप में वसन्तसेना को लाकर देता है एवं चोरी के अपवाद से बचने के लिए विदूषक धूता का बहुमूल्य मोतियों का हार लाकर वसन्त-सेना को देता है। वसन्तसेना ने कहला भेजा कि उस शाम को ही वे चारुदत्त के पास जाएँगी।

अनेक उपकथनाकों के माध्यम से चारुदत्त एवं वसन्त सेना जहाँ प्रेमी प्रेमिका नहीं हैं वहां उनकी मनुष्यता एवं महत्ता का परिचय दिया गया है एवं एक मात्र इसी नाटक में चारुदत्त एवं वसन्तसेना एक दूसरे के रूप पर ही मुग्ध नहीं बल्कि गुण के प्रति भी अभिभूत हैं। पाँचवें अंक में इनका क्षणिक मिलन होता है। छठे अंक से दसवें तक विरह एवं अनेक प्रतिकूल स्थितियों-विपर्ययों के बीच दोनों ने दुःख के मूल्य द्वारा मृत्यु के सम्मुख आकर प्रेम को जीवन की गहराई में प्राप्त किया।

हालांकि इस नाटक में अनेक पार्श्व चरित्रों का भी महत्व है (जैसे आर्यक, स्थावरक, शर्विलक, संवाहक, चन्दनक और वसन्तसेना की माता) तब भी संक्षेप में अन्ततः दो गौण पात्रों के सम्बन्ध में कुछ कहना जरूरी है। इनमें एक मैत्रेय विदूषक है। संस्कृत नाटक में विदूषक की एक सुपरिचित भूमिका होती है—भाँड़ एवं औदरिक (भोजन भट्ट) की भूमिका। मैत्रेय दोनों में ही पूर्ण नहीं; किन्तु दोनों के लक्षण उनके चरित्र में विद्यमान हैं, वे भोजन रसिक और परिहासप्रिय हैं। प्रथम परिचय में ही मैत्रेय अपनी अपेक्षित भूमिका का उल्लंघन कर गये। जिस निमंत्रण के स्वीकार करने पर मित्र चारुदत्त की

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

दरिद्रता प्रकट रूप में अपमानित होती उसे उन्होंने अनायास एवं गर्व-पूर्वक अस्वीकार कर दिया। नाटक में उनका परिचय चारुदत्त के ऐसे मित्र के रूप में प्राप्त होता है जो दुर्दिन में, राष्ट्रविप्लव में, श्मशान में निकट रहता है, जो मित्र की मृत्यु के पश्चात् जीवित रहने की बात सोच ही नहीं सकता, जो चारुदत्त के सम्मान की रक्षा के लिए नित्य प्रस्तुत रहता है और चारुदत्त के स्वार्थ के सामने जिसका सब कुछ गौण हो जाता है।

संस्थानक के जो विट हैं उनके चरित्र में भी वैशिष्ट्य है। संस्थानक के वे वेतनभोगी सहचर हैं किन्तु दरिद्रता के दबाव से एक दुष्ट व्यक्ति के निजी सेवक होने में जो ग्लानि है उससे वे पूरी तरह परिचित हैं। संस्थानक केवल मूर्ख नहीं वह धूर्त, निष्ठुर, कामुक, स्वार्थी और अत्याचारी है। फिर भी दुर्भाग्य से उसकी ही स्वार्थसिद्धि के लिए सचेष्ट रहने की प्रचलित भूमिका के ही विट अभ्यस्त थे एवं मालिक संस्थानक के स्वार्थ के लिए बार-बार उन्होंने निष्ठुरता पूर्वक वसन्तसेना को याद दिलाया है कि धनी संस्थानक की इच्छापूर्ति में बाधा डालना पूर्णतः असंगत है। भले-बुरे साहचर्य-प्रार्थी के साथ समान रूप से आचरण करना गणिका का कर्त्तव्य है क्योंकि वह रास्ते के किनारे की ऐसी लता है जिसका फूल कोई भी तोड़ सकता है; किन्तु इस विट ने जब सुना कि वसन्तसेना चारुदत्त के प्रति आसक्त है, उसी समय उसके मन में परिवर्तन आया, वसन्तसेना का प्रेम उसके लिए संभ्रम की वस्तु हो उठा एवं वसन्तसेना तथा चारुदत्त के मिलन के लिए हर तरह से अनुकूलता की व्यवस्था करना और मालिक संस्थानक की कामुकता का हर प्रकार से विरोध करना उसका एकमात्र कर्त्तव्य हो गया। शकार जब वसन्तसेना का गला दबाकर उसे छोड़ गया तब वसन्तसेना को मृत जानकर सजल नेत्रों से विट आशीर्वाद देते हुए कहता है: सुन्दरी! इस जन्म के पश्चात् किसी निर्मल वंश में जन्म लेना, तुम्हारे गणिका जन्म की यंत्रणा का अवसान यहीं, इसी जन्म में

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitization by eGangotri

हो जाए। हमें लगता है कि बौद्ध भिक्षु की परिचर्या के कारण जब वसन्तसेना को पुनर्जीवन मिला तब मानो विट का आशीर्वाद सफल हुआ, सचमुच ही मानो वसन्तसेना को नया जीवनदान प्राप्त हुआ। पहले ही उन्होंने ऐश्वर्य के तमाम चिह्नों से मुक्ति पा ली थी, इस बार इस नये जन्म में वह ऐसी निराभरण वसन्तसेना हैं जिन्हें नाटक में बार-बार वसन्त-सुषमा जैसी सुन्दरी कहा गया है, वे मानों प्रेम की महत्ता में अन्य एक शुचिता एवं पवित्रता के लोक में उजागर हुई हैं। आसन्न मृत्यु के सामने भी जो निर्भयतापूर्वक प्रेम की मर्यादा को अक्षुण्ण रख पाई हैं वे अब सचमुच ही चारुदत्त की सहधर्मिणी हुईं जो स्वयं भी प्रेम के लिए मृत्यु के द्वार पर उपस्थित हुए थे।

इस नाटक में घटनाएं द्रुतगति से घटती हैं। अनेक विचित्र उपाख्यानों ने अभिन्न रूप से मूल घटना के साथ संग्रथित होकर एक ठोस नाट्य-वस्तु की सृष्टि की है। दो-एक बार के अतिरिक्त (वसन्तसेना के गृह-वर्णन में ; शायद यह परवर्ती काल का संयोजन है। इसके अतिरिक्त दारिद्र्य और वर्षा-वर्णन में अनेक श्लोकों के समावेश से भी घटना की गति अवरुद्ध होती है किन्तु स्पष्टतः ये सब शूद्रक की रचनाएँ नहीं हैं, अनेक कवियों के प्रक्षेप से नाटक की गति धीमी पड़ गई है) संलाप या कथोपकथन एवं वर्णन के द्वारा घटना की गति कभी भी प्रतिहत या अवरुद्ध नहीं होती। प्रथम अंक की घटना प्रथम दिन सन्ध्या से रात्रि, द्वितीय अंक में द्वितीय दिन, दिन की, तृतीय में द्वितीय रात्रि की, चौथे में तृतीय दिन दिन की, पाँचवें में तृतीय दिन रात्रि की, छठे, सातवें और आठवें में चतुर्थ दिन, दिन की घटना और दसवें में पंचम दिन, दिन की अर्थात् दस अंकों में कुल चार दिन की घटनाएँ हैं, इससे ही समझ में आता है कि घटना की गति कितनी द्रुत और अप्रतिहत है।

पाश्चात्य जगत में मृच्छकटिक नाटक को काफी समादर प्राप्त है। उसके कुछ कारणों का आभास अब तक मिला—जैसे नामकरण, अति-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

लौकिकता की अनुपस्थिति, विशाल सामाजिक एवं राष्ट्रीय परिसर और परिवेश, समाज के विभिन्न पेशे के लोगों का समाहार, कई भावबिम्ब एवं रूपक अनुरूपता की उपस्थिति, घटना की द्रुत गति और चरित्र-चित्रण अथवा शील निरूपण का वैशिष्ट्य—ये कुछ मुख्य कारण हैं।

मृच्छकटिक में मूल कहानी के अतिरिक्त कई एक प्रासंगिक वस्तुएँ हैं—जैसे जुए का खेल, चोरी, विक्षिप्त हाथी की कहानी इत्यादि। ये सभी अनेक प्रकार से मूल नाट्यवस्तु को ही पुष्ट करते हैं किन्तु मूल अथवा मुख्य भूमिका एवं प्रासंगिक वस्तुओं के भीतर ही कई रूपकों की अनुरूपता बार-बार दीखती है जिसमें एक है पीछे पड़ना या भय प्रदर्शन। प्रथम अंक में ही संस्थानक वसन्तसेना का पीछा करता दिखता है। उसके बाद संवाहक जुआड़ी एवं सभिक को खदेड़ता दिखता है, जंजीर तोड़कर हाथी संन्यासी को खदेड़ता है और सातवें अंक में राजप्रहरी आर्यक को खदेड़ते हैं।

और दूसरा प्रसंग उभरता है आश्रय की प्रार्थना का—प्रथम अंक में वसन्तसेना चारुदत्त के निकट आश्रय-प्रार्थना करके आश्रय प्राप्त करती हैं, द्वितीय में संवाहक वसन्तसेना के यहाँ आश्रय पाता है और सातवें अंक में आर्यक को चारुदत्त के यहाँ आश्रय मिला। अन्य एक रूपक-अनुषंग है विपर्यास या उलट-फेर का, जैसे—प्रवहण या शिविका विपर्यास अथवा गाड़ी बदलने के कारण वसन्तसेना शकार की मुट्ठी में आ गई एवं इसके ही परिपूरक विपर्यास के कारण आर्यक को चारुदत्त का आश्रय एवं प्रश्रय पाकर राजरोष से छुटकारा मिला एवं ये दोनों ही नाटक को अन्तिम पराकाष्ठा या परिणति की ओर ले जाते हैं। पीछा करने या खदेड़ने की घटनाओं पर ध्यान दें तो भले लोगों के पीछे बुरे लोग पड़े हैं, आश्रय देने के सिलसिले में अच्छे लोग, अच्छे लोगों को आश्रय दे रहे हैं और विपर्यास के क्षेत्र में विधाता सक्रिय है अर्थात् नाटक जिस भाव-रूप के जगत में गतिशील है वहाँ मुख्य रूप से मनुष्य ही घटनाओं पर नियंत्रण कर रहा है और दैव या विधाता की जितनी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कुछ भूमिका है, वहाँ भी मनुष्य के प्रतिरोध-प्रयास के कारण संकट कटा जा रहा है। संस्कृत नाट्य जगत् में यह घटना अत्यन्त विरल है।

भवभूति का 'मालती माधव' जो संस्कृत का एक और विख्यात प्रकरण नाटक है—वहाँ दैव या विधाता, नाटक की गति और परिणति के पक्ष में अपरिहार्य है। (योग सिद्धि के द्वारा सौदामिनी का आकाश पथ में भ्रमण) तंत्राचार के लिए वहाँ कापालिक अघोरघन्ट एवं उसकी शिष्या कपालकुण्डला द्वारा मालती का अपहरण, हताश माधव का अपने देह-मांस द्वारा देवी को प्रसन्न करने का प्रयास, यह सब नाटक को पूरी तरह लौकिक स्तर से कुछ अलग हटाकर ले जाते हैं ; किन्तु ये सभी मूल कहानी के अपरिहार्य अंश हैं। अर्थात् यहाँ नायक-नायिका के मिलन की बाधा भी जिस प्रकार कुछ हद तक अतिलौकिक जगत से आ रही है, उसी प्रकार उसका निराकरण भी अलौकिक शक्ति द्वारा हो रहा है। इसके अलावा दैव एवं अलौकिक शक्ति का प्रभाव अभिज्ञान शाकुन्तल में, ऋषिशाप, अग्निगृह में आकाशवाणी, आश्रमवृक्ष से वधूसज्जा की प्राप्ति, मातलि की अलौकिक शक्ति से विदूषक का अदृश्य होना, पुष्पक रथ या विमान से दुष्यन्त का स्वर्ग जाना, सर्व-दमन का अलौकिक रक्षा करण्डक इत्यादि घटना-प्रसंगों में दिखाई देता है। उसी प्रकार 'विक्रमोर्वशीय' में उर्वशी का तिरष्करिणी विद्या की शक्ति से अदृश्य होना, कुमारवन में प्रवेश करते ही लता रूप में परिणत हो जाना; 'संगमनीय मणि' की सहायता से यथार्थ रूप में आ जाना इत्यादि सभी नाटक की परिणति के लिए अपरिहार्य हैं। अन्यान्य तमाम नाटकों में दैव शक्ति की गुरुत्वपूर्ण भूमिका के अनेक उदाहरण हैं। उस दृष्टि से मृच्छकटिक की संघात समस्या एवं उसका निवारण सभी कुछ पूरे मानव-जगत में हो रहा है। इस नाटक में अन्याय एवं अमंगल का दायित्व भी जिस प्रकार मनुष्य ने लिया है उसी तरह उसके प्रतिकार का दायित्व भी मनुष्य ने ही लिया है, कभी अकेले और कभी संघबद्ध होकर। सामाजिक स्तर पर शकार ने अकेले ही अत्याचार

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

किया है जिसका प्रतिकार मुख्य रूप से चारुदत्त ने किया है और नेपथ्य में वसन्तसेना मैत्रेय, विदूषक एवं अन्य कई लोगों ने। राष्ट्रीय स्तर पर दुष्ट अन्यायी राजा पालक एवं उसके सहचरों का विरोध राष्ट्र-विप्लव के द्वारा आर्यक, शर्विलक, दर्दुरक, रेभिल और संस्थानक के विट ने किया है। नेपथ्य में इनके सहायक हैं चारुदत्त, मैत्रेय, चन्दनक। इस राष्ट्र-विप्लव के फलस्वरूप कई सामाजिक अन्यायों का प्रतिकार हुआ जैसे—वसन्तसेना को बन्धुत्व प्राप्ति, सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से चारुदत्त की पुनर्प्रतिष्ठा, शर्विलक को यश और अर्थ की प्राप्ति, चन्दनक की पदोन्नति, संवाहक को श्रमण-प्रधान पद की प्राप्ति और शकार का खुले आम अपमान। अर्थात् इस नाटक में समाज के अन्याय से मुक्ति दिलाने का दायित्व अकेले मनुष्य ने ही लिया है। न्यायकर्ता जहाँ यथेष्ट प्रमाण के अभाव में सही निर्णय देने में अक्षम हो, प्रजा जहाँ अन्यायी राजा के कुप्रबन्ध और दुःशासन से पीड़ित हो और जहाँ अपदार्थ या अयोग्य, अत्याचारी शकार के अप्रतिहत प्रताप से, ईमानदार गरीब, वणिक, बौद्धभिक्षु एवं सुन्दरी गणिका से लेकर अधिकरणिक या न्यायाधीश तक सभी संत्रस्त हों, वहाँ शुभबुद्धिसम्पन्न लोग ही समवेत प्रयास की भूमिका में राष्ट्र-विप्लव द्वारा इस अन्याय-ग्रस्त व्यवस्था का अन्त करके राजा की हत्या करते हैं तथा एक सच्चे एवं वीर राष्ट्रनायक को राष्ट्र-व्यवस्था का अधिकार प्रदान करते हैं।

मृच्छकटिक के काव्य माधुर्य अथवा काव्य रचना का भी कुछ वैशिष्ट्य है। हालांकि परवर्ती काल के अनेक प्रक्षेपों से नाटक की अत्यधिक क्षति हुई है; किन्तु काव्य रचना को दृष्टि से मूल एवम् प्रक्षेप को अलग कर लेना कठिन नहीं। स्वभावोक्ति की सहायता से अलंकृत व्यंजना से ऋद्ध-समृद्ध काव्य की रचना करना श्रेष्ठ कवियों के द्वारा ही सम्भव है। मृच्छकटिक में बीच-बीच में इस प्रकार की कविताएँ देखने को मिलती हैं। पाँचवें अंक में जब वसन्तसेना वर्षाभिसार में चारुदत्त के घर आई हैं तब विट उनके आने की सूचना घर के भीतर भेजता है—

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

"चारुदत्त को जाकर बोलो, वनों में जब कदम्ब और बकुल खिल उठे हैं ऐसे एक दिन ये प्रेम के आनन्द में प्रेमास्पद के घर आई हैं। इनके केश भीगे हुए हैं, पथ में आते हुए बिजली चमकने और मेघ की गर्जन से ये चौंक-चौंक जाती रही हैं तब भी चारुदत्त आपको देखने की इच्छा से ये आई हैं। अभी दरवाजे के निकट दोनों पावों के नूपूरों में लगे कीचड़ को धो रही हैं।" कुछ देर पहले हमने लाल साड़ी एवं वर्षा कालीन सफेद फूलों का आभूषण पहने सुन्दरीतमा वसन्तसेना को अभिसारिका के वेश में घने अँधेरे से घिरे रास्ते में देखा था। अभी देख रहे हैं कि चारुदत्त के घर के दरवाजे पर प्रफुल्लता के साथ सिर नीचा किए नूपूर का कीचड़ धो रही हैं। रक्तवस्त्र का पहनावा, वर्षाकालीन श्वेत पुरुपों का आभरण ; केश-वेश सब भीगा हुआ और यह झुककर नूपूर धोने की भंगिमा, सब मिलकर एक चित्र बन गया है तब भी अनेक व्यंजनाओं का अनुरणन या प्रतिध्वनि इस श्लोक में निहित है। दशम अंक के अन्तिम श्लोक में कीचड़ उनके सामाजिक कलंक का प्रतीक है और आज मिलन के पूर्व मुहूर्त में यह धो डालना उस बात के ही संकेत को उजागर करता है। इसके अतिरिक्त मिलन के क्षणों में नूपूर की झंकार भी क्यों बाकी रहे। चौथे अंक के अन्त से असमय दुर्दिन की व्यंजना उनके प्रेम-मार्ग में सामाजिक बाधाओं की थी। अभी प्रबल मेघ गर्जन, वर्षा बिजली के बीच अभिसार के के लिए आने के वर्णन केवल चारुदत्त को देखने के लिए उनकी जो गहरी आकुलता प्रकट हो रही है और 'हृष्टा' शब्द में प्रेम का जो आनन्द स्रोत फूट पड़ा है, वही नहीं ; बल्कि प्रेम की अपराजेय शक्ति से तमाम बाधाओं को परास्त करने के संकेत की भी सूचना प्राप्त होती है।

इस नाटक के मूल अंश में अलंकारों के प्रयोग का आधिक्य नहीं है। किन्तु उसमें काव्य-रचना के कई निदर्शन विशेष रूप से दृष्टि को आकर्षित करते हैं। प्रथम अंक में रात के अँधेरे में त्रस्त 'वसन्तसेना घने अँधेरे में भागती जा रही हैं, उनके लाल आँचल की झिलमिलाहट

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

देखकर लगता है जैसे मनःशिला या मैनसिल की गुफा में कुल्हाड़ी की चोट से मनःशिला के चूरे उड़कर बिखर रहे हैं, जैसे अँधेरे में कोई मुट्ठी भर-भर कर लाल कमल की कलियाँ छितरा रहा है।' या अच्छे कुल में जन्मा बुद्धिमान दुष्ट व्यक्ति वैसा ही होता है जैसे खाद दिए हुए खेत का कँटीला पौधा। अथवा प्रखर ग्रीष्म के पश्चात् घने अँधेरे वर्षा के दिनों में जब सुबह से बादल आकर वेला बीत जाती है ऐसे ही एक दिन का वर्णन है—"प्रचण्ड ग्रीष्म ताप से तप्त पृथिवी जैसे मेघ भवन में मेघ छत्र के नीचे एक धारागृह (फव्वारे वाला स्नानागार) जल-धारा के नीचे बैठी शीतल स्निग्ध आराम के साथ आँख मूँदे सो गई है। सुपरिचित लौकिक उपमानों का चयन बीच-बीच में सार्थक रहा है जैसे शंकार के मुँह के लिए "पेड़ की डाल से बन्दर ऐसे झूल रहा है, जैसे फला हुआ कटहल।" या प्रखर ग्रीष्म की दोपहर में तपती धरती जैसे सौ पुत्रों की मृत्यु से संतप्ता गान्धारी।

अन्य एक प्रकार का गम्भीरतर एवं समृद्धतर काव्य कौशल बीच-बीच में सम्पूर्ण नाटक पर एक नया प्रकाश डालता है जिसमें एक है मिट्टी की गाड़ी में स्वर्ण जिसे हमने पहले ही देखा है। अन्य एक स्थल पर सातवें अंक में चारुदत्त की शिविका या पालकी में आर्यक के निर्विघ्न चले जाने के ठीक पहले हम चारुदत्त-आर्यक के मुँह से खण्डित श्लोक का वह संवाद देखते हैं, जिसके परस्पर परिपूरक वाक्यांश में पूरे नाटक को एक उदात्त, उज्ज्वल गौरव प्राप्त होता है। इस श्लोक के द्वितीयार्ध चारुदत्त और आर्यक के मुँह से चार अर्धचरणों में परिणत हुए हैं, चारुदत्त आर्यक से कह रहे हैं।

चारुदत्त : रास्ते में जाते समय देवता तुम्हारी रक्षा करें,
आर्यक : आपने ही तो मेरी रक्षा की,
चारुदत्त : तुम्हारे भाग्य ने ही तुम्हारी रक्षा की है,
आर्यक : वहाँ भी आप ही तो हेतु हैं।

यहाँ ध्यातव्य है कि देवता के स्थान पर मनुष्य को प्रतिष्ठित किया

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

गया है, भाग्य अथवा विधाता को भी नाटककार ने गौण करते हुए मनुष्य को ही प्रमुखता दी है जैसे देवता नहीं मनुष्य ही लोककल्याण या लोकमंगल का विधायक है।

आठवें अंक में शकार जब विट से कहता है, 'इस निर्जन उद्यान में वसन्त सेना की हत्या कर देने पर कौन देख पाएगा ?' उत्तर में विट कहता कि 'सूर्य चन्द्र आकाश हवा दशों दिशाएँ मेरी अन्तरात्मा और पाप पुण्य की साक्षी यह पृथ्वी—ये सभी देखेंगे।' इसका अन्तर्निहित अर्थ है कि मनुष्य सच्चे आचरण के लिए समस्त चराचर के निकट ही प्रतिज्ञाबद्ध है, उत्तरदायी है और अन्तिम जवाबदेही अपनी अन्तरात्मा के निकट बाकी रहती है, वहाँ मिथ्याचरण आत्म प्रवंचना है।

जीवन के पूनर्मूल्यायन की भूमिका साहित्य की वैचारिक सीमा रेखा है; इस मानदण्ड के आधार पर मृच्छकटिक का स्थान अधिकांश संस्कृत नाटकों के ऊपर है, इसलिए कि यहाँ जीवन बोध के गहरे मूल्य निरूपण का संकेत मौजूद है। चारुदत्त के जीवन में एक ओर दाम्पत्य सम्बन्ध, दारिद्र्य, दूसरी ओर गणिका के प्रति प्रेम; इसी तरह गणिका वसन्तसेना का चारुदत्त के प्रति प्रेम, दूसरी ओर गणिकावृत्ति एवं शकार का प्रलोभन; मैत्रेय की प्रचलित विदूषक की भूमिका और अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व के कारण चारुदत्त के प्रति गहरी अकृत्रिम बन्धु प्रीति, मित्र-भावना; अभ्यस्त नैतिक मूल्यबोध के कारण उपायहीन शर्विलक की चोरी में अनिच्छा, दूसरी ओर मदनिका के प्रति गहरे प्रेम के कारण चोरी में प्रवृत्त होना; मदनिका का प्रेम और वसन्त सेना के प्रति आनुगत्य या निष्ठा तथा अपनी ईमानदारी के लिए अन्याय के बदले निष्क्रय या शुल्क लेने पर आपत्ति; शकार के विट का विटसुलभ कर्त्तव्य और मानवीय दायित्व; चन्दनक का राज कार्य एवं विवेक; चारुदत्त की राजद्रोहिता की शंका एवं निरपराध शरणागत को आश्रयदान; वसन्तसेना की माँ का कन्या के प्रति स्नेह और निरपराध चारुदत्त की रक्षा करने का दायित्व; यहाँ तक कि दो चण्डालों में भी राज

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नियोग एवं विवेक-बोध का टकराव—इस प्रकार परस्पर विरोधी मूल्य-बोध के द्वन्द्व एवं टकराव के बीच नाटक की प्राणवत्ता निहित है। साधारणतः संस्कृत नाटक में चरित्रों का गठन एक निर्दिष्ट सीमित दायरे में होता है (जैसे नायक की रूपरेखा है धीरोदात्त धीरोद्धत, धीरललित, धीर प्रशान्त इत्यादि) इसलिए चरित्र में परिवर्तन की विशेष गुंजाइश नहीं रहती। किन्तु शकार के विट, संवाहक, चन्दनक, वसन्त सेना की माँ ये सभी नैतिक द्वन्द्व का सामना करते हुए स्वयं प्रचलित मूल्यबोध की परख करके परिवर्तित रूप में उसे प्राप्त कर पाए हैं। यहीं चरित्रों की जीवन्तता और विश्वसनीयता सार्थक हुई है।

इस नाटक में अनेक विचित्र व्यंजनाओं का स्पर्श है। विभिन्न प्रकार के लोग—राजा से चण्डाल आबालवृद्ध, धनी से निर्धन, सज्जन से दुर्जन तक, नाना प्रकार की भाषाएँ, नाना प्रकार का काव्य-कौशल, हास्यरस, रंग कौतुक श्लेष, सामाजिक एवं व्यक्तिगत व्यंग्य-विद्रूप; अनेक प्रकार की विचित्र घटनाओं के समावेश और अनेक स्वार्थों के टकराव तथा अनेक रसों का संचार, सब मिलाकर नाटक ने समाज एवं मानव जीवन के विस्तृत परिदृश्य को प्रतिबिम्बित तो किया ही है, इसके अलावा जीवन की अनेक आवेगजन्य उपलब्धियों एवं नीतिगत मूल्यबोधों की अवतारणा विश्लेषण तथा पुनर्मूल्यायन करने में भी सक्षम रहा है। एवं अविश्वसनीय अतिलौकिकता की उपेक्षा करते हुए यह सारा कुछ लौकिकता के धरातल पर किया है जो संस्कृत साहित्य में विरल है। यहीं मृच्छकटिक अनन्य है, अद्वितीय है।

———

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

संस्कृत साहित्य में अश्लीलता

साहित्य में सुरुचि, नैतिकता इत्यादि के सम्बन्ध में अत्यधिक उदासीनता जिस प्रकार अस्वास्थ्यकर है उसी प्रकार इन सबको लेकर अत्यधिक दुश्चिन्ता भी अस्वस्थ मन का लक्षण है। यह विषय निश्चय ही महत्वपूर्ण है किन्तु साथ ही इस बात को ध्यान में रखना जरूरी है कि इस विषय में अन्तिम निष्पत्ति या निर्णय बिल्कुल ही असम्भव है। देश एवं काल में श्लीलता की सीमा-रेखा संकुचित एवं प्रसारित होती रहती है। शरीर और सम्भोग के वर्णन की अत्यधिक बहुलता की स्थिति में समाज की स्वाभाविक सुरुचि जिस प्रकार उसके प्रतिवाद में मुखर होती है, उसी प्रकार उस प्रसंग में अस्वाभाविक कुंठा एवं द्विधा की स्थिति में साहित्य उस कुंठा पर प्रहार करते हुए अपना सहज अधिकार स्थापित करता है।

प्रश्न है कि कोई साहित्य 'अश्लील' है कि नहीं, इसके विवेचन का मानदण्ड कैसे निरूपित होगा। इसके उत्तर में 'अश्लील' शब्द के इतिहास का पता लगाना अधिक अप्रासंगिक नहीं होगा। आर्य जब उत्तर-पश्चिम की ओर से मगध के निकट आए तब उसके बाद बोल-चाल की मागधी भाषा का प्रभाव वैदिक संस्कृत पर पड़ा। संस्कृत में जो 'र' वह मागधी में 'ल' है; परिणामतः वैदिक 'श्रीर' शब्द मागधी से प्रभावित 'श्लील' शब्द में परिणत हुआ। 'श्रीर' का अर्थ है श्रीयुक्त इसलिए श्लीलता के विवेचन में मूल निकष या कसौटी सौन्दर्य था। कला या शिल्प में जो सौन्दर्य का विरोधी है, वही अश्लील है। सुसंस्कृत मानसिकता से जुड़े पाठकों के रस बोध में जो बाधाओं की सृष्टि करे, वही अश्लील है।

पुनः प्रश्न उभरता है कि किस प्रकार के पाठक की रुचि के ऊपर इतना बड़ा दायित्व सौंपा जाय? इसके अतिरिक्त क्या पाठक ही

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

श्लीलता के निरूपण में अन्तिम अधिकारी है ? इस सन्दर्भ में क्या लेखक का ही प्रारम्भिक दायित्व नहीं ? शायद इन दोनों मानदण्डों का एक साथ प्रयोग करने से विवेचन अपेक्षाकृत सहज हो। अर्थात किसी रचना में लेखक का उद्देश्य ही यदि नग्न वर्णन द्वारा सुरुचि पर प्रहार करना हो एवं रचना पढ़कर स्वभावतः जो यथार्थ से डरता-कतराता नहीं, ऐसे सुरुचि सम्पन्न पाठक का मन यदि रस ग्रहण में रुकावट महसूस करे तो फिर उसे अश्लील कहने में आपत्ति की गुंजाइश नहीं रहती।

इस दृष्टि से मोटे तौर पर साहित्य को तीन श्रेणियों में विभाजित करें। प्रथम श्रेणी—जिस साहित्य में चरित्र-चित्रण एवं घटना की क्रिया-प्रतिक्रिया के बीच कलाकार या लेखक का कथ्य विषय परिस्फुट होता हो एवं जिसके लिए देह-वर्णन को स्थूल रूप से गौण करते हुए सम्पूर्ण नेपथ्य में रखा जाए। द्वितीय श्रेणी : जिस साहित्य में मन की प्रमुखता के बावजूद उसके आवेग-संवेग, वैचित्र्य, टकराव एवं परिणाम को चित्रित करने की दिशा में देह-वर्णन को यथा स्थान एवं उचित मात्रा में उपस्थापित किया गया हो। तृतीय श्रेणी : जिस साहित्य में शुरू से ही शरीर एवं सम्भोग का विचित्र एवं नग्न या खुला वर्णन ही नियोजित हो। यह तृतीय श्रेणी की रचना ही वस्तुतः अश्लील है तथा इसके विवेचन का निकष लेखक का उद्देश्य और पाठक की उपलब्धि अर्थात् रचना की साधना और सफलता दोनों ही है।

साहित्य का उद्देश्य केवल वास्तविकता का यथातथ्य अथवा अकुंठ या बेबाक वर्णन नहीं है बल्कि जीवन के मूल्य-निरूपण के बारे में मनुष्य के बोध को उन्नततर, समृद्धतर करना ही साहित्य का मूल कृत्य है। इसके लिए एवं केवल मात्र इसके लिए ही—यदि शरीर अथवा शारीरिक विषय ही वर्णन का उद्देश्य हो तो साहित्य उसे अवश्य स्वीकार करेगा और वह साहित्य जिस किसी परिष्कृत रुचि की कसौटी पर खरा उतरेगा ; किन्तु इस प्रकार का वर्णन ही जब प्रमुख हो जाए

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अथवा अप्रासंगिक या अनावश्यक प्रतीत हो तब वह साहित्य के रसिकों, रसज्ञों की सुरुचि या 'श्री' की सीमा लाँघने के कारण ही अश्लील है।

संस्कृत साहित्य में रामायण महाभारत प्रथम श्रेणी की रचनाएँ हैं। महाकाव्य के वृहत् गतिशील परिसर में देह के सामान्य वर्णन के अलावा सूक्ष्म रूप से किसी अंग या अवस्था के वर्णन की गुंजाइश नहीं रहती। इसीलिए इस अर्थ में विश्व के सारे महाकाव्य ही देह के सम्बन्ध में उदासीन हैं क्योंकि एक युग के जन-मानस की विराट आशाएँ, आकांक्षाएँ, अभिज्ञता एवं उपलब्धि जिस रचना का उपजीव्य हो, वहाँ किसी विशेष चरित्र के शरीर का व्योरा अथवा सम्भोग के कौशलपूर्ण वर्णन में कालक्षेप करने का अवकाश नहीं रहता।

द्वितीय श्रेणी के संस्कृत साहित्य में अधिकांश कवियों, रचनाकारों की रचनाओं में—भास, अश्वघोष, कालिदास, अमरु, शूद्रक, बाणभट्ट, भवभूति इन सब ने मुख्यतः चरित्रों के विकास को उद्घाटित करने के उद्देश्य से ही देह और सम्भोग का वर्णन किया है। कालिदास के काव्य में हम देखते हैं कि कवि ने कुमारसम्भव में पार्वती के शरीर का आपादमस्तक वर्णन किया है। उस वर्णन में पाठक का सौन्दर्य-बोध परितृप्त होता है किन्तु कामनाओं का उन्मेष नहीं होता। मेघदूत की यक्ष-प्रिया एवं रघुवंश की सीता का रूपवर्णन एवं सन्तानसम्भवा सुदक्षिणा एवं इन्दुमती के शरीर का वर्णन भी इसी श्रेणी का है। वर्णन प्रासंगिक हैं और काव्य के निजी प्रयोजन की सिद्धि के लिए ही अर्थात् चरित्र-चित्रण एवं रस-संचार के प्रयोजन के कारण ही इनकी रचना हुई तथा इन सारे अंशों में काव्य का मूल रस पुष्ट होता है, इसीलिए कहीं भी अस्वस्थ संकेत का सहारा लेने की जरूरत नहीं पड़ी। चरित्र विकास अथवा रस-सृष्टि के प्रयोजन के साथ इन अंशों का एक प्रसंगगत एवं मात्रागत सामंजस्य है (कवि की सुरुचि में ही वह मात्रा-बोध स्पष्ट रहता है) इसलिए अनुपयुक्त स्थान पर प्रयुक्त होने के बावजूद

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ये तमाम वर्णन रस-भंग नहीं करते। कुमारसम्भव के अष्टम सर्ग में जगत्पिता एवं जगन्माता के रूप में वन्दित देवदम्पत्ति के सम्भोग वर्णन में जिस कुरुचि का परिचय मिलता है उससे पता चलता है कि सप्तम सर्ग के परवर्ती सर्ग प्रक्षिप्त हैं और इसकी अधिक सम्भावना है कि वे कालिदास द्वारा नहीं रचे गए।

किन्तु कालिदासोत्तर साहित्य में इस प्रकार के प्रचुर उदाहरण प्राप्त होते हैं। भारवि के किरातार्जुनीय महाकाव्य का उपजीव्य है तपस्या द्वारा अर्जुन की दिव्यास्त्र-प्राप्ति की चेष्टा, तपस्या के अन्त में महादेव, कार्तिकेय और उनकी सेना के साथ युद्ध तथा अन्त में महादेव की कृपा से पाशुपतास्त्र की प्राप्ति। इस कहानी का रस, वीररस है किन्तु अलंकार शास्त्र में कहा गया है कि अंगीरस अर्थात् मूल रस यदि वीर रस हो तो फिर शृङ्गार अथवा हास्य अंगीरस होगा। महाकाव्य में अंगीरस के संचार का दायित्व जितना अलंकार शास्त्र के निर्देश का है उतना साहित्य की निजी प्रेरणा का नहीं। इसलिए अंगीरस के रूप में शृङ्गार रस की अवतारणा करनी होगी। किन्तु कहाँ? तपस्यारत और युद्ध के लिए प्रस्तुत अर्जुन के पक्ष में सम्भोग में प्रवृत्त होना अप्रासंगिक होगा, इसलिए अंगीरस के आग्रह के कारण गन्धर्व-अप्सरा एवं षड्ऋतुओं को नायक-नायिका के रूप में लाना पड़ा एवं चार सर्ग तक उनके विलास का वर्णन चलता रहा। इस वर्णन में कवि अपने कला-कौशल का चाहे जितना ही परिचय क्यों न दे किन्तु मूल कहानी के साथ कोई अन्तर्सम्बन्ध न होने के कारण यह अंश असम्पृक्त लगता है, इससे पाठक की रुचि आहत होती है। चरित्र के विकास के सन्दर्भ में जो सहज भाव से कहानी के भीतर अनुस्यूत हो सकता था उसे केवल बाह्य निर्देश के पालन के लिए उपस्थित करने के कारण ही साहित्य की कोई सत्य प्रेरणा यहाँ पूरी तरह अनुपस्थित है, इसलिए इस वर्णन का 'श्री' एवं सुरुचि के साथ मेल नहीं, यह वर्णन अश्लील है।

माघ के 'शिशुपाल वध' में यह विषय और भी ज्यादा स्पष्ट है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitization by eGangotri

युधिष्ठिर की अभिषेक-सभा में प्रधान अतिथि के सम्मानार्थ शिशुपाल श्रीकृष्ण का प्रतिद्वन्द्वी है। यह कहानी भी वीर रस-प्रधान है। स्वभावतः यहाँ भी शृङ्गार-रस की कोई गुन्जाइश नहीं क्योंकि सचमुच ही मूल कहानी को शृङ्गार-रस किसी तरह स्पर्श ही नहीं कर सकता। फिर भी आलंकारिकों के निर्देश के कारण अंगीरस की अवतारणा करनी पड़ी है। इसीलिए सप्तम सर्ग में सम्भोग-वर्णन, अष्टम में जल-विहार वर्णन, नवम में चाँदनी-विहार और दशम में मधुपानोत्सव एवं एकादश में प्रभातकालीन सम्भोग-वर्णन है—यह पूरा भाग मूल कहानी के परिप्रेक्ष्य में पूरा का पूरा ही प्रक्षिप्त है। यहाँ पात्र-पात्री सभी की इन कई सर्गों के लिए ही सृष्टि की गई है फिर उनका परित्याग कर दिया गया है। स्पष्ट है, कि काव्य के निजी प्रयोजन की भूमिका में इस अंश की रचना नहीं हुई। एक मात्र आलंकारिकों के निर्देश के अनुसार ही इनकी रचना की गई एवं तत्कालीन पाठक वर्ग की रुचि के आग्रह से ही ऐसा हुआ। इसलिए काव्य-पाठ के समय यह समस्त शृंगार-परिक्रमा रुचि को आहत करती है। नग्नता का वर्णन चाहे जितना ही कला-कौशलपूर्ण क्यों न हो, जब पाँच लम्बे सर्गों तक पूरी तरह अकारण जारी रहे तब कृत्रिम रूप से प्राधान्य प्राप्त करने की चेष्टा के अपराध में काव्यालोचन की दृष्टि से उसे अश्लील मानकर स्वीकार करना ही होता है क्योंकि काव्य में उसकी कोई भी यथार्थ सार्थकता नहीं। इस अंश में शृङ्गार रस के परिवेशन अथवा समावेश से काव्य द्वारा पाठक की ऐसी वृत्ति को परितृप्त करने का साधन प्रस्तुत किया गया है जो काव्यरस के उपभोग या रसास्वादन द्वारा चरितार्थ नहीं होता। काव्य के इस अंश में पाठक की जो साहित्यसम्मत प्रत्याशा अथवा उपलब्धि है, उसके भीतर शिल्पगत यथार्थ अथवा 'श्री' नहीं, इसलिए यह अंश अश्लील है। परवर्ती काल के तथाकथित महाकाव्य में देह-वर्णन, काव्य के लम्बे भाग तक जुड़े रहने से प्रमुख हो उठा है। ऐसी कुरुचि की मिसाल मिलती है 'हरविजय' काव्य के द्वादश से

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अट्ठाईसवें सर्ग तक, 'कप्फणाभ्युदय' काव्य के आठवें से पन्द्रहवें तक, 'द्वाश्रय' काव्य के सातवें सर्ग में, अथवा 'कुमारपाल चरित' के चौथे सर्ग में एवं विल्हण के 'चौरसुरत पंचाशिका' तक, हालांकि उनमें कहीं-कहीं सचमुच रस भी दिखाई देता है।

किन्तु इस प्रकार की कुरुचि का उत्कृष्ट उदाहरण 'नैषध चरित' के दूसरे सातवें, सोलहवें, अठारहवें, उन्नीसवें और बीसवें सर्ग में पाया जाता है। नल-दमयन्ती की कहानी का जो अंश श्री हर्ष का उपजीव्य है, उसका वर्णन महाभारत में दो सौ से भी कम श्लोकों में किया गया है। नैषध में उसकी संख्या प्रायः २८०० श्लोक है अर्थात् महाभारत का हर श्लोक नैषध में औसतन चौदह श्लोकों में स्फीत हुआ है। इसमें कवि का पांडित्य-प्रदर्शन, अलंकार-प्रयोग का कौशल और वर्णन को दीर्घ करने की निपुणता को छोड़ देने के बाद भी देह का सूक्ष्म से सूक्ष्म वर्णन कलेवर-वृद्धि का मुख्य कारण है। नल-दमयन्ती की कहानी महाभारत के श्रेष्ठ उपाख्यानों में अन्यतम है। प्रबल घात-प्रतिघात के भीतर नल-दमयन्ती का चरित्र अपूर्व महिमा एवं सौन्दर्य के साथ विकसित हुआ है। इस असाधारण कहानी के भीतर श्री हर्ष की व्यक्तिगत संयोजना है देहवर्णन में निपुणता और बहिरंग का अलंकरण; इसलिए मन से अलग जहाँ शरीर ही मुख्य हो गया है वहाँ एक भिन्न प्रकार का पाठक उपस्थित होता है जिसके निकट काव्य में जीवन-बोध अथवा रसोपलब्धि प्रत्याशित नहीं बल्कि संभोग-वासना का जो उद्रेक कर सकता है, ऐसा नग्नवर्णन अथवा उससे भी अधिक अशालीन, शृङ्गार के अनेक निपुण संकेतों की ही वह काव्य में आशा करता है। इस वस्तु के स्रष्टा भी सुसाहित्यिक नहीं और पाठक भी रसबोद्धा नहीं अतएव इससे शालीनता की अनायास ही उपेक्षा हुई है, कला के आग्रह के कारण नहीं बल्कि प्रवृत्ति को उद्दीपित करने के प्रयोजन से ही ऐसा हुआ है।

इस तृतीय श्रेणी के साहित्य में कामनाओं का उन्मेष, उद्दीपन ही

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitization by eGangotri

मुख्य उद्देश्य है ; देह और सम्भोग का वर्णन ही यहाँ मूल उपजीव्य है ; मन यहाँ नितान्त ही गौण है अथवा सम्पूर्णतः अनुपस्थित है। शिल्प की दृष्टि से रचना रसोत्तीर्ण नहीं ; इसकी साधना भी हीन है और सिद्धि भी हीन है इसीलिए साहित्य में इसका कोई यथार्थ स्थान नहीं है। साहित्य के निजी प्रयोजन की दृष्टि से जो गौण है उसने जैसे अपने अधिकार से बाहर जाकर शिल्प के परिमिति बोध को आहत किया है। बहिरंग ने जैसे मूल उपजीव्य को ढँकने की कोशिश में स्वयं को ही मर्यादाच्युत किया है। कालिदास के काव्य में भी शरीर अत्यन्त प्रत्यक्ष रूप से ही विद्यमान है किन्तु पूरी परिकल्पना के अंग-विन्यास के साथ कहीं भी, प्रसंगतः अथवा मात्रागत उसका कोई विरोध नहीं। अतएव वह वर्णन समग्र के सौन्दर्य का परिपूरक है। अयथार्थ या मिथ्या अधिकार के लोभ में उद्‌ग्र रूप से प्रगल्भता के साथ समग्र को एवं स्वयं को श्री-भ्रष्ट नहीं किया गया है। बाणभट्ट की कादम्बरी में चण्डालकन्यका, पत्रलेखा, कादम्बरी एवं महाश्वेता के रूप का वर्णन तथा कादम्बरी में सन्तानसम्भवा विलासवती एवं हर्षचरित में सन्तानसम्भवा यशोमती के शरीर का वर्णन ये सभी पूरी कहानी का अविच्छेद्य एवं परिपोषक अंश लगते हैं, इसी कारण ये पाठकों को परितृप्त करते हैं, किसी प्रकार की कुण्ठा अथवा जुगुप्सा या घृणा को जन्म नहीं देते।

देह अपने स्वयं के अधिकार के कारण ही यथार्थ है एवं यथार्थ होने के कारण ही साहित्य उसकी उपेक्षा नहीं करेगा ; आवश्यकतानुसार वर्णन करेगा। किन्तु केवल कला या शिल्प के आग्रह द्वारा ही जितने सूक्ष्म वर्णन से नायक-नायिका के मन का विकास या चरित्र-चित्रण प्रस्तुत करना सम्भव होता है उतना ही सूक्ष्म वर्णन करेगा। परिशीलित या सुसंस्कृत रुचि के पाठक यदि महसूस करते हैं कि अनावश्यक विस्तार के साथ देह अथवा सम्भोग-वर्णन द्वारा कामोत्तेजन या कामनाओं का उद्दीपन ही एकमात्र उद्देश्य लगता है एवं उसके द्वारा रसबोध में विघ्न पैदा होता है तो फिर उसे शिल्पगत कारणों से ही साहित्य में अनुत्तीर्ण

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मानना होगा। साहित्य में शिल्पेतर कोई नैतिक अथवा सामाजिक मानदण्ड प्रयोज्य नहीं। वस्तुतः रसोत्तीर्ण साहित्य के पाठक शिक्षा-दीक्षा एवं रुचि-भेद के कारण पूरे दो वर्ग के लोग हैं। एक वर्ग की रचना के द्वारा दूसरे वर्ग के अभीष्ट पाठकों की परितृप्ति नहीं होगी। साहित्य के निकट दोनों की प्रत्याशा भी भिन्न है। इसके कारण ही देह वर्णन का प्राचुर्य होते हुए भी कालिदास सत्साहित्य के प्रणेता हैं—किन्तु माघ अथवा श्री हर्ष की रचनाओं में प्रचुर कला-कौशल एवं पाण्डित्य होने के बावजूद शिल्पगत रुचि के विचार या विवेचन में इनकी रचनाएँ उपेक्षित रह गईं।

— —

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

संस्कृत साहित्य में शूद्र और नारी का चित्रण

पाँचवीं से ग्यारहवीं शताब्दी के बीच

शास्त्रों द्वारा दिए गए सामाजिक अनुशासन या विधान द्वारा साहित्य में प्रतिबिम्बित सामाज-चित्र की रूपरेखा का निर्द्धारण होता है। इस रूपरेखा अथवा ढाँचे का अतिक्रमण करने के लिए साहित्यकार को निश्चित रूप से स्वतंत्रता प्राप्त है तथा निर्दिष्ट सामाजिक अनुशासन या परम्परा क्रम से प्राप्त ढाँचे की समालोचना करने एवं स्वतंत्र कल्पना या स्वप्न देखने का अधिकार है। संस्कृत साहित्य में भी कभी-कभी यह सीमित स्वाधीनता दिखी है किन्तु मोटे तौर पर साहित्य सामाजिक नियमों का उल्लंघन नहीं करता बल्कि उनको केवल प्रतिबिम्बित करता है। इसलिए पहले इस ढाँचे का एक साधारण परिचय प्राप्त करना जरूरी है।

शूद्र के क्षेत्र में धर्मसूत्र से धर्मशास्त्र और स्मृतिग्रन्थ तक सभी ने एक स्वर में कहा है कि उसका स्थान तीन वर्णों के नीचे है और हर प्रकार से उनकी सेवा करना उसका एक मात्र कर्तव्य है। परवर्ती काल में पुनर्जन्म एवं कर्मवाद के द्वारा इस मत को यह कहकर सुदृढ़ रूप दिया गया कि पूर्वजन्म के दुष्कर्मों के फलस्वरूप शूद्र का जन्म शूद्र रूप में होता है एवं इस जन्म में द्विज सेवा में त्रुटि होने पर वह और भी हीन पशु-योनि को प्राप्त होगा। इन सब मतों के प्रचलन के कारण शूद्र का स्थान तीनों वर्णों के नीचे रहा। सभी शूद्र दास नहीं, शूद्रों में जो अधिक अभागे थे वही दास थे, अन्य सभी वृत्तिजीवी या किसी न किसी पेशे से सम्बन्धित थे। इन वृत्तिजीवियों के दो भाग थे : एक वे जिनके हाथ का छुआ पानी पीने में तीनों वर्णों के लिए कोई सामाजिक आपत्ति नहीं थी, दूसरे वे जिनका छुआ पानी पीने का निषेध था। इस दूसरे भाग में हैं वृषल, पुल्कस, श्वपाक, डोम एवं चण्डाल।

साहित्य में दो प्रकार के ही शूद्र मिलते है। कालिदास के "रघुवंश"

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

में आदर्श राजा दिलीप के वर्णन में जाति के सम्बन्ध में कालिदास कालीन सामाजिक बोध की एक ऐसी संज्ञा प्राप्त होती है जो दो-अर्थी व्यंजना से रहित है, मनु द्वारा निर्धारित मार्ग से उनकी प्रजा तनिक भी इधर-उधर नहीं जाती (१४ । ६७) अर्थात् गुप्तकाल में मनुसंहिता का अनुशासन ही दुर्लंघ्य था। मनुसंहिता में जन्म के आधार पर जाति; ब्राह्मणों की श्रेष्ठता, द्विजों का अधिकार एवं शूद्रों की सर्वत्र हीनता सुदृढ़ रूप से वर्णित है तथा विना किसी प्रतिरोध के प्रतिष्ठित या स्थापित की गई है। अभिज्ञान शाकुन्तल में एक मछुवारे का उल्लेख है जिसके पेशे को लेकर रक्षा या प्रहरी विद्रूप करते हैं। उसके द्वारा पकड़ी गई मछली के पेट में दुष्यन्त की अंगूठी मिली है इस बात का वे विश्वास ही नहीं करते और सोचते हैं कि उसने अंगूठी चुराई है, उसे फाँसी देने के लिए उनके हाथों में खुजली पैदा होने लगती है। अन्त में अगूठी पाकर दुष्यन्त ने जब उसे कुछ अर्थ पुरस्कार में दिया तो वह निर्दोष तो अवश्य ही प्रमाणित हुआ किन्तु संभवतः भय के कारण ही उसने पुरस्कार का एक अंश प्रहरी को घूस में दे दिया। इससे समाज में उसकी संत्रस्त स्थिति का स्पष्ट रूप से परिचय मिलता है। रघुवंश में रामायण के शम्बूक-वध उपाख्यान की पुनरावृत्ति है। रामायण की तरह ही यहाँ भी राम ने तपस्वी शूद्र की हत्या करके देश को पाप मुक्त किया, किन्तु कालिदास को रामायण के उपाख्यान से कुछ अधिक सन्तोष का बोध नहीं हुआ। इसके दो प्रमाण वे छोड़ गए हैं। प्रथमतः "तपः शीर्ण शूद्र का मुख रेणु युक्त कमल जैसा था उसको राम ने खड्ग के आघात द्वारा मृणाल से अलग कर दिया।" (१५ । ५१-५२)—यह उपमा एक साक्ष्य प्रस्तुत करती है। द्वितीयतः मृत्यु के पश्चात् शम्बूक ने सद्गति प्राप्त की यह क्रान्तिकारी उक्ति है। क्रान्तिकारी कहने का तात्पर्य यह है कि वाल्मीकि के विचार से वह पापी था, उसकी सद्गति प्राप्ति का कोई प्रश्न ही नहीं उठता था। आठवीं सदी में भवभूति के "उत्तर रामचरित" में देखते हैं कि इस उपाख्यान ने नाटककार के

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

संवेदनशील चित्त को कुछ बेचैन कर रखा है। इसलिए रामायण में जहाँ शम्बूक वध के पश्चात् देवता पुष्पवृष्टि द्वारा देश को अनाचार से मुक्त करने के लिए राम का अभिनन्दन करते हैं और कहते हैं कि शूद्र कभी देवलोक के सुख भोग का भागी हो नहीं सकता, वहाँ "उत्तर रामचरित" में मृत्यु के पश्चात् ही शम्बूक दिव्य पुरुष में रूपान्तरित होते हैं एवं राम उनसे कहते हैं—तुम अपनी कठिन तपस्या से फल का भोग करो ; जहाँ सुख, आनन्द, पुण्य एवं समृद्धि नित्य विराजित हैं, उस प्रशान्त एवं उज्ज्वल वैराज लोक के अधिकारी बनो (द्वितीय अंक) इस उक्ति में ही धर्मशास्त्र, वाल्मीकि एवं समाज के अमानवीय विधान का परिचय मौजूद है।

भारवि के "किरातार्जुनीय" में एक किरात है जो कठोर शब्दों में बात करता है, जिसका आचरण सुदृढ़ और दर्पदीप्त है, किन्तु वह शूद्र नहीं किरात है, वर्णों में विभक्त समाज से अलग-थलग जैसे निषाद अथवा शबर, इसलिए वह वर्ण-विन्यास के ढाँचे से बाहर का है। माघ के शिशुपालवध में शूद्र के रूप में परिचय की कोई स्वतंत्र भूमिका नहीं है।

पहला विस्मयकर व्यतिक्रम बाणभट्ट के यहाँ दीखता है। 'कादम्बरी' में शबर सेनापति एक ऐसा चरित्र है जो अपनी शक्ति, शारीरिक बल एवं शिकारी की निष्ठुरता में सचमुच जीवन्त है : "जैसे एकलव्य नया जन्म लेकर आया हो। उसके माथे पर तीन रेखाएँ लगता है भक्ति से प्रसन्न होकर कात्यायनी (महिषमर्दिनी दुर्गा) ने "यह मेरा ही आदमी है इस पहचान के लिए त्रिशूल से उसके ललाट पर चिह्न आंक दिया है।" कितनी आसानी से कवि ने चण्डाल को कात्यायनी के प्रीतिभाजन के रूप में अंकित किया है। यहाँ उन्होंने सातवीं शताब्दी के सामाजिक मूल्यबोध का अतिक्रमण करके कवि की दृष्टि से देखा है : वह बलिष्ठ पुरुष महिषमर्दिनी का आत्मीय कृपापात्र है। किन्तु इससे भी आश्चर्य-जनक चित्र यों है—राजा शूद्रक सभा में बैठे हैं, इतने में एक स्वस्थ

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सुगठित बूढ़े चण्डाल ने प्रवेश किया जिसके चेहरे पर एक सौम्य कान्ति थी और साथ में थी एक चण्डाल कन्या। वर्णन इस प्रकार है: "वह जैसे विष्णु की मोहिनी मूर्त्ति है, असुरों के पास से अमृत का हरण करने के समय वाले छद्म वेश में वह मानो इन्द्रनीलमणि (नीलम) से तराशी गई एक चलती-फिरती पुत्तलिका है। उसका पहनावा है नीले रंग की कंचुकी, लाल ओढ़नी, लगता है नील-कमल के वन में तीसरे पहर की लालिमा छिटक रही है। ललाट पर गोरोचना के चिन्ह मानो किरातवेशिनी भवानी हो। वह जैसे स्वयं लक्ष्मी हो, विष्णु के वक्ष से लगी होने कारण ही श्यामवर्णा लग रही है। लगता है बलराम के भय से भागने के लिए तैयार यमुना नदी हो, आलता-रंगे उसके दोनों पांव मानों महिषासुर के रक्त से रंजित चरणोंवाली देवी कात्यायनी हो, नूपुरमणियों की छटा से उजागर उसका देह रंग जैसे उसकी जाति को शुद्ध कर देने के लिए अग्नि ने स्वयं उसका आलिंगन किया है, लक्ष्मी की तरह उसके भी हाथ में एक कमल का फूल है। वह मूर्छा की तरह मनोहारिणी है, निद्रा की तरह लोचनग्राहिणी है। वह जैसे मधुमास का कमल वन हो, इसलिए उसमें जाति (अन्य अर्थ जूही) नहीं।" इस वर्णन में ध्यान देने योग्य है कि कवि ने चण्डाल कन्या के रूप-वर्णन में बार-बार विष्णु, लक्ष्मी, कात्यायनी, भवानी, यमुना, अग्नि आदि देवताओं एवं देवियों को उपस्थापित किया है। कादम्बरी में चण्डाल कन्या एक बार ही प्रकट हुई है किन्तु कितनी ममता के साथ कवि ने उसे गढ़ा और संशय ही नहीं रखा कि समाज में उसकी अस्पृश्यता को लेकर वे कुछ अस्वस्ति अथवा कुण्ठा का बोध नहीं करते हैं। लेकिन बाणभट्ट ने वर्णविभक्त समाज की खुलकर कहीं भी आलोचना नहीं की है बल्कि पंक्ति-भोजन के सन्दर्भ में अपने वंश के शुद्धाचारी होने की बात गर्वपूर्वक कही है। फिर भी लगता है इस ब्राह्मण्य गर्वित धनी राजकवि की चेतना में जो कोमल कल्पना की वृत्ति एवं संवेदना थी वह शायद उनके अवचेतन में सामाजिक विषम दृष्टि के विरुद्ध प्रतिवाद के रूप में

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

संचरण कर रही थी, जिसकी तिर्यक कथन-भंगिमा इस पूर्णतः अनावश्यक चण्डाल कन्या की सृष्टि में अभिव्यक्त हुई है।

साधारण शूद्र श्रमजीवी बाणभट्ट की रचना में इतस्ततः देखने को मिलते हैं। 'हर्षचरित', में सप्तम उच्छ्वास के अन्त में ग्राम और अरण्यजीवन का एक चित्र है जहाँ श्रमजीवी शूद्र अनेक प्रकार के पेशों से जुड़े दिखाई पड़ते हैं। "एक जंगल के गाँव में दूसरे गाँव से लकड़हारे लकड़ी काटने आते हैं, वनपाल या जंगल के रक्षक ने उन्हें बाँध ही नहीं लिया है बल्कि उनकी कुल्हाड़ियों को भी छीन लिया है।.... गरीब किसान छोटे-छोटे, धान के खेतों एवं धान झाड़ने या सटकने की जगह का कुदाल से बँटवारा कर ले रहे हैं, इनके पास हल-बैल कुछ नहीं, केवल कुदाल है। परिवार के पालन-पोषण के लिए ये सख्त बेकार जमीन को जोतते-बोने की चेष्टा करते हैं, जमीन में सख्त जड़ोंवाले पौधे और कँटीले घासें उग आई हैं, उनको उखाड़ फेंकना अत्यन्त कठिन कार्य है, इसके अलावा जंगली जानवरों का उत्पात भी कम नहीं। लकड़हारे दिन भर जंगल में कठिन परिश्रम करेंगे इसलिए हाथ-पाँव और बदन में तेल मल लिया है। उनके कन्धों पर बड़ी-बड़ी कुल्हाड़ियाँ हैं और वे दोपहर के खाने की पोटली गले में कन्धों पर बाँधकर झुलाए हुए हैं। जंगल में डकैती का डर है इसलिए फटे-पुराने कपड़े पहनकर चले हैं। बहेलिये झाड़ियों में पिंजड़े छुपाकर चिड़ियों को पकड़ने की चेष्टा कर रहे हैं। वन के छोर पर बसे लोग वन से बाजार की सामग्री का संग्रह कर रहे हैं—बकुल वृक्ष की छाल, धातकी फूल, रूई, अलसी और सन या पाट से बने कपड़े, मधु, मोरपंख, मोमताल की गुंथी माला। औरतें भर टोकरी अनेक प्रकार के जंगली फल सिर पर लिए जा रहीं हैं। बेकार बंजर जमीन में खाद देने के लिए लड़खड़ाती बैलगाड़ी में धूल, कूड़ा-कर्कट और गोबर के ढेर लाए गए हैं।"— नितान्त दरिद्र शूद्र, उसका दारिद्र्य, श्रम और वंचना को लेकर यह चित्र उपस्थित है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उसी सप्तम उच्छ्वास के प्रारम्भ में हर्षवर्धन की युद्ध-यात्रा की तैयारी पर सेनावाहिनी का वर्णन भी है—"हाथी, घोड़े, गधे, और ऊँट के पालक, परिचारक दास-दासी-पुत्र, स्थानपाल, घासिक सभी चल रहे हैं। इनकी निगरानी में गरीब गृहस्थ घरों के लड़के हैं। सेना के लोग ढेर सारी प्रयोजनीय वस्तुएँ और विलास की सामग्री लेकर चल रहे हैं। छोटी-छोटी कुटियों से सैनिक निकलकर आ रहे हैं। आत्मीय-स्वजन बाहर आकर उन्हें विदाई दे रहे हैं। हाथियों के पाँवों तले कितनी झोपड़ियाँ दब-पिस गईं, लोग किसी तरह जान बचाकर महावतों की ओर ढेले फेंक रहे हैं। सैनिकों के साथ भारी-भरकम मोटी-मोटी बूढ़ी कूटनियाँ चल रही हैं जिन्हें देखकर लोग खिल्ली उड़ा रहे हैं। गृहस्थ घरों की बहुएँ सवारियों पर चढ़कर जा रही हैं, उनके इर्द-गिर्द शरारती लोगों की भीड़ है जिन्हें अभिजात पुरुषों ने उन बहुओं को फुसलाकर ले आने के लिए भेजा है। सेना के यात्रा-पथ पर हाथी, घोड़ों के लिए दाने-अनाज बिखरे पड़े हैं। आस-पास के लोग उन्हें चुन-बीन ले रहे हैं। कमबख्त या निठल्ले कुलपुत्र सेना-यात्रा की निन्दा करते हैं। गाँव के गरीब लोगों के पास से बड़ी मुश्किल से बैल ले आकर उन्होंने उसकी पीठ पर बोझा लादा है। बैल कमजोरी के कारण भार वहन नहीं कर पा रहे हैं इसलिए वे स्वयं भी ढो रहे हैं और कह रहे हैं—"यह सेना-यात्रा खत्म हो तो जान बचे। भाड़ में जाये सब, अति लोभ का अन्त हो, नौकरी को दण्डवत।" शूद्र ही केवल दास नहीं होते तमाम नौकरियाँ ही दासता है, इस सम्बन्ध में हमारे कवि को जानकारी थी इसलिए अपेक्षाकृत उच्चपदस्थ एक राजकर्मचारी, प्रागज्योतिषपुर के दूत हंसवेग द्वारा कहलवाया है—"मनस्वी व्यक्ति एक मुहूर्त के लिए ही सही मनुष्यत्व तो दिखाए, त्रिभुवन के राज्यभोग के लोभ में भी मनस्वी का नत होना उचित नहीं।"

भट्टि के "रावण वध" काव्य में शूद्र प्रायः अनुपस्थित जैसा ही है। कहानी रामायण के लंकाकाण्ड तक है इसलिए गुन्जाइश भी कम है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

द्वितीय सर्ग में गोप-बन्धुओं के दधिमंथन का एक श्लोक में वर्णन है (१६)। कवि दृश्य के सौन्दर्य पर मुग्ध है, मधुर संगीत और नृत्य जैसी ताल पर ग्वालिनियों के देह-संचालन का मनोरम वर्णन है। माघ के "शिशुपालवध में" एक लघु उल्लेख दृष्टि को आकर्षित करता है। 'कृष्ण ने जब सेना सहित यात्रा शुरू की तब उनके सैनिकों ने गाँववालों के ऊपर कोई अत्याचार नहीं किया न ही कष्ट दिया' (१२।३६)। इसके पीछे सच क्या था इसका अनुमान आसानी से किया जा सकता है। माघ में पंक्तिपावनों का उल्लेख प्राप्त होता है (१४।३३) एवं कुलीन या सदब्राह्मणों के बारे में पता चलता है कि भोजनके समय उनके बर्तनों की छुआ-छूई नहीं हुई है। (अकृतपात्रसंकरैर्भोजनैः १४।५०) रैवतक पर्वत श्रेष्ठ है ब्राह्मणों की तरह (४।३६)। अन्यत्र भी बार-बार द्विज की श्रेष्ठता स्वतःसिद्ध जैसी ही व्यक्त हुई है अर्थात् शूद्र का स्थान द्विज के पाँव तले है।

दण्डी को समाज के बारे में व्यापक जानकारी थी। दशकुमार-चरित् में समाज का एक बहुत बड़ा अंश प्रतिबिम्बित हुआ है। इसमें शूद्रों के अनेक पेशे एवं अवस्थाओं का पता चलता है। द्वितीय उच्छ्वास में मातंग नाम के एक ऐसे ब्राह्मण का उल्लेख है जो किरातों के बीच रहकर डाके डालता है, ब्राह्मण आचरण से वह दूर है। राजा राजहंस का एक मित्र एक शबर राजा है, इसका उल्लेख भी है।

शूद्रक का मृच्छकटिक पढ़कर लगता है कि यह बोध उन्हें था कि जाति और वृत्ति चरित्र का इतिहास अथवा नियंत्रण नहीं करते। इस नाटक में अनेक वृत्तियों या धन्धों का प्रतिबिम्बन है, किन्तु प्रायः सर्वत्र ही वृत्तिनिरपेक्ष रूप में व्यक्ति को भला-बुरा दिखाया गया है। दो राजकर्मचारी वीरक और चन्दनक हैं। इनमें वीरक यंत्रवत करता है किन्तु चन्दनक का दृष्टिकोण एवं आचरण मानवीय है। मरघट में दो चण्डाल गोह और आहीन्त, इनमें भी वही पार्थक्य हैं। बल्कि शूद्र दासों के प्रति मृच्छकटिक में अत्यधिक सहानुभूति लगती है। चारुदत्त

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

के सेवक वर्धमानक और सेविका रदनिका को केवल स्वामिभक्त कहना ठीक नहीं क्योंकि ये चारुदत्त के गुण पर मुग्ध थे, इनके प्रति चारुदत्त के व्यवहार में भी सद्भावना और ममता व्यक्त हुई है। धन के नशे में चूर संवाहक का आचरण निष्ठुर, स्वार्थपर एवं अमानवीय है किन्तु उसके भृत्य या सेवक स्थावरक के आचरण में महानुभावता या औदार्य और आदर्शवादिता का परिचय मिलता है। यहाँ तक कि उसने अपने प्राण को भी संकट में डालकर अपने चरित्र को मर्यादा को सुरक्षित रखा। इस नाटक में शूद्र अथवा दुर्दशाग्रस्त व्यक्तियों में भी मानवीयता का कभी अभाव नहीं हुआ।

आठवीं शताब्दी में भवभूति के "उत्तर रामचरित' में शम्बूक वध के अतिरिक्त स्वतंत्र रूप से शूद्र का कोई चित्रण नहीं है। इस कहानी का उल्लेख पहले ही हो चुका है। नौवीं सदी में क्षेमेन्द्र के दशावतारचरित में साधारण प्रजा की हैसियत से शूद्र उपस्थित हैं। क्योंकि इस काव्य का उपजीव्य है पृथिवी के उद्धार के लिए विष्णु का मर्त्यलोक में अवतरण, इसलिए पापाचार से भरी पृथिवी का रूपायन इसका एक अविच्छेद्य अंग है। सातवें सर्ग में उल्लेख है कि 'उपद्रवी, नीच धूर्त आम लोगों की सम्पत्ति लूट रहे हैं, राष्ट्र के प्रमुख राजपुरुषों का मनोभाव प्रतिकूल है, जन-साधारण या प्रजा के असह्य कष्ट-क्लेश का समाचार पाकर भी वे सो रहे हैं। विजयी कायस्थों या राजकर्मचारियों ने राजा को अपने हाथों का खिलौना बना रखा है, लोगों के कष्ट का वर्णन नहीं किया जा सकता, अकाल, अग्निकाण्ड, चोर घड़ियाल आदि के तमाम उत्पातों से वे जर्जरित हैं (७।२८०।८२)।' धनी वैश्य विशेष रूप से प्रजा-पीड़क हैं, वृत्तिजीवी शूद्र निरुपाय होकर कहते हैं—वेतन लेने के लिए हमें हाथ उठाना पड़ता है, मालिक की सेवा में दीन और कृपा के पात्र हम क्या करें (८।६७३)? दसवें सर्ग में है कि ब्राह्मण भोगी, स्वार्थी, क्रोधी, लोभपरायण और जड़बुद्धि हो गए हैं। लोग आत्महत्या कर रहे हैं, रस्सी, जहर, शस्त्र अग्नि द्वारा तथा शिलाखंड गले में

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

बांधकर पानी में डूबकर। पूरी धरती अक्षत्रिया हो रही है अर्थात् आर्त धरती के त्राण के लिए कोई रक्षक नहीं है। नागरिकों में जो रक्षक हैं वही जान-माल का हरण कर रहे हैं। हर तरह से प्रजा को कष्ट दे रहे हैं। क्षमता प्राप्त लोग दुःखियों के क्रन्दन के प्रति वधिर, मदान्ध थे और न्याय के सिलसिले में उन्होंने मौन धारण कर रखा था। कायस्थ अथवा राजकर्मचारी बड़वाग्नि जैसे थे। प्रजा डाकुओं, लुटेरों से पीड़ित थी, कोई प्रतिकार नहीं था। मंत्री, सेनापति, द्वारपाल, सभापति और पुरोहित हमेशा ही घूस लेने के लिए हाथ फैलाए रहते थे। वैश्य विषशून्य सर्प थे। यमराज वरुण हो सकते हैं किन्तु वैश्य कभी सदय नहीं होंगे। कालकूट विष पीकर अथवा खैर की लकड़ी की आग में अथवा सन्निपात में भी जिन्दा रहना संभव है किन्तु वैश्य के शत्रु होने पर मृत्यु निश्चित है। वैश्यों का अत्याचार स्वभावतः शूद्रों के ऊपर ही अधिक होता था। किन्तु क्षेमेन्द्र का आक्रोश शूद्रों के ऊपर भी है : इस समय उनमें से कोई क्षत्रिय जैसा आचरण करता है कोई वैश्य अथवा कोई ब्रह्मवादी ब्राह्मण जैसा। ब्राह्मण अब शूद्र के दास हैं, शूद्रों के चरणों में ब्राह्मण शिष्य दण्डवत-प्रणाम करते हैं यह कलि-विपर्यय है जिसका अनिवार्य परिणाम है वर्णसंकर (१०। ५-२२)।

अन्त में रचनाकार कल्हण की आलोचना की जाए जो प्राचीन भारत के श्रेष्ठ और संभवतः एकमात्र इतिहासकार हैं। ग्यारहवीं सदी में रचित इनके ग्रन्थ "राजतरंगिणी" में संभवतः सातवीं से ग्यारहवीं सदी तक के काश्मीर का प्रामाणिक इतिहास प्राप्त होता है क्योंकि कल्हण के पुरखे कई सदियों से वंशानुक्रम से काश्मीर की राजसभा में मंत्रित्व करते आए थे। परम्पराक्रम से प्राप्त उनके ज्ञान और स्मृति भांडार के उत्तराधिकारी थे कल्हण। ये स्वयं ब्राह्मण्य समाज व्यवस्था एवं धार्मिक विचारों के विश्वासी थे। राजा मिहिरकुल की मृत्यु के पश्चात् आकाशवाणी हुई कि "उन्होंने तीन करोड़ लोगों की हत्या करने का प्रायश्चित्त ब्राह्मणों को भूमिदान करके किया था, इसलिए मृत्यु के

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पश्चात् पाप से मुक्त होकर उन्होंने मोक्ष प्राप्त किया है (१ । ३११) राजा यशस्कर नीच जाति की नारी की सन्तान थे किन्तु उनकी सच्चाई और ईमानदारी के कारण ब्राह्मण मंत्रियों ने उन्हें राजा बनाया। राजा बनने के पश्चात् उन्होंने वर्णाश्रम धर्म का नए सिरे से प्रवर्तन किया (३ । १०) राजमहल में आग लगने पर कल्हण का मन्तव्य है कि डोम चण्डाल के संसर्ग से दूषित राजाओं का पाप जल गया (६ । १६२) राजा हर्षदेव के अन्तःपुर में ३६० अन्तःपुरिकाएँ थीं जिनमें डोम और चण्डाल को छोड़कर सभी जातियों की लड़कियाँ थीं अर्थात् शूद्रायें भी काफी थीं। कठोर वर्णाश्रम धर्म के होते हुए भी कल्हण के विवरण में अपराधी ब्राह्मणों का दण्ड भी बीच-बीच में लिपिबद्ध है संभवतः ब्राह्मण को पाप से निवृत्त करने के उद्देश्य से। राजा यशस्कर के राज्यकाल में एक अपराधी ब्राह्मण के शास्त्रीय दण्ड की बात भी है कि उसके माथे पर कुत्ते के पांव की छाप दी गई। हालांकि दण्डित ब्राह्मण के आत्मीयों ने थोड़े दिनों में ही अभिचार क्रिया (जादू टोना) द्वारा राजा की जान ले ली। ब्राह्मणों की इष्ट-सिद्धि के लिए बार-बार ब्रह्मपाश इत्यादि का व्यवहार किया गया है। कल्हण की लेखनी कायस्थों (राज कर्मचारी) के विवरण में सर्वाधिक विषाक्त थी—वे नीच जन्मा, परम स्वार्थी, कुटिल अत्याचारी और निष्ठुर होते हैं।

साधारण प्रजा अर्थात् शूद्र—शायद कुछ वैश्य भी—कल्हण के विवरण में काफी स्पष्ट रूप से दीखते हैं। राजा का पहला कर्तव्य है कि इस उत्पादक श्रेणी की यत्नपूर्वक रक्षा करे, इस विषय में कल्हण हमेशा सतर्क थे। एक अत्याचारी राजा ने निष्ठुर शोषण एवं राजस्व वसूली के द्वारा तीन वर्ष में ही प्रजा का सब कुछ हरण कर लिया जैसे शीतकाल वृक्षों के सारे फल छीन लेता है (४ । ६२८)। चंडाली द्वारा परित्यक्त अवस्था में प्राप्त लड़के सूय्य के राजा होने पर वितस्ता नदी कीचड़ से पट गई। राजा एक-एक मोहरें नदी में फेंकने लगा। जो लोग उसे पाने लिए नदी में उतरे, बाहर निकलने पर ढेर सारा कीचड़ उनके बदन में लगकर बाहर आ गया,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नदी फिर स्रोतस्विनी हो गई। उसके बाद राजा ने नियमित रूप से जल निकालने की व्यवस्था की जिससे खेतों में पानी जा सके। काश्मीरी बुनकरों के तांतशिल्प और पशु-व्यापार की समृद्धि और ख्याति की भी बातें पढ़ने को मिलती हैं (५ । १६२) यह अनुमान करना असंगत नहीं होगा कि उस समय भी बुनकरों की निजी समृद्धि का स्तर नीचे ही था, मध्यवर्ती वणिकों को ही प्रमुखता प्राप्त थी। अग्नि काण्ड में संचित अन्न या फसल जल जाने के कारण जो दुर्भिक्ष होता है उसका विवरण है (८ । १२०६)। अतिवृष्टि से फसल नष्ट होने पर धान १००० दीनार या अशरफो के बदले मापकर सोलह द्रोण या खारी के हिसाब मिलने लगा। गरीबों में ऊँचे दाम में धान बेच कर मंत्री धीरे-धीरे धनी हो गए (५ । २७४) और एक दुर्भिक्ष के प्रसंग में कहा गया है कि धान द्राक्षारस, पशम, नमक गोलमिर्च, और हींग के दाम काफी ऊँचे हो गए (१। १२२०-२१)। ये सभी वस्तुएं साधारण लोगों के लिए नित्यप्रयोजनीय वस्तुएं हैं। काश्मीर के इतिहास में राज-परिवार बार-बार ही वर्णशंकर हुआ है, कल्हण ने खेद पूर्वक इसका उल्लेख किया है। एक गाने के जलसे में दो डोमनी आयीं, राजा उनके प्रेम में फँस गए तो वर्णसंकर हुआ। सभा में निम्नजाति के गायक 'रंग' ने अश्लील गाने में राजा की चण्डाल रानी और रखैलों के नाम का उल्लेख किया, उनके नाम पर गाना बना कर गाया। डोमनी के साथ देहसम्बन्ध स्थापित करने के पाप को खण्डित करने के लिए राजा ने एक शुद्धाचारिणी ब्राह्मणी के साथ बलात्कार किया (५ । ४०२)। अधम ब्राह्मण उस राजा का दान एवं अन्न ग्रहण करते थे। राजा कलश की मृत्यु के पश्चात् रानी कय्या ने सहमरण स्वीकार नहीं किया, निम्नजाति के एक श्रमिक के प्रति आसक्त हो गई। इस पर कल्हण का मन्तव्य है कि उससे हमें दुःख हुआ (अतो दुःखाकरोतिनः ७ । ७२७)।

काश्मीर में एक विशेष प्रकार की रक्षणशीलता या रूढ़वादिता थी। घाटी की भौगोलिक विच्छिन्नता के कारण जिस प्रकार सांस्कृतिक

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वैशिष्ट्य आया उसी प्रकार पश्चिमोत्तर वाणिज्य मार्ग से तमाम विदेशी जातियों का आवागमन होते, रहने के कारण वर्णाश्रम धर्म के सम्बन्ध में एक निरन्तर सतर्क मानसिकता भी आयी। ढेर सारे व्यतिक्रम-विपर्यय घटते, कल्हण ने उनका ब्यौरा अप्रसन्न भाव से दिया है। किन्तु बार-बार उन्होंने विलासी, ऐय्याश, स्वार्थी राजाओं की निन्दा की जिन्होंने दुःखी प्रजा के बारे में सोचा ही नहीं। धार्मिक कार्यों में रुचि अर्थात् मठ-मन्दिर कुँए-तालाब के निर्माण की प्रशंसा की किन्तु सबसे अधिक प्रशंसा उन्होंने तब की जब राजा ने प्रजा का दुःख दूर किया। वे कितने असहाय, कितने गरीब थे इसके अनेक चित्र "राजतरंगिणी" में प्राप्त होते हैं। राजसभासद् मंत्री पुत्र कल्हण ने ऐतिहासिक तथ्यों का संग्रह करने के लिए पूरी काश्मीर घाटी का पर्यटन किया था, इस पर्यटन के द्वारा राज्य व्यापी दुःखी लोगों की विपन्नता का साक्षात्कार भी किया।

नारियों के बारे में साहित्यकारों को व्यक्तिगत् कल्पना की स्वाधीनता शायद कुछ अधिक थी क्योंकि नारी प्रत्यक्ष रूप से उत्पादन व्यवस्था के साथ नहीं जुड़ी थी। लेकिन दूसरी ओर नारी का स्थान समाज में क्रमशः संकुचित होता जा रहा था। नारी के सम्बन्ध में उत्तराधिकार सूत्र से प्राप्त ढांचा यों है—उसका प्राथमिक परिचय है गृहिणी और मां के रूप में तथा उसकी सार्थकता है पुत्र की माँ के रूप में। उसका सामाजिक मूल्य, वंश परिचय, आनुगत्य और सेवा परायणता के ऊपर ही निर्भर करता था। किन्तु साहित्य एवं जीवन में उसके व्यक्तिगत् मूल्य का निरूपण उसके रूप और यौवन द्वारा होता था। जो उससे प्रत्याशित नहीं बल्कि जो समाज की दृष्टि में दोषपूर्ण था वह है उसकी विद्या, बुद्धि स्वतंत्र चिन्तन की क्षमता और व्यक्तित्व। यह रूपरेखा या घेराबन्दी वेदांग, महाकाव्य एवं पुराणों तक में परिव्याप्त है; दो एक व्यतिक्रमों को छोड़कर इसकी विपरीतता नहीं के बराबर ही है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कालिदास के कुछ पूर्व ही शायद भर्तृमेन्ठ ने अपने "हयग्रीव वध" काव्य की रचना की। वहाँ आन्ध्र नारी का वर्णन इस प्रकार प्राप्त होता है कि वह मधुरवचना नीवीविस्रसिनी, कम्पितभ्रूलोचना है (५६४); ग्राम्य नारी मधुरवदना और पल्लवाधरा है, स्वतःस्फूर्त्त उसका उच्च हास, जिसके विनिमय में पूरा राज्य दे दिया जा सकता है (५७६)। उसी काल के नाटककार ब्रह्मयशा के "पुष्पदूषितक" में एक उपाख्यान है—वणिक समुद्रदत्त विदेश में था। थोड़े समय के लिए देश वापस आकर चुपचाप किसी को कुछ बताए बिना वह अपनी पत्नी के साथ सहगमन करके लौट गया। उसके पिता सागरदत्त ने जब यह सुना कि पुत्रवधू नन्दयन्ती गर्भवती है और उसने छिपकर किसी पुरुष के साथ सम्बन्ध स्थापित किया तो श्वशुर ने उसी क्षण पुत्रवधू को घर से निकाल दिया। एक शबर सेनापति ने उसे आश्रय प्रदान किया। देश वापस आने पर समुद्रदत्त सन्तान का पिता स्वयं होने के सन्देह को दूर नहीं कर पाया। अन्त में शबर सेनापति ने दृढ़ युक्तियों द्वारा संशय का निवारण किया। दो मूल बातें इस कहानी के द्वारा पकड़ में आती हैं—एक तो सन्तान के पितृत्व के सम्बन्ध में धनवान का का संशय और दूसरी संशय के कारण नारी को असती या व्यभिचारिणी अथवा कुलटा का नाम देकर उत्पीड़ित करना। याद रखना होगा कि इस देश में सती का कोई समानार्थक पुंलिङ्ग शब्द ही नहीं था।

"ऋतुसंहार" सम्भवतः कालिदास के किशोरावस्था की रचना है। यहाँ नारी नितान्त गौण है, उसका साधारण चित्र भोग्यवस्तु का ही चित्र है। "कुमारसम्भव" में प्रेम की साधना है किन्तु वह हमारी शिवरात्रि के ही एक लम्बे कष्टसाध्य साधन का संस्करण है। अर्थात् मनोनुकूल पति प्राप्त करने की साधना, जिसके अनेक उपाख्यान महाकाव्यों एवं पुराणों में मिलते हैं। पार्वती की साधना से शिव का ध्यान ठीक ही आकर्षित हुआ किन्तु पार्वती को पाने के लिए उनके

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पक्ष में तपस्या की जरूरत नहीं हुई। इसका अर्थ यह है कि प्रेम के चित्रांकन में वह काव्य की दृष्टि से अत्यन्त मूल्यवान है, किन्तु इसका उपजीव्य चिरकालीन संस्कार का ही अनुगामी है। "मेघदूत" में प्रेमी-प्रेमिका दोनों ही कष्ट झेलते हैं। हालांकि यहाँ दुःख का निमित्त पुरुष है और फल की भागीदार निरपराध यक्षवधू भी है। प्रेम में यहाँ देह और मन दोनों का ही स्थान है तब भी देह ही मुख्य है। "मालविकाग्निमित्र" में प्रौढ़ राजा अग्निमित्र जिसके पिता और पुत्र दोनों युद्ध क्षेत्र में हैं, अपनी कन्या की उम्रवाली एक सुन्दरी तरुणी को देखकर आकृष्ट होते हैं। इरावती और धारिणी दोनों सौतें जी-जान से षड्यंत्र रचती रहीं कि राजा मालविका के साथ मिल न पाएँ। अन्त में पता चला कि मालविका राजकन्या है और रानी धारिणी की आत्मीया है और इसके साथ मिलन होने पर राजा और राज्य दोनों का कल्याण होगा। उसी समय धारिणी ने अपने प्रयत्न से विवाह करवा दिया। अर्थात् प्रेम की प्रतिबन्धता या बाधाएँ ज्योतिषी की गणना के सामने ढह-बह गईं। राष्ट्रीय प्रयोजन के लिए प्रेम का व्यक्तिगत सम्बन्ध गौण हो गया। नारी का वह पण्य द्रव्य या उपयोगी वस्तु का परिचय ही मुख्य है। किन्तु नाटककार तो स्वयं कालिदास हैं इसलिए इस नाटक के प्रारम्भिक रचना होने पर भी विद्वत्ता का पुट यथेष्ट है और मालविका का असहाय प्रेम रह-रहकर पाठक को अभिभूत करता है। "विक्रमोर्वशीय" में समस्या कुछ जटिल है। राजमहिषी औशीनरी और राजा पुरुरवा के प्रेम का दृढ़ आधार था। अचानक स्वर्ग की स्वप्न सुन्दरी उर्वशी का प्रवेश होता है और पुरातन प्रेम जिसने धीरे-धीरे रूप ग्रहण किया था, गौण हो जाता है। कालिदास ने कहीं भी औशीनरी के रूप का वर्णन नहीं किया। एक संक्षिप्त दृश्य में उनके चरित्र का उद्घाटन किया है। राजा को उर्वशी के प्रति आसक्त जानकर उन्होंने चाँदनी से आलोकित एक सन्ध्या में प्रिय को प्रसन्न करने के व्रत का समापन करने की बात कहकर राजा को प्रासाद के

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ऊपरी हिस्से में बुलवाया और कहा—"रोहिणी और शशांक को साक्षी रखकर आर्यपुत्र को प्रसन्न करने के लिए कहती हूँ कि आज आर्यपुत्र जिस नारी की कामना करेंगे और जो नारी आर्यपुत्र की समागम-प्रार्थिनी होगी उसके साथ मैं प्रीति-बन्धन में बँधी रहूँगी।" एक दिन था जब जिस नारी की कामना आर्यपुत्र करते उसका नाम औशीनरी था। वह दिन गया, आज औशीनरी का आत्मसम्मानबोध उनके माध्यम से यह बात कहलवा रहा है जिससे पुरुरवा, प्रेम की अनावश्यक जटिलता और ग्लानि से मुक्त हो जाएँ। औशीनरी पूरी तरह नेपथ्य में चली गई, नाटक से अदृश्य हो गई। कालिदास द्वारा चित्रित अनादृता नारी के आत्मसम्मान की रक्षा का एक चित्रांकन भर रह गया।

"अभिज्ञान शाकुन्तल" में समस्या कुछ और गम्भीर है। शकुन्तला का लालन-पालन आश्रम में हुआ किन्तु उसका विवाह राजा के साथ हुआ, इसलिए उससे यही प्रत्याशा करता है कि वह कुलवधू की भूमिका में ही दिखाई देगी। अतः कन्या की विदाई के क्षणों में कण्व उसे आशीर्वाद देते हुए उपदेश देते हैं—"गुरुजनों की सेवा-सुश्रूषा करना, सहपत्नियों या सौतों के साथ प्रिय सहेली जैसा आचरण करना। पति के रुष्ट होने पर भी कभी गुस्से में उसके विरुद्ध आचरण मत करना। इसका अनुसरण करने से ही नारियों को गृहिणी का पद प्राप्त होता है, जो इसके विपरीत जाती हैं वे कुल की व्याधि जैसी होती हैं (४।१८)।" कहना नहीं होगा, कि यह उपदेश केवल शकुन्तला के प्रति नहीं, बल्कि पांचवीं शताब्दी एवं परवर्तीकाल की तमाम नारियों के प्रति उद्दिष्ट या लक्षित है। कण्व शकुन्तला को पतिगृह भेजकर कहते हैं, "कन्या पराया धन है, उसे पति के पास भेजकर आज मन शान्त हुआ वैसे ही जैसे जमा किये हुए धन को लौटा कर (४।२२)।' पिता के परिवार में नारी पिता के पास रखी हुई पति की सम्पत्ति. विवाह के पश्चात् पति की व्यक्तिगत सम्पत्ति और ससुराल की

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

परिवारगत सम्पत्ति होती है। स्वयं के ऊपर उसका कोई अधिकार ही नहीं। यही बात शार्ङ्गरव के मुँह से सुनाई पड़ती है। दुष्यन्त द्वारा शकुन्तला को अस्वीकार करने पर वह दुष्यन्त से कहता है कि 'इसे चाहे परित्याग करें और चाहे ग्रहण किन्तु यह आपकी पत्नी है, और पत्नी पर पति का हर प्रकार का अधिकार होता है (५।२६)।' किन्तु कवि कालिदास ने समाज का मन रखने के पश्चात् एक लघु कथा में शकुन्तला को कुछ मर्यादा प्रदान की है। शकुन्तला जब यह जानकर निश्चिन्त हो गई कि दुष्यन्त ने अपने प्रेम, गान्धर्व विवाह के और अपनी स्वीकृति सभी को अस्वीकार कर दिया है तब कहा—'उस प्रेम की जब यह परिणति है तो फिर राजा को और स्मरण दिलाने से ही क्या होगा? तब भी स्वयं को कलंक मुक्त करना होगा।' और आर्य-पुत्र सम्बोधन नहीं किया, कहा "पौरव अर्थात् पुरुवंशीय राजा होने के नाते तुमसे उसकी मर्यादा के अनुरूप आचरण अपेक्षित है।" "यह स्वयं को कलंकमुक्त करने का प्रयोजन बोध ही कालिदास का गौरवपूर्ण संयोजन है। समाज, राजा, प्रेमी, पति किसी ने भी जिसे मर्यादा नहीं प्रदान की उसका भी अधिकार एवं प्रयोजन है अपने पक्ष के समर्थन के लिए। जिस प्रकार मेघदूत में उसी प्रकार यहां भी पुरुष के दोष के कारण नारी को दुख झेलना पड़ा। किन्तु यह कालिदास की परिणततर अथवा परिपक्व अवस्था की रचना है इसलिए यहाँ कालिदास की कलात्मक दृष्टि यथार्थोन्मुख है। छठे अंक में आत्मग्लानि, अपराधबोध की ज्वाला और गहरे विरह से आक्रान्त दुष्यन्त की जो छवि कवि ने आंकी है उससे स्पष्ट हो उठा है कि नारी भी साधना की वस्तु या सम्पत्ति है, उसे भी दुख के विनिमय से पाना होता है।

रघुवंश एक असाधारण महाकाव्य है। यहाँ अनेक नारियों का उल्लेख है। सब की आलोचना सम्भव नहीं, दो एक की आलोचना की जा रही है। पुरुष के बहुपत्नीत्व की उपमा और उल्लेख इस काव्य में बार-बार सामने आए हैं। लक्ष्मी विष्णु की पद-सेवा करती हैं

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(१० । ८) स्मरणीय है कि गुप्तकाल के भास्कर्य या मूर्तिशिल्प में ही सर्वप्रथम लक्ष्मी विष्णु की पदसेवा करती हैं) नारी के अभिसार का अनेक उल्लेख इस काव्य में एवं अन्यत्र पाया जाता है। अभिसार का समस्त दायित्व नारी को ही लेना पड़ता है जैसे अंधेरी रात में साँप की बिल से बचाव, बरसात में बिजली, वर्षा और चाँदनी रात में आत्म-गोपन करने की जिम्मेदारी सभी कुछ नारी की ओर से है। साहित्य में 'अभिसारी' नहीं है, वह संकेत-स्थल पर सुरक्षित बैठा रहता है। सर पर तमाम संकट लेकर नारी ही निकल पड़ती है जैसे अकेले उसी की गरज हो। रघुवंश के अन्तिम सर्ग में लम्पट राजा अग्निवर्ण के अवक्षय के लिए कालिदास ने राजा को ही दोषी ठहराया है, अन्तः-पुरिकाओं को नहीं। इन्दुमती की मृत्यु के पश्चात् अज कहते हैं करुणा विमुख मृत्यु तुम्हारा हरण कर ले गई, मुझे क्यों नहीं ले गई। ध्यान देने योग्य है यह विख्यात श्लोक (गृहिणी, सचिवः, सखी मिथः प्रिय शिष्या ललिते कलाविधौ। करुणा विमुखेन मृत्युना हरता त्वां वद् किं न मे हृतम ॥ ८ । ६७) जिसमें कहीं भी रूप वर्णन नहीं है बल्कि वह के मानसिक साहचर्य की बात है जो संस्कृत साहित्य में सर्वथा दुर्लभ है। विरह पीड़ित अज के लिए जीवन इस तरह असहनीय प्रतीत हुआ कि उन्होंने धीरे-धीरे जैसे मृत्युवरण कर लिया। इसके पहले या बाद में एकमात्र बाणभट्ट के अतिरिक्त और किसी कवि ने नारी को इतना मूल्य नहीं प्रदान किया। केवल हर्षचरित के प्रथम उच्छ्वास में सरस्वती के स्वर्ग वापस जाने पर दधीचि जीवन से वीतस्पृह या विरक्त होकर वन चले गए और पुत्र की व्यवस्था करके उन्होंने असमय में प्राण त्याग किया।

सीता के चरित्र-चित्रण में वाल्मीकि के मूल्यबोध की समीक्षा करना लगता है कालिदास का अभीष्ट था। अयोध्या में सीता के परित्याग के सम्बन्ध में वाल्मीकि के राम दुःखित हैं, किन्तु कालिदास के राम का नैतिकबोध द्विधाग्रस्त है, कहते हैं (प्रजा के बीच) 'इस आत्मनिन्दा की

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उपेक्षा करूँ या निर्दोष सीता का त्याग करूँ (१४।३४)।' अन्त में निर्दोष जानकर भी त्याग किया (१४।४०)। लक्ष्मण से वन में छोड़ने की बात सुनकर सीता ने कहा—'उस राजा से कहो अग्निपरीक्षा में निर्दोषिता का प्रमाण पाकर भी लोकनिन्दा के कारण उन्होंने जो मेरा त्याग किया वह क्या उनके वंश के अनुरूप या उनके पाण्डित्य के अनुरूप है (१४।६१)। अवश्य ही उसके पश्चात् ही कहती हैं यह निश्चित रूप से मेरे पूर्वजन्म में किए हुए पाप का फल है (१४।६२)। वाल्मीकि के वैकुण्ठ की लक्ष्मी का पूर्वजन्म ही कहाँ और पाप ही कहाँ? यह कालिदास की मानवी सीता है। लक्ष्मण से सीता को छोड़ आने का समाचार पाकर राम की आँखों में सहसा आँसू आ गए जैसे पौष की रात के कुहासे से ढँका चाँद; लोकनिन्दा के कारण उन्होंने सीता को घर से निर्वासित किया, मन से नहीं, (१४।८४) ये राम केवल कालिदास की सृष्टि हैं जो यह महसूस करते हैं कि प्रेम का मूल्य केवल नारी को नहीं बल्कि नारी के लिए पुरुष को भी देना होता है।

पूरा एक अन्य जगत पांचवीं सदी के श्यामिलक के "पादताड़ितक" नाटक में दिखाई पड़ता है। जब एक गणिका ने विट तौण्डिकोकि के मस्तक पर पदाघात किया तब प्रायश्चित्त का निर्णय करने के लिए विटों को सभा बैठी। किसी ने कहा "मदनसेनिका और एक बार पदाघात करे" किसी ने कहा "अफसोस तो यह है कि तौण्डिकोकि यज्ञ का पशु है, उसके माथे पर पदाघात करना ठीक नहीं हुआ, अच्छा तो यह होगा कि मदनसेनिका का पैर धोकर तौण्डिकोकि ही प्रायश्चित्त करे। किसी ने कहा उस चरणोदक से अपना माथा धो डाले। किसी ने कहा माथे का वह हिस्सा मुड़वा ही डाले।" यह बात तौण्डिकोकि के मन में लगती है किन्तु उसको लगता है 'कि मुड़वा देना ही काफी नहीं, माथा कटवा देना ही उचित होगा।' अन्त में सभापति ने निर्णय दिया कि 'मदनसेनिका अपने दोनों सुन्दर पांवों से तौण्डिकोकि के माथे पर दूसरी बार प्रहार करे।' यहां हम पाते हैं कि वेश्यालय के परिवेश में नारी-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पुरुष का सापेक्ष सम्बन्ध बहुत कुछ स्वाभाविक रूप में प्रदर्शित हुआ है अर्थात् सभी पुरुषों की अपेक्षा सभी नारियां ही हीन हैं, यह बोध नहीं। निश्चय ही गणिका का एक नाम स्वंतत्रा भी है।

"अमरुशतक" में नारी प्रेमिका के रूप में नाना प्रकार से चित्रित है। प्रेम में नारी का कुछ स्वतंत्र स्थान दिखाया गया है अथवा कभी-कभी पुरुष उसके सामने असहाय दिखता है। मान और मानभंजन के कई पदों में यथेष्ट वैशिष्ट्य है किन्तु लगता है अमरु की वास्तविक विशेषता प्रेम की मृत्यु दिखाना है। विज्जिका के एक पद और संकलन ग्रन्थ में बिखरे कुछ श्लोकों को छोड़ देने पर और किसी कवि की लेखनी यह दिखाने का साहस नहीं कर पाई। अमरु में नायिका कहती है "हमारे उस प्रेम की यह कितनी करुण मृत्यु। वही तुम, मेरा पाँव पकड़कर मेरी कामना करते हो तब भी मेरा मन द्रवित नहीं होता है।"

विज्जिका के उस अमर श्लोक में नारी कहती है "जिसने मेरा कौमार्य हरण किया था वही आज मेरा वर है। वही चैती रात, वैसे ही खिले हैं मालती के फूल ; हवा, कदम्ब के सौरभ में नहायी सी वैसे ही तिर रही है। मैं भी वही हूँ किन्तु आज प्रिय-मिलन के क्षणों में रेवा तट के वेत-कुंज की याद में प्राण क्यों व्याकुल हो उठा है ?"

दो एक व्यतिक्रम को छोड़कर छठी शताब्दी से साहित्य में नारी का जो चित्र अंकित हुआ है वह भोग्य वस्तु के रूप में ही अंकित हुआ है। भारवि के किरातार्जुनीय में छठे, सातवें सर्ग में नितान्त अनावश्यक रूप से अप्सराओं को लाया गया है। इनके छलछद्म की कला, हाव-भाव सभी वात्स्यायन-वर्णित गणिकाओं का आचरण है—जल-विहार, वन-विहार सभी हैं इसमें अर्थात् अप्सराओं का अन्य जो नाम स्ववेंश्या या स्वर्ग की वेश्या है वही प्रमाणित किया गया है। इस चित्र या छवि का रंग तीव्र है और नारी देह तथा भोग-विलास का वर्णन ही मुख्य वर्ण्य वस्तु है। इस शताब्दी के ही अन्त की एक

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अत्यन्त निकृष्ट रचना है सुबन्धु का गद्यकाव्य "वासवदत्ता।" वासवदत्ता और कन्दर्पकेतु स्वप्न में एक दूसरे को देखकर व्याकुल हो गए। नायक, मित्र के साथ स्वप्न में दिखी नायिका की खोज में निकल पड़ा। नायिका ने तमालिका नाम की एक मैना को नायक की तलाश में भेजा। क्रमशः अवास्तविक घटनाओं के अन्त में जब मुलाकात हुई तब नायक नायिका से बिना कुछ कहे-बोले ही उसे अपने घोड़े पर उठाकर निकल पड़ा। नायिका का आचरण शुरू से अन्त तक पूरा का पूरा यांत्रिक है—ढेर सारी हताशा-निराशा की स्थितियाँ, आत्महत्या का संकल्प, निर्दिष्ट समय पर मूर्छा इत्यादि ठीक अलंकार-शास्त्र के निर्देश के अनुसार ही हैं। कहने में संकोच नहीं कि अधिकांश नायिकाएँ इसी प्रतिमान के आधार पर ही गढ़ी गई हैं।

सातवीं शताब्दी में बाणभट्ट की कादम्बरी में कादम्बरी और महाश्वेता भी इसी प्रतिमान के आधार पर निर्मित हैं। बल्कि बाणभट्ट में अन्य नारियाँ दृष्टि आकर्षित करती हैं। नायिका अथवा राज-अन्तःपुर की गणिकाएँ साँचे में ढाले गए चरित्र हैं किन्तु रानी विलासवती की सहचारिणी बौद्ध प्रव्राजिका या भिक्षुणी कुछ अन्य प्रकार की है। वह किताबें पढ़ती है, शास्त्रों की व्याख्या करती है, अविवाहिता है, शिक्षिता है, यह स्वाधीन स्वतंत्र रमणी अन्तःपुरिकाओं की श्रद्धेया है और कुलूत राजकन्या पत्रलेखा है। संस्कृत साहित्य में केवल यहीं एक बार किसी तरुण कुमार राजपुत्र की एक कुमारी तरुणी बान्धवी और सहचरी दिखलायी पड़ती है। रानी विलासवती चन्द्रापीड़ से कहती हैं "देखना, इसका अनादर मत करना। यह मेरी बड़े ही लाड़-प्यार की बेटी है। इसे बालिका की तरह प्यार करना, अपनी चित्तवृत्तियों की चपलता से इसकी रक्षा करना, शिष्या की तरह देखना, सखा की तरह सारी गोपन बातें बतलाना।"

यह लड़की दिन रात राजपुत्र के आसपास रहती है, दोनों में एक दूसरे के प्रति गहरे प्रेमभाव का उदय होता है। उस प्रेम का

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कुण्ठाहीन वर्णन है, जिसमें सचमुच ही कामगन्ध नहीं है। किन्तु पत्रलेखा राजकन्या है, नवयौवना है इसके चित्रण में बाणभट्ट की लेखनी ने एक अद्भुत संयम का परिचय दिया है। पत्रलेखा चंद्रापीड़ के अत्यन्त निकट है, वह उसका निःश्वास है, दूसरा प्राण है। राजपुत्र जब प्रेम में पड़े तब वह उसकी दूती होकर कादम्बरी के पास जाती है। दोनों को आश्वास देती है, मिलने में सहायता करती है। कादम्बरी का समाचार लेकर वह जब प्रासाद में आई तब चंद्रापीड़ ने उसे बाहों में भर लिया, सब को अलग करके उसका हाथ पकड़कर प्रासाद में प्रवेश किया। किन्तु वर्णन दोनों के बीच सखा-सखी भाव का ही है, मन के सम्बन्धों का ही है। महाश्वेता और पुण्डरीकके आचरण में भी दुराव छिपाव का कोई आभास नहीं। पुण्डरीक का मित्र कपिंजल एकान्त में अकेले महाश्वेता के साथ दीर्घकाल तक वार्तालाप करता है, महाश्वेता सखी तरलिका को साथ लेकर अकेले अभिसार के लिए वन में स्थित एक निर्जन मन्दिर में जाती है और उस अच्छोदसरसी (झील) के किनारे स्थित मन्दिर में अकेले अपरिचित चंद्रापीड़ के साथ बातचीत करती है। थक जाने पर दोनों पत्रों की सेज पर सो जाते हैं। चंद्रापीड़ के महाश्वेता के साथ सखी के समीप जाने के पश्चात कादम्बरी के पितृगृह में कन्या के अन्तःपुर में गीतवाद्य की कला के परिवेश में हास परिहास, हंसी-ठट्ठा खूब जमा। अन्तःपुर के कानन में ही रत्नजटित महल में चन्द्रापीड़ ने रात बितायी। यह सोचते हुए आश्चर्य होता है कि सातवीं शताब्दी के रूढ़िवादी समाज में राजकवि निर्भय होकर इस तरह का वर्णन राजसभा में बैठकर पढ़ते हैं यानी नारी पुरुष की मित्रता, सहज मुक्त आलाप या सम्भाषण और स्वाभाविक सम्बन्ध तथा सौहार्द का वर्णन करते हैं। सौन्दर्य के रम्य परिवेश में यौवन और प्रेम के स्फुरण की निःशंक, निर्मल तथा अम्लान ऐसी कई चित्रांकित स्थितियां हैं। "हर्षचरित" में राजकुमार दधीच की दूती

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कुमारी तरुणी मालती अकेले घोड़े पर सवार शोणनदी पार करके सरस्वती को राजकुमार के प्रेम और आने का समाचार सुनाने आती है। यह क्या सातवीं सदी का भारतवर्ष है या राजा के प्रिय कवि अपनी समस्त स्वाधीनता का प्रयोग करते हुए एक चिरन्तन, आदर्श कल्पनालोक के निर्माण की चेष्टा कर रहे हैं? किन्तु अन्यत्र समाजिक विधि-निषेध के सम्बन्ध में बाणभट्ट की सतर्कनिष्ठा थी। विधवा होने के भय से रानी यशोमती ने आत्महत्या की। विधवा राज्यश्री मालवराज के कारागार से भागकर बौद्ध संन्यासी दिवाकर मित्र के आश्रम में जाती है। वारांगनाएं राजसभा की शोभा हैं, वे राजा को नहलाती हैं। और नाना प्रकार से परिचर्या करती हैं। खण्डकाव्य चण्डीशतक में बाणभट्ट का प्रतिपाद्य है कि पुरुष होते हुए भी देवता महिषासुर के सामने निष्प्रभ हैं, निष्पराक्रम हैं, पराजित और हतदर्प हैं किन्तु चण्डिका अपने अकेले पराक्रम से ही महिषासुर मर्दिनी हैं। सम्पूर्ण बाणभट्ट को पढ़कर ऐसा अनुभव होता रहता है कि नारी पुरुष के समाजिक स्थानविन्यास में उनका संवेदनशील कविचित्त सन्तोष नहीं प्राप्त कर पाया इसलिए वे और सहज, और भी स्वाभाविक एक समाज का चित्रण कर गए। जो हो रहा था उसकी स्थापना करने के पश्चात कहा" क्या होना उचित था, क्या हो सकता था वह भी देखो "अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापतिः"। अर्थात् अपार काव्यसंसार में कवि ही प्रजापति है, स्रष्टा है।

इसी शताब्दी के अन्त में रचित राजा श्री हर्ष के तीन नाटक "रत्नावली" "प्रियदर्शिका" और "नागानन्द" हैं। इनमें नारी नायिका दूती, गणिका, सखी, सहपत्नी, (सौत) की प्रचलित भूमिका में ही दिखाई देती है किन्तु सबके ही आचरण या चरित्र यांत्रिक और वैशिष्ट्यहीन हैं। उसी प्रकार भट्टनारायण का "वेणीसंहार" भी है, वहाँ अन्तःपुर में रानी भानुमती के हाथ का स्पर्श दुर्योधन को विचलित कर देता है, उस समय युद्ध क्षेत्र में युद्ध हो रहा है। अर्थात् यहाँ भी वही शास्त्र-निर्दिष्ट मोहिनी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

की भूमिका। भर्तृहरि के "शतकत्रय" (या त्रिशती), इसमें भी विशेष रूप से शृंगार शतक में, वही चित्र मिलता है अर्थात् धीमी मुस्कराहट में, लज्जा-भय में, मुंह फेरकर आधी तिरछी चितवन में, बातों में, ईर्ष्या—कलह में, और हाव भाव लीला-क्रीड़ा में हर तरह से ही नारी पुरुष का बन्धन है? नारी नरक का द्वार है, प्रलोभन और पतन का कारण है। किन्तु भर्तृहरि ने नारी को मोहिनी एवं सुन्दरी के अतिरिक्त भी अन्य रूप में देखा है। जहाँ सच्चा प्रेम अमृत-सिंचन द्वारा जीवन को संजीवित करता है। वहाँ नारी की भूमिका आशीर्वाद जैसी है। "मिलन में वह अमृतलता; अप्रसन्न होने पर विषवल्लरी" (४४)। इस संसार में कुनृपति के भवन के द्वार पर प्रभु-सेवा निरत मन को मनस्वी किस प्रकार धारण करते यदि ज्योत्स्ना-पुंज जैसी ये पद्मनेत्रा नारियाँ न रहतीं? (३१)। 'संसार, तुम्हारी अन्तिम सीमा बहुत दूर है—बीच की दूरी तय करना, कठिन हो उठता यदि ये मदिरेक्षणाएं (नशे में डूबी आंखोंवाली प्रेमिकाएं न रहतीं' (३८)

माघ के "शिशुपालवध" काव्य में नारी केवल सुन्दरी युवती एवं उत्कृष्ट भोग्य वस्तु है। वहाँ नायिका, प्रतिनायिका (अथवा प्रतियुवती) दूती, वारांगना, जल-विहार, कानन-विहार इत्यादि का वात्स्यायन के प्रतिमान के अनुसार लम्बा प्रथा-सिद्ध विवरण है। नारी सुरा पान करती है—कपिशायन, परिस्रुत वारुणी, मैत्री, हाला, मैरेय आदि अनेक नाम सुरा के प्राप्त होते हैं। सहमरण का तर्क दिया गया है कि सहमृता न होने पर अगले जन्म में वही पति नहीं प्राप्त होगा (९। १३)। माघ की रचना में गणिका को भी उसकी क्रूर एवं लुब्ध भूमिका में देखा गया है। ऐसा ही समान चित्र दंडी के "दशकुमारचरित" में प्राप्त होता है जहां नारी, कुलकन्या, कुलवधू अथवा गणिका है। किन्तु दण्डी की दृष्टि यथार्थोन्मुख है, मोह-मुक्त है इसलिए इनका अनेक सामाजिक परिवेशों में दर्शन होता है।

शूद्रक के मृच्छकटिक में नारी कुलवधू एवं गणिका इन दो भूमिकाओं

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

में ही है। कुलवधू नेपथ्यचारिणी धूता पति के गर्व में गर्विता है, सामाजिक परिचय की भूमिका में ही उसका स्थान सुदृढ़ है। वहां, वह, गणिका वसन्तसेना द्वारा प्रदत्त मुक्तामाला अस्वीकार करते हुए कहती है "आर्यपुत्र ही मेरे आभरण हैं।" नाटक के अन्त में चारुदत्त के प्रेम एवं वसन्तसेना की महानता से अभिभूत होकर तथा कुछ निरुपाय होकर भी वसन्तसेना को सहपत्नी (सौत) के रूप में स्वीकार करती है। वसन्तसेना गणिका है, चारुदत्त के प्रति गहरे प्रेम के कारण उसके जीवन में नया रूपान्तर हुआ है, वहाँ वह गणिका से प्रेमिका की भूमिका में प्रतिष्ठित हुई है। वह चारुदत्त के गुणों पर मुग्ध है और चारुदत्त उसके रूप पर किन्तु उनको दृष्टि रूप का अतिक्रमण करके वसन्तसेना के मन को भी देख पाई थी। कहानी प्राचीन है, वहाँ शूद्रक का कृतित्व नहीं बल्कि गणिका के प्रेम को उसके चरित्र की महानता में प्रतिष्ठित करना ही उनका कृतित्व है।

ऐसा लगता है कि नारी के चरित्र-चित्रण में भवभूति का वैशिष्ट्य ही सर्वाधिक उल्लेखयोग्य है। "मालतीमाधव" नाटक में राजा को तुष्ट करने के लिए मालती के पिता उसे अपात्र को देने के लिए तैयार थे, यह सुनकर मालती कहती है "पिताजी के लिए राजा की तुष्टि ही बड़ी है, मालती कुछ नहीं ?" हर युग की असंख्य लड़कियों की इस नालिश को साहित्य में एक बार तो भाषा मिली। 'उत्तररामचरित" में भवभूति ने सचेतनतापूर्वक वाल्मीकि रामायण में प्रतिष्ठित मूल्यबोधों का पुनर्मूल्यायन किया है। यहां द्वितीय अंक में सीता राम के सम्बन्ध में स्पष्ट ही कहती हैं, "जिन्होंने अकारण ही मुझे परित्याग किया है, जिन्होंने अन्यायपूर्वक मुझे वन में भेजा है।" उनकी सखी वासन्ती राम से कहती है "लोग कहते हैं यश आपको प्रिय है किन्तु यश विरोधी ऐसा भयंकर कार्य और क्या हो सकता है ? (३।२७)। तमसा सीता से कहती हैं, "उन्होंने (राम) जब स्वयं ही तुम्हें त्याग दिया है तब आँसू बहाकर सान्त्वना पाना उनके लिए कठिन है।" सीता की अरण्य-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सहचरी सीता के परित्याग को लेकर राम को धिक्कारती हुई कहती हैं—"तुम उससे कहते थे—तुम मेरा प्राण हो, मेरा दूसरा हृदय हो, तुम आँख की शीतल ज्योति हो, अंग का अमृत हो। इस तरह सैकड़ों प्रिय वचनों से उस मुग्धा को अभिभूत करके उसे ही.....छोड़ो, और कुछ कहने से लाभ ही क्या ? (३।२६)" केवल दूसरों की भर्त्सना ही नहीं बल्कि भवभूति ने स्वयं राम को तीव्र अनुशोचना में दग्ध होने दिया है। सीता को निर्वासन देने का निर्णय लेने के पश्चात् गोद में सोई सीता की ओर देखकर रामचन्द्र कहते हैं, "बचपन से जिस प्रिया को प्यार किया है, मित्रता में जिसके साथ मैं अभिन्न-हृदय हूँ, उस प्रिया को छलना करके मृत्यु के हाथ में सौंप दे रहा हूँ यह तो ऐसे हुआ जैसे घर की पालतू चिड़िया को शिकारी ले चला" (१।४५) कहते हैं—"मैं अस्पृश्य हूँ, अपने स्पर्श से सीता को दूषित कर रहा हूँ।" गोद में सोई सीता के प्रति कहते हैं "मैं अकर्म करने में पटु चन्डाल हूँ, ओ मुग्धे! मेरा त्याग करो, चन्दन वृक्ष के भ्रम में तुमने दुर्भाग्यपूर्ण विषवृक्ष का आश्रय लिया है" (१।४६)। इस नाटक में भवभूति ने अनेक नारी चरित्रों की जैसे तमसा, मुरला, भागीरथी, पृथिवी, आत्रेयी, वासन्ती और विद्याधरी आदि की उद्भावना की है। इन सब की सहानुभूति सीता के प्रति है, परिणामतः राम की निष्ठुरता अनेक प्रकार से समालोचित हुई है। नाटक के अन्तिम अंक में "रामसीता का पुनर्मिलन शायद केवल "वियोगान्तं न नाटकं" इस निर्देश के कारण ही है। शायद समाज के निकट जो सीता बार-बार अन्याय से आक्रान्त हुई हैं उन्हें फिर वापस लाकर कुछ सुख-सुविधा देने की इच्छा से वाल्मीकि की कहानी को उन्होंने अन्य धारा में प्रवाहित किया। नाटक के शुरू में ही सूत्रधार कहता है "जैसे नारी के वैसे ही भाषा की साधुता के विषय में मनुष्य दुर्जन" (१।२) नट ने सुधार करते हुए कहा, "कहो अति दुर्जन"। इस चिरन्तन अन्याय का प्रतिकार या निवारण जैसे इस नाटक का एक उद्देश्य है। नाटक के अन्त में भरत वाक्य अथवा नाटक के अन्तिम आशीर्वादात्मक गीत में भवभूति कहते हैं "जगत् की माता की तरह

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

गंगा जैसी मांगलिक और मनोहरा यह कथा है जिसका रूप अभिनय में विन्यस्त हुआ है। यह कथा पाप से उद्धार करे, श्रेय का संवर्धन करे। परिणत प्रज्ञ अथवा पूर्णता प्राप्त प्रातिभ शक्ति सम्पन्न शब्द ब्रह्मवेत्ता वाल्मीकि की इस वाणी का पण्डित वर्ग विशेष रूप से चिन्तन करे (७।२०)। रामायण की कहानी प्राचीन है, परिणत प्रज्ञ कवि यहाँ भवभूति हैं जिनका अनुगमन दासी की तरह स्वयं सरस्वती करती हैं (१।२)। उनकी ही लेखनी से इस प्राचीन कहानी ने जो नया रूप ग्रहण किया उसके ही प्रति कवि पाठक एवं दर्शक की दृष्टि आकर्षित करते हैं। राम, सीता की कहानी जिस सामाजिक अविचार या अन्याय के संकेत का वहन करनी है उसका परिमार्जन करते हुए एक मननपूर्ण शोधित रूप इस नाटक में प्रस्तावित हुआ है इसलिए यह कहानी माता जैसी, गंगा जैसी मांगलिक मनोहरा है।

कल्हण की राजतरंगिणी में नारी भले-बुरे दोनों रूपों में ही चित्रित है, वहाँ नारी का परिचय अनेक रूपों में प्राप्त है जैसे रानी, उपपत्नी, गणिका, कुटनी, देवदासी, अवरुद्धा (रक्षिता-रखेल), कुलवधू, माता आदि। सामाजिक मूल्यबोध रक्षणशील या रूढ़िवादी है जैसे "पति ही नारी का देवता है, सतीत्व एक पवित्र भावना है। सती के तेज की घोषणा भी जोर-शोर से हुई है जैसे—"सती, देवता एवं ब्राह्मण के कोप से त्रैलोक्य में भी विप्लव होता है" (१।२७२) नारी भोग या इन्द्रिय तृप्ति के लिए ही है (३।५१) नारी स्वभावतः ही चंचल होती है, उसको नियंत्रित कौन करेगा ?" (३।५१८, ५१९)। नारी सुरापान करती है, अत्याचारी राजा निरपराध नारी के हाथ-पाँव तोड़ देता है और गर्भपात करवाता है, राष्ट्रीय अथवा सामाजिक कल्याण-सिद्धि के लिए आवश्यकता पड़ने पर नारी को डाइन बताकर अत्याचार किया जाता है। रह-रहकर कल्हण नारी-निन्दा में मुखर हो उठते हैं। राजा के डोमनी के प्रति आसक्त होने से राज्य अपवित्र होता है। राजा प्रतापादित्य वणिक गोनपा की स्त्री की कामना करते हैं, वणिक स्त्री-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

दान करना चाहता है। राजा के असम्मत होने पर कहता है "मन्दिर में देवदासी के रूप में दान कर रहा हूँ, वहाँ से ले लीजिए" (४।३३) नारियों के बेचने, खरीदने की खबर प्राप्त होती है जैसे तुर्किस्तानी व्यापारी अनेक देशों से नारियों को संग्रह करके बिक्री करते (७।५२०) कल्हण ने अत्यन्त गर्व के साथ सहमरण की भूमिका में सती होने का विवरण दिया है। एक स्त्री के सहमरण स्वीकार न करने पर उन्होंने उसकी ढेर सारी निन्दा भी की है (८।२।३४३)। कल्हण ने धर्मशास्त्र और स्मृति-युग के मूल्यबोध का ही समर्थन किया है किन्तु किसी राजा के इन्द्रिय-परायण या भोगी होकर अनाचार करने पर राजा को ही दोष दिया है, नारी को नहीं। यहाँ तक कि वर्णसंकर के सम्बन्ध में भी उन्होंने उस तरह नारी को जिम्मेवार नहीं ठहराया जैसे भगवद्गीता में।

इस युग के संस्कृत साहित्य में नारी को प्रेम के वातावरण से अलग करके अन्य प्रकार से नहीं देखा गया। वह भी एक स्वतंत्र व्यक्ति है, पारिवारिक भूमिका के बाहर वह भी एक नागरिक है, उसके भी विचारों, कल्पनाओं और सपनों का एक संसार हो सकता है जहाँ उसका व्यक्तिगत सुख-दुख, आशा-आकांक्षा और व्यर्थता-बोध हो सकता है—उसके बारे में इस साहित्य में कोई चेतना ही नहीं। इस दृष्टि से शूद्रक, वसन्तसेना के चरित्र में एक अन्य आयाम उभार सके हैं जहाँ वह केवल प्रेमिका नहीं बल्कि वह मालिक, नागरिक, गृहकर्त्री और सखी है। अन्यान्य प्राचीन साहित्य में प्रेमिका के अतिरिक्त नारी का अन्य परिचय भी प्राप्त होता है जैसे ग्रीक नाटकों में। हालांकि रोमन नाटक में विशेष रूप से न्यू ऐटिक कामदी (कामिडी) में नारी की मुख्य भूमिका प्रेमिका की ही है। यह बात भी सच है कि अन्य जिस किसी भूमिका में नारी अवतीर्ण क्यों न हो, वह भी पुरुष-परिकल्पित और पूर्वनिरूपित या निर्धारित एक ढांचा है जिसकी सीमा के भीतर ही नारी की गतिविधियाँ होती हैं। तब भी वहाँ उसका फैलाव कुछ ज्यादा है,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उसके अस्तित्व के कुछ अन्य पहलू स्वीकृत हुए हैं, केवल देहात्मवादी या भोग्या नायिका की यांत्रिक भूमिका में भोग्यवस्तु के रूप में वह नहीं दीखती। किन्तु संस्कृत के क्लासिकल साहित्य में प्रेम ही उसका एकमात्र वातावरण है, इसलिए गुप्त-प्रेम, दूती, संकेत-स्थल एवं अन्तःपुर के कानन के बीच ही उसका विचरण होता है। नायिका के वर्गीकरण में भी प्रेम की अवस्था के अनुसार पूर्वराग, मान, मिलन और विरह के आधार पर नायिका भेद भी किया गया है जैसे अभिसारिका, वासकसज्जा, मानिनी, खण्डिता, स्वाधीनभर्तृका, कलहान्तरिता, प्रोषितपतिका, वर्त्मावलोकिनी इत्यादि। देह के अनुसार वह शंखिनी, चित्रिणी, पद्मिनी और हस्तिनी है। उससे यही प्रत्याशा की जाती है कि वह घर में पति, संतान और ससुराल कि परिवार की सेवा एकनिष्ठ भाव से करेगी। वैष्णव साहित्य के प्रभाव से जिस प्रकार प्रेमिका के रूप में प्रतिष्ठा हुई है, उसी प्रकार शाक्त साहित्य के प्रभाव से वह मातृरूप में घोषित है। वहाँ उसके प्रति समाज के आचरण की क्षतिपूर्ति देवी एवं शक्ति के रूप में उसके स्वतन द्वारा हुई है। तब वह आदर्श-रूपा नारी असुरदलनी, विश्वजननी होती है या फिर परमा नायिका श्रीराधा होती है। सांख्य और तंत्र में वह परमा प्रकृति है, आद्याशक्ति है। इस प्रकल्पना के अन्तराल में जो वास्तविक नारी थी वह सामाजिक और व्यक्तिगत सभी मौलिक मानवीय अधिकारों से वंचित, भोग्यवस्तु और सेविका मात्र थी।

ईसा की पांचवीं शताब्दी से ग्यारहवीं शताब्दी का भारतवर्ष हिन्दू भारतवर्ष है। एक ओर समाज से बौद्ध एवं जैन का प्रभाव अन्तर्हित हो रहा था, लेकिन दूसरी ओर तब तक मुसलमान राजत्व की सूचना नहीं हुई थी। इसी भारत में शूद्र एवं नारी एकदम निचले स्तर के वाशिन्दे थे। ईसापूर्व पांचवीं शताब्दी के वेदांग साहित्य से ही इनका नाम एक सांस में लिया जाता है। ईसा की पहली एवं दूसरी शताब्दी में मोटे तौर पर भगवद्गीता और मनुसंहिता के स्वार्थ-प्रेरित प्रभाव के

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कारण उनका स्थान उस काल के लिए तथा उत्तरकाल के लिए निर्धारित हो गया। पांचवीं, छठी सदी तक कुछ लोच-लचक एवं सजीवता थी। उस समय भी पाश्चात्य जगत से व्यापारिक सम्बन्ध था। देश के मनोजगत् में उनके नये विचारों एवं धारणाओं के घात-प्रतिघात आ पहुंचते थे। सातवीं सदी के बाद योरोप और मध्यपूर्व के साथ व्यापार बन्द हो गया। केवल सुदूरपूर्व के साथ व्यापारिक सम्बन्ध बना रहा। किन्तु वहाँ से भारतवर्ष ने कोई नया विचार या धारणा नहीं प्राप्त की। गुप्त साम्राज्य के पश्चात् आर्यावर्त में इतने बड़े साम्राज्य का फिर गठन नहीं हुआ और आर्यवर्त क्रमशः छोटे-छोटे स्वतन्त्र राज्यों में बँट गया। संकीर्ण द्वैपायन मनोवृत्ति का प्रसार हुआ, विज्ञान में कुछ उन्नति होने पर भी विचार-जगत में और नई लहर का आभास नहीं मिला। परम्परागत चर्चा, टीका, भाष्य और स्मृति का ही प्रचार-प्रसार हुआ। आठवीं से दसवीं सदी तक में अर्द्धमागधी से अवहट्ट का विकास हुआ। दसवीं और ग्यारहवीं सदी में धीरे-धीरे कथ्य भाषा एवं लिपि का प्रवर्तन हुआ। आंचलिकता के उथलेपन की पंकिल आबोहवा में प्रभाव-हीन जीवन आलोड़ित या आवर्तित होता रहा। आर्यावर्त में केन्द्रीभूत राष्ट्रशक्ति का अवसान होने के साथ-साथ नागरिक सभ्यता की खुली हवा गतिहीन हो गई। विच्छिन्न, संकीर्ण और स्वतन्त्र एक ग्रामीण सभ्यता का उद्भव हुआ जिसके प्रभाव से समाज धीरे-धीरे अधिक रूढ़िवादी हो गया। इस रूढ़वादिता द्वारा नारी एवं शूद्र सबसे अधिक दण्डित हुए। यह पुराण, स्मृति और धर्मशास्त्र का युग था, इन सबने ही इस रक्षणशीलता या रूढ़िवादिता को सुदृढ़ किया।

अन्त में यह विचार करना उचित है कि इस युग में कौन लिख रहे थे और किसके लिए लिख रहे थे। उस समय जन-शिक्षा व्यापक नहीं थी फलतः लेखक और पाठक एक ही वर्ग या श्रेणी के लोग थे। जो शिक्षित थे वे धनी और द्विज थे, कुछ थोड़े धनवान शूद्र शायद शिक्षा का सुयोग पाते थे, वे पढ़ सकते थे किन्तु उस सम्पत्तिशाली शूद्र का वर्ग-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

चरित्र उतने दिनों में बदलकर उसी पूर्व की श्रेणी या वर्ण के साथ एकात्म हो चुका था। परिणामतः साधारणरूप से शूद्र उपेक्षित थे, साहित्य में उसका प्रतिविम्ब प्राप्त होता है कि वह मूर्ख है, बुद्धिहीन है इसलिए श्लेप, विद्रूप और कौतुक का लक्ष्य है। कदाचित् या कभी-कभी व्यतिक्रम प्राप्त होता है जैसे मृच्छकटिक में ब्राह्मण विदूपक मैत्रेय बीच-बीच में मूर्ख की भूमिका में दिखाई पड़ता है किन्तु याद रखना होगा कि विदूपक एक पूर्व-निधारित सांचा है, वहां उसकी मूर्खता या बुद्धि-हीनता उतनी व्यक्ति की नहीं, जितनी प्रतीकात्मक है। "राजतरंगिणी" में शूद्र अशिक्षित, रुचिहीन है, डोमनी बर्बर है किन्तु कल्हण श्रेष्ठ शिल्पी एवं सच्चे इतिहासकार हैं इसलिए उनके पक्षपातहीन चित्रण में द्विज ब्राह्मण भी अनेक बार उसी रूप में चित्रित हुए हैं। उनके अनुसार ब्राह्मण पुरोहित और मंत्री परम स्वार्थी हैं, क्षत्रिय राजा भोग-विलास में मस्त रहते हैं, कायस्थ, कुटिल एवं बेईमान होते हैं, बल्कि साधारण शूद्र सैनिक सच्चे और स्वामिभक्त होते हैं। दुष्ट राजा के राज्यकाल में साधारण शूद्र बहुल प्रजा की दुर्गति के विवरण में एवं उस दुर्गति का दायित्व राजा को अर्पण करते हुए कल्हण ने कलाकार के दायित्व का पालन किया है और कवि तथा इतिहासकार की ईमानदारी की रक्षा की है। नारी के बारे में ढेर सारी कुत्सा रटने के बावजूद उन्होंने बार-बार निःस्वार्थ, प्रजाहितैपिणी, तथा आत्मत्याग में निःशंक अनेक नारियों को चित्रित किया है। उसी प्रकार भवभूति जिस समाज में वास करते थे वह नारी के सम्बन्ध में निष्ठुर था, किन्तु कवि भवभूति की क्रान्तदर्शिता ने उन्हें एक ऐसे लोकोत्तर बोध या मानसिकता पर प्रतिष्ठित कर रखा था जहाँ उन्हें स्पष्ट रूप से ज्ञात हुआ था कि समाज में नारी को कभी समुचित न्याय नहीं मिला "यथा स्त्रीणां तथा वाचां साधुत्वे दुर्जनो जनः।" सामान्यतम पतन या चरित्रगत स्खलन चाहे हो या न हो, किन्तु समाज नारी-निन्दा में मुखर और वाचाल होता है। है। कवि की परिशीलित संवेदना ने इसके विरोध में सीता के चरित्र, द्वारा समाज की समालोचना की है। कालिदास की औशीनरी, सीता

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

और शकुन्तला में भी इस प्रतिवाद को मुख्य अथवा गौण रूप से भाषा मिली है। जिस प्रकार रघुवंश और उत्तर रामचरित के अनुतापयुक्त वेदनाविद्ध राम के चित्रण या रूपायण में हजारों वर्ष के सामाजिक मूल्यबोध को पुनर्मूल्यायित किया गया है।

वर्गीकृत अथवा श्रेणी विभक्त समाज के अग्रणी श्रेष्ठ कवि जिस विशिष्ट व्यक्तिगत उपलब्धि एवं बोध के द्वारा प्रेरित होकर रचना-रत होते हैं उसकी मांग है कि केवल अपने और श्रोता के वर्गचरित्र या वर्गचेतना का प्रवक्ता होने से ही काम नहीं चलेगा बल्कि उस वर्गीकृत समाज की आलोचना भी करनी पड़ेगी और भविष्य का पथ-प्रदर्शक भी बनना पड़ेगा क्योंकि कवि क्रान्तदर्शी होता है। साधारणतः जब कोई नयी उत्पादन-व्यवस्था और सम्बन्ध एक युग में प्रतिष्ठित हुआ करते हैं तब पूर्ववर्ती कवि समाज की वर्ग रचना एवं वर्ग-चेतना की भूमिका में अवचेतन के आभास से सावधान रहते हैं, उसकी आलोचना और चित्रण करते हैं तथा कभी-कभी पुनर्विन्यास या पुनर्निर्माण के मार्ग को दिखाने की चेष्टा करते हैं। परवर्ती कवि उसके बारे में उतने सतर्क या सचेतन नहीं रहते, वे पूर्वनिर्धारित ढाँचे को स्वीकार करके उसमें ही अनेक मुद्राओं-भंगिमाओं की कसरत और लेखनशैली के प्रदर्शन की कोशिश में व्यस्त रहते हैं। इस युग में शूद्रों का शोषण एवं उत्पीड़न, द्विज एवं धनाढ्यों द्वारा शासित समाज की उत्पादन-व्यवस्था के पक्ष में सुविधाजनक था। नारी को सेविका और भोग्यवस्तु की भूमिका में रखकर पराधीन और मुखापेक्षी बनाना भी पुरुष एवं उसके परिवार के पक्ष में विशेष सुविधाजनक था इसलिए इन दोनों के सम्बन्ध में कवि और नाटककार,धर्मशास्त्र के प्रणेताओं के साथ हमेशा ही एकमत रहे। कुछ संवेदनशील स्वप्नद्रष्टा साहित्य मर्मज्ञ ही इसके व्यतिक्रम या अपवाद होते हैं, ये ही एक विशेष अर्थ में वैप्लविक या क्रान्तिकारी समाजचेतना में भविष्य के पथ-प्रदर्शक होते हैं।

———

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

खण्ड : ३

परिशिष्ट

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्राचीन भारत में वर्ण और जाति

आज जातिभेद का जो तात्पर्य हम समझते हैं उससे बहुत भिन्न था वैदिक युग का तात्पर्य। जाति शब्द का प्रयोग ही इस अर्थ में नहीं होता था। तब वर्ण हुआ करता था और सारे ऋग्वेद में उसके एकदम अंतिम अंश दशम मंडल के केवल एक ऋक् में चार वर्ण का उल्लेख प्राप्त होता है (वहां लिखा है—ब्रह्मा का मुख थे ब्राह्मण, दोनों बाहु राजा, दोनों जांघों से वैश्य और दोनों पैरों से शूद्र का जन्म हुआ था (ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः। उरू यदस्य तद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत (ऋग्वेद १०।९०।१२। वर्ण का अभिधागत अर्थ है शरीर का रंग। पंडितों का कहना है कि चार रंग के मनुष्यों के कारण इस शब्द का व्यवहार होता था — श्वेतांग नार्डिक, बदामी आस्ट्रिक, कृष्णवर्ण नेग्रीटो या नेग्रयेड और पीतांग मोंगालयेड। ऋगवेद में अन्यत्र और बौद्ध साहित्य में भी दो ही वर्ण का उल्लेख प्राप्त होता है — आर्यवर्ण और दासवर्ण। ईसापूर्व पहली शताब्दी के एक ग्रंथ युगपुराण में भविष्यवाणी के रूप में एक समकालीन सामाजिक तथ्य उद्घाटित हुआ है —वर्ण दो ही अज्ज और पेष्य। (अर्थात् आर्य और पेष्य अर्थात दास) ईसा की दूसरी-तीसरी शताब्दी में रचित ग्रंथ "अंगविज्जा" में कहा गया है — वर्ण चार थे लेकिन अब दो ही रह गये हैं, अज्ज और पेष्य। ईसा की तीसरी चौथी शताब्दी में त्रिपिटक के चीनी अनुवाद में मूल ग्रंथ के जाति शब्द के बदले अज्ज और पेष्य शब्दों का प्रयोग किया गया है। कहने का तात्पर्य यह है कि ईसा की पहली शताब्दी के बाद के पाँच-छह सौ वर्षों तक समाज में वास्तव में दो ही वर्ण थे — आर्य और दास। ऋग्वेद में वर्ण शब्द का स्वतंत्र प्रयोग नहीं प्राप्त होता, आर्यवर्ण या दिव्यवर्ण और दासवर्ण के रूप में ही यह शब्द प्राप्त होता है। आर्य के अंतर्गत ब्राह्मण के अतिरिक्त क्षत्र और राजन्य शब्द हैं लेकिन वैश्य या शूद्र का

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उल्लेख नहीं है तथापि दशम मंडल की पूर्वोक्त ऋक् में है। ऐसा प्रतीत होता है कि आर्य और पेष्य इन दो विभागों के अंतर्गत आर्य से तात्पर्य होता था ब्राह्मण, क्षत्रिय या (राजन्य) और वैश्य का तथा दास शब्द के अंतर्गत शूद्र समाविष्ट रहते थे। ऋग्वेद में वैश्य और शूद्र का उल्लेख नहीं है लेकिन अथर्ववेद में है (४।२०।४, ५।१७।६) राजन्य शब्द ऋग्वेद में केवल एक वार प्राप्त होता है, वैश्य भी दशम मंडल में केवल एक वार। अन्यत्र "विशः" शब्द का प्रयोग किया गया है जिसका अर्थ हुआ प्रजा।

वैदिक समाज में वर्णों में परिवर्तन हुआ करते थे। दो भाई देवापि और शंतनु में देवापि पुरोहित अर्थात-ब्राह्मण और शंतनु राजा अर्थात् क्षत्रिय थे (ईसा पूर्व छठें शतक में रचित ग्रंथ निरुक्त २।१०) श्यापर्ण सत्यकाम के पुत्रों में कोई ब्राह्मण, कोई क्षत्रिय और कोई वैश्य था (शतपथ ब्राह्मण १०।४।१।१०)। ध्यान देने योग्य है कि वृत्ति या प्रवृत्ति के अनुसार ही इनके वर्णों का विभाजन हुआ है और तीनों ही आर्य वर्ण के थे, शूद्र कोई नहीं था। साथ ही यह भी समझ में आता है कि कभी वृत्ति के अनुसार वर्ण का विभाजन होता था और उसके कारण वर्ण विभाजन में एक प्रकार का लचीलापन था, खूब कठोरता नहीं थी। ऋग्वेद की एक ऋचा में एक व्यक्ति कहता है—मैं कवि हूँ। पिता चिकित्सक माँ पत्थर घिसती हैं, हम नाना तरह से अर्थ उपार्जन करते हैं। (कारुरहं ततो भिषगुपलप्रक्षिणी नना। नानाधियो वसूयवो अनु गा वै तस्थिम""९।११२।३) यहाँ भी एक ही परिवार के तीन व्यक्तियों की तीन भिन्न वृत्तियों का उल्लेख है। जहाँ तक जानकारी है ईसापूर्व चौथी शताब्दी तक एक वर्ण से दूसरे वर्ण में जाने का समाज अनुमोदन करता था, अवश्य ही चारों आर्य वर्णों के बीच ही। शूद्र उस समय ही इस समाज का पादपीठ था। इन चार वर्णों के अतिरिक्त थे निषाद। पाणिनि सूत्र में कहा गया है "निषादपंचमाः पंचजनाः" इंद्र का एक नाम था पांचजन्य अर्थात जो पंचजनों का स्वामी हो।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इसी पंचजन से "पांचजन" प्रयोग (बंगाल में पांचलोग कहते हैं वैसे ही जैसे हिन्दी क्षेत्र में चार (आदमी) प्रचलित हुआ। पांच वर्णों द्वारा गठित सभा पंचायत या पंचायेत् का प्रचलन भी इसी से हुआ प्रतीत होता है।

ब्राह्मण और क्षत्रिय की वृत्ति के सम्बन्ध में कोई संदेह नहीं है लेकिन वैश्य के सम्बन्ध में ऋग्वेद नीरव है। आर्यों के भारतवर्ष में आने के बाद विस्तृत खाली जमीन को लेकर खेती-बारी करने पशुपालन और धीरे-धीरे व्यापार करना शुरू करने के कारण ही उन्हें ऋग्वेद की भाषा में विशः अर्थात् प्रजा कहा गया। बाद में ये ही वैश्य कहलाये। ईसापूर्व सातवीं शताब्दी में ही वे धनी हो चुके थे। ब्राह्मण की शक्ति धर्म पर, क्षत्रिय की अस्त्र पर वैश्य की धन पर निर्भर करती है। लंबे काल तक रुचि, प्रवृत्ति और शक्ति भेद के कारण इन तीनों वर्णों के बीच आवागमन होता रहता था (अशोक के शिलालेख नंबर ५ और १३ में) "ब्राह्मणश्रमण" शब्द प्राप्त होता है—(श्रमण लेकिन वर्ण की चौहद्दी के बाहर था)।

यह स्थिति आम तौर पर ईसापूर्व चौथी शताब्दी तक चालू थी। इसके बाद विदेशी आक्रमण प्रारंभ हुए—ग्रीक, शक, पार्थीय, पह्लव, कुषाण आदि। इन आक्रमणों के बाद जब विजयी आगंतुक यहां स्थायी रूप से रहने और विवाह आदि करने लगे तब दो तरह की समस्याएं सामने आयीं। पहली, वर्णों में विभाजित समाज में आगंतुकों का स्थान कहां होगा और दूसरा मिश्र विवाहों के फलस्वरूप उत्पन्न सन्तान को किस वर्ण का माना जायेगा। ईसापूर्व ३०० साल में चंद्रगुप्त और सिल्यूकस के बीच हुई संधि में पहली बार मिश्र विवाह की वैधता स्वीकार की गयी (इस संधिपत्र में Epigamia शब्द प्रयुक्त हुआ है जिसका अर्थ होता है मिश्र विवाह)।

जाति और वर्ण ये दोनों शब्द सर्वप्रथम पतंजलि में प्राप्त होते हैं यह ईसापूर्व दूसरी शताब्दी का ग्रंथ है। पंतजलि के अनुसार शक

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

और यवन थे "अनिरवसित शूद्र" अर्थात् आज की भाषा में जल-चल शूद्र (जिनके हाथ का छुआ खाने में आपत्ति नहीं हो) सुप्रसिद्ध इतिहासकार टलेमि ईरान के इन मगों को ब्राह्मण कहते थे। (Brachmanoi magoi)। जब नये रूप में भारत में सूर्योपासना का प्रवर्तन हुआ तो पुरोहित हुए ईरान से आगत ये मग ही। ईसा पूर्व की दूसरी शताब्दी बाद लिखे जानेवाले साहित्य में आगंतुक विदेशी और मिश्र विवाह से उत्पन्न संतानों का सामाजिक स्थान नाना रूपों में निर्णीत हो गया था। शक, यवन, पारद और पह्लव लोगों को पहले वृषल और बाद में ब्रह्मक्षत्रिय कहा गया है। हरिवंश में एक कथा है— बाहु एक अत्याचारी राज था, हैहय—तालजंघ, शक—यवन—पारद—पह्लव लोगों ने मिलकर उसे राजच्युत किया। उसके पुत्र सगर ने ब्राह्मण और्व के आश्रम में और उनसे प्राप्त आग्नेयास्त्र से तालजंघ एवं और दूसरों को परास्त करके विदेशियों को धर्मच्युत किया (हरिवंश १३। १-३४, १४। १-१६) महाभारत की सुप्रसिद्ध कथा के अनुसार वशिष्ठ की कामधेनु को बलपूर्वक ले जाने के विश्वामित्र के प्रयत्न पर कामधेनु से शक, पह्लव पारद—यवन सैन्य पैदा हुए और उन्होंने विश्वामित्र को परास्त किया। दोनों कहानियों में विदेशी ब्राह्मणों की सहायता करते हैं— समाज में प्रश्रय प्राप्त करना, ब्राह्मणों की अनुकूलता प्राप्त करना ही इसका उद्देश्य था। पहली कथा में उनके धर्मच्युत होने की बात ध्यान देने योग्य है अर्थात् अब ये भारतीय धर्म—सम्प्रदाय के अंतर्गत सम्मिलित हो गये।

विदेशियों को स्वीकार करने का एक और उपाय था—प्रतिलोम विवाह को स्वीकृति। इसका एक फल यह हुआ कि जातिभेद को न मानने वाले बौद्ध, जैन और आजीविक आदि का वैशिष्ट्य और प्रभाव थोड़ा कम हुआ क्योंकि अब ब्राह्मण समाज अनिरवसित शूद्र के रूप में आगन्तुक विदेशियों को समाज में स्थान देने लगा। लेकिन कुछेक

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

शताब्दियों में ही ब्राह्मण रक्षणीयता उग्र रूप में दिखलाई पड़ने लगी—वर्णसंकरों को अत्यन्त घृणित माना जाने लगा। गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है—नारी के दोष से वर्णसंकर होते हैं और वर्णसंकरों द्वारा समाज का सर्वनाश होता है (१।४०)। धर्मशास्त्रकारों ने कह दिया—पुत्र का पिंड जनक को मिलता है, जननी के पति को नहीं, अतः अवैध मिलन से पुरुष को पिंड-नाश की आशंका हो गयी।

इन वर्णसंकरों से ही जाति की उत्पत्ति हुई। जातियों के कुछेक लक्षण हैं। प्रथम जातिविभक्त समाज में कौम में बहिर्विवाह; द्वितीय, गोष्ठी के बीच अंतर्विवाह; तृतीय कौम में खान-पान का चलन; चतुर्थ जाति का वंशानुक्रम से निर्धारण और पंचम ऊँच-नीच के आधार पर जाति का संगठन। ये सब लक्षण वर्ण-आधारित समाज में आर्य वर्ण के लोगों के बीच भी प्रचलित थे। इस जातिभित्तिक समाज के साथ पहले के वर्णभित्तिक समाज के कुछ मूल वर्णों के साथ जुड़ी तीनों आर्य वर्णों के अनुलोम और प्रतिलोम मिश्र विवाहों से उत्पन्न संतान और आगन्तुक विदेशियों के साथ मिश्र विवाह से उत्पन्न संतान।

समाज में ब्राह्मण पहले की ही तरह वर्ण-श्रेष्ठ रहा—वह सर्वदेवमय था (पराशरधर्म सूत्र ६।५३)। ब्राह्मण से समाज ब्राह्मणोचित तेज (ब्राह्मण्य) की अपेक्षा करता था, ब्राह्मणोचित आचरण (प्रतिरूपाचर्य) की अपेक्षा करता था और अपेक्षा करता था कि वह दूसरे वर्ण के लोगों को शिक्षादान करके उन्हें परिणति तक पहुँचायेगा (लोकपंक्ति) (शतपथ ब्राह्मण ११।५।७।१)। इसके विनिमय में ब्राह्मण को समाज से प्राप्त होगी पूजा (अर्चा), दान, अजेयता और अवध्यता। ब्राह्मण की स्वाभाविक वृत्ति हुई याजन और अध्यापन। दुर्दिन में उसके आपद्धर्म के रूप में तै हुआ—कृषि, कुसीद और वाणिज्य। जिन वस्तुओं का खरीदना-बेचना उसके लिए निषिद्ध था वे थीं—सुगन्धित द्रव्य, तेल-घी-तिल, वलकल, फल-मूल, मधु, मांस, नुकसान पहुंचानेवाली औषधि, मनुष्य, वशा गाय (बंध्या गाय), बच्चा, भूमि, चावल, जौ,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

बकरी, भेड़, बैल, और घोड़ा। ब्राह्मण को राजस्व नहीं देना होगा, जल, फूल और काठ वह कहीं से भी बिना मूल्य ले सकेगा। बिना पैसा दिए नदी पार कर सकेगा। दूसरे वर्ण का संचित धन लेकर यज्ञ सम्पन्न कर सकेगा। किसी भी अपराध के लिए उसे मारना, शृंखला में बाँधना या प्राणदण्ड देना वर्जित था। वह किसी भी पर-स्त्री से बातचीत कर सकता है। ब्रह्म-हत्या, ब्राह्मणी की हत्या और किसी निरपराधी व्यक्ति की हत्या के लिए किसी-किसी शास्त्रकार ने प्राणदण्ड का विधान दिया है लेकिन मनु और दूसरे प्रख्यात शास्त्रकारों ने यही कहा है कि नरहत्या करने पर भी ब्राह्मण को केवल निर्वासन का दंड दिया जा सकता है, उसके लिए भी उसे इतना समय देना चाहिए कि वह अपनी सम्पत्ति बेच-बाच करके जा सके। निर्दिष्ट समय में उसका काम पूरा न हो तो उसे और समय देना होगा, उसमें भी न होने पर और अर्थात् नरघातक होने पर भी उसे कोई आँच नहीं आयेगी। पंचपातक (ब्रह्महत्या, सुरापान, चोरी, गुरुस्त्री-गमन और इन सब अपराध के करने वालों से सम्पर्क) के लिए ब्राह्मणों के ललाट को गरम लोहे से दागने का विधान है, और सबके लिए प्राणदण्ड का। यदि क्षत्रिय ब्राह्मण को गाली दे, बुरा-भला कहे तो उसका दण्ड हुआ १५० मुद्रा, ब्राह्मण क्षत्रिय को कहे तो दण्ड ५ मुद्रा, क्षत्रिय वैश्य को कहे तो २५ मुद्रा, शूद्र को कहे तो कुछ नहीं। अभियुक्त के ब्राह्मण होने पर ही ब्राह्मण साक्षी देगा अन्यथा उसे साक्षी देने के लिए नहीं कहा जा सकता। केवल चोरी करने पर ब्राह्मण को थोड़ा अधिक दण्ड मिलता था। ब्राह्मण भूदेव है, क्षत्रिय से श्रेष्ठ है लेकिन वह राज्य का संचालन नहीं कर सकता। ब्राह्मण क्षत्रिय से शिक्षा ग्रहण नहीं करेगा। व्यतिक्रम केवल आपात काल में हो सकता है अर्थात् जब आचार्य न उपलब्ध हों या फिर ब्रह्मविद्या का सवाल हो। उपनिषदों में ब्राह्मण बार-बार क्षत्रिय के पास ब्रह्मविद्या प्राप्त करने के लिए आये हैं।

क्षत्रिय एक वर्ण का नाम था। इनमें जो अधिक सम्मानित और

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

क्षमता-सम्पन्न होते थे वे राजन्य कहलाते थे। ये राजा, राजपरिवार के सदस्य या राजा के निकट के व्यक्ति होते थे। आम तौर पर ब्राह्मण और क्षत्रिय की आपेक्षिक मर्यादा बड़े सूक्ष्म आधार पर टिकी रहती थी। वाजपेय यज्ञ करनेवाला क्षत्रिय रथ से उतरकर ब्राह्मण का अभिवादन नहीं करता था। बार-बार पढ़ने को मिलता है कि क्षत्रिय को प्रतिष्ठित करनेवाला ब्राह्मण होता है, ब्राह्मण के बिना राजशक्ति का विकास सम्भव नहीं। ब्राह्मण पुरोहित और ब्राह्मण मन्त्री इन दोनों पर राजा निर्भर करते थे। बिना पुरोहित के दिया गया हव्य देवता नहीं ग्रहण करते। यह कहने का कारण है—द्विज क्षत्रियों को भी यह करने का अधिकार था। लेकिन विधिवत् जिस ब्राह्मण का पुरोहित रूप में वरण किया जाता था वही ब्राह्मण पुरोहित हो सकता था। राजा के अभिषेक के समय पुरोहित समवेत जनता को सम्बोधन करके कहते थे—"ये तुमलोगों के राजा हैं, ब्राह्मण के राजा सोम हैं।" इस घोषणा के द्वारा ब्राह्मण राजशक्ति की सीमा के बाहर चले जाते हैं। समझ में आता है कि सामाजिक स्थान और सम्मान को लेकर ब्राह्मण और क्षत्रियों के बीच एक प्रकार की मौन प्रतिद्वन्द्विता थी।

ईसापूर्व छठवीं-सातवीं शताब्दी में उनके छोटे-बड़े राज्य आर्यावर्त में बने। बड़े-बड़े भूखण्ड पर अधिकार जमाकर वैश्य कृषि और पशुपालन, अंतर्वाणिज्य और बहिर्वाणिज्य करके धीरे-धीरे सम्पत्तिवान हो उठे। ये हुए क्षेत्रपति। बाद में बौद्ध साहित्य में गहपति या गृहपति संज्ञा से अभिहित लोगों में से अधिकांश ये ही थे अर्थात् आज की भाषा में कहें तो गृहस्थ, सम्पन्न किसान और व्यापारी। आर्यों में इनकी ही संख्या सबसे बड़ी थी।

इन तीनों को मिलाकर ही हुआ आर्यवर्ण। शूद्र हुए प्रेष्य या दास। शूद्र को बार-बार कृष्णवर्ण कहा गया है। तीनों आर्यवर्णों के अधिकार से शूद्र वंचित थे। अन्य तीनों वर्ण की कन्या से सम्बन्ध होने पर वह दण्डनीय होता था (गौतम धर्मसूत्र २। २। ३। १। ४)। यद्यपि बाद

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

में प्रतिलोम विवाह की स्वीकृति समाज ने दी, भले ही अनिच्छापूर्वक, लेकिन एक तिरस्कार रह ही गया। यज्ञ के अनुष्ठान में शूद्र का कोई स्थान नहीं (तैत्तिरीय संहिता ७ । १ । १६)। सोमयाग में बहुत दूर से सोम लाने पर पुरोहित उससे खूब मोल-भाव करके एक बछड़ा कीमत के रूप में देकर उससे सोम खरीदने का नाटक करेंगे। शूद्र सोम रखकर बछड़ा लेकर जाने लगेगा तब आर्य लोग उसे मार पीटकर उससे बछड़ा छीन लेंगे। कौषतकि ब्राह्मण (१७ । १) यद्यपि सब कुछ आनुष्ठानिक अभिनय है तथापि इससे समाज में शूद्र के स्थान का पता चलता है। शूद्र दो प्रकार के होते थे – अनिरवसित अर्थात् जल-चल और निरवसित अर्थात् जल-अचल या अनाचरणीय। अनिरवसित का अन्न ग्रहण करने में अपराध नहीं है। इनके अंतर्गत आते हैं पारिवारिक दास (रसोइया), ग्वाला, नापित और खेत के शरीक अर्थात् खेती के भागीदार। सब प्रकार के कारीगर-मिस्त्री और परिवार के मित्र। जल-अचल हुए चांडाल, श्वपच (कुत्ते का मांस खानेवाले) और पुल्कस (वाजसनेयी संहिता ३० । १७)। शास्त्रों में कहा गया है कि चूँकि शूद्रों को किसी देवता ने नहीं बनाया है अतः वे और सब का पैर धोएँगे (जैमिनीय ब्राह्मण १ । ६८-६९) उसकी उत्पत्ति असुर से है (तैत्तिरीय ब्राह्मण १ । २ । ६ । ५) सुर या देवता से नहीं। उसकी वृत्ति का दो ही आधार हो सकता है—द्विज सेवा और शिल्पवृत्ति। अंतिम के अंतर्गत बढ़ई, कर्मकार, चित्रकार, गायक-वादक, नर्तक, पशुपालक, कृषिजीवी और वाणिज्यजीवी सभी सम्मिलित हैं। मधु, चर्म, सुरा, मांस और लाक्षा का व्यापार वह नहीं कर सकता है। शूद्र अपवित्र होता है अतः उसे आग से दूर रखना उचित है। नारी, शूद्र, कुत्ता, कालापक्षी इनकी ओर देखना वर्जित है क्योंकि ये अपवित्र और वर्जनीय हैं (आपस्तम्ब-धर्मसूत्र १५। १६, २१, २२, ३०) एवं बौधायन धर्मसूत्र २ । ५२) मनु के अनुसार धनसंचय में समर्थ होने पर भी शूद्र वैसा नहीं कर सकता, गौतम धर्मसूत्र : २५ में कहा है शूद्र की सम्पत्ति दूसरे वर्णों

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

की सेवा के लिए है (१० । ६४-६५ धर्मसूत्र ७२४) शूद्रों में सबसे नीचा स्थान है चांडाल, श्वपच और और पौल्कस का। चंडाल हुआ कुत्ता और सूअर के समान (छांदोग्य, उपनिषद ५ । १० । ७) इसलिए वह दूसरे वर्णवालों का जूठा खायेगा (५ । २४)। निषाद शूद्र से कुछ ऊपर है पर चतुर्वर्ण के बाहर। वह रुद्रहोम का चरु पका सकता है लेकिन यज्ञ की अग्नि पर नहीं, साधारण अग्नि पर (कात्यायन श्रौत सूत्र १ । १ । १२-१४) वह अग्निहोत्र और दर्शपूर्णमासयाग कर सकता है (सत्याषाढ़ श्रौत सूत्र ३ । १) शूद्र का अन्न ग्रहण करने के निषेध की बात ब्राह्मण साहित्य में प्राप्त होती है : कवष ऐलूष शूद्र थे, आर्य कहते हैं—हम उसके साथ नहीं खायेंगे (कौषीतकि ब्राह्मण १२ । ३, ऐतरेय ब्राह्मण २ । ३ । १६)

शूद्र को वेद का अधिकार नहीं है (अपवादः छांदोग्य उपनिषद में रैक्व, जानश्रुति शूद्र पौत्रायण को संवर्ग विद्या देते हैं ४ । २ । ३)। यदि किसी तरह शूद्र के कानों में वेद मंत्र पड़ जायें तो उसके कानों में सीसा गलाकर डाल देना चाहिए, यदि वह वेद का उच्चारण करे तो उसकी जीभ काट लेनी चाहिए। यदि वह वेद-ज्ञान प्राप्त करे तो उसे टुकड़े-टुकड़े करके फेंक देना चाहिए (गौतम धम सूत्र, १२ । ४) शूद्र यदि ब्राह्मण को गाली दे तो उसकी जीभ उखाड़ ली जायेगी, क्षत्रिय या वैश्य वैसा करें तो उन्हें अर्थदण्ड भरना होगा। शूद्र का पक्वान्न अपवित्र होता है, अपक्वान्न ग्रहण किया जा सकता है। शूद्र ब्राह्मण की देखरेख में वैश्वदेव बलि पका सकता है, ब्राह्मण के लिए रसोई बना भी सकता है लेकिन परोस नहीं सकता। शूद्र के गृह्यकर्म के लिए मंत्र नहीं हैं, जो ब्राह्मण शूद्र का क्रिया-कर्म सम्पन्न करवाते हैं उन्हें शूद्रयाजी कहा जाता है, वे समाज में निन्दा के पात्र होते हैं।

सब शूद्र दास नहीं होते। स्वतंत्र वृत्ति से जीविका पालन करनेवाले शूद्र शिल्पजीवी, कृषिजीवी और पशुपालक होते थे। दूसरे जिनकी वृत्ति द्विजसेवा होती थी वे ही दास होते थे। दास समाज में नाना सूत्रों

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

से आते थे। दास स्वयं को बेच सकता था या फिर उसके बाप माँ या पति उसे बेच सकते थे। जन्म-सूत्र से अर्थात् दास के बेटे-बेटी भी दास होते थे। पराजित शत्रु या अधिकृत देश की प्रजा को भी बलपूर्वक दास बना लिया जाता था। शास्त्रों में दास को पुराना छाता-जूता-कपड़ा देने का निर्देश प्राप्त होता है। लेकिन घर में अतिथि आ जाने के कारण खाना कम पड़ जाने पर घर के लोग ही कम खायेंगे, दास को कम खाना नहीं दिया जा सकता, ऐसा भी कहा गया है (कात्यायन धर्मसूत्र ७२४)। भागनेवाले दास के लिए कठोर दण्ड था। खींच-खींच-कर बाल उखाड़ना, हाथ-पैर में हथकड़ी-बेड़ी देना, मारना हाथ पैर तोड़ देना, हाथ-पैर-कान नाक-ओठ-मुँह काट देना, आँख, दाँत, जीभ उखाड़ देना और आजीवन दासत्व में रखना। इनके अतिरिक्त खाने-पीने से वंचित करना, फाँसी देना, शूलविद्ध करना, शरीर फाड़कर एसिड भर देना, सिंह या बैल की पूँछ में बाँधकर कौए और गिद्ध से नोचवाना, आग में जलाना आदि नाना दंडों का विधान दास के विभिन्न अपराधों के लिए था (बौद्ध साहित्य में इनका उल्लेख प्राप्त होता है—सेक्रेड बुक-आफ द ईस्ट खंड १४ पृष्ठ ३७)। भूमिदास के सम्बन्ध में पहला प्रमाण ईसा की दूसरी शताब्दी के शिलालेख में प्राप्त होता है। तीसरी-चौथी शताब्दी से प्रचुर प्रमाण मिलते हैं।

जैसे सब शूद्र अस्पृश्य नहीं होते, वैसे ही सब अस्पृश्य शूद्र नहीं होते। ब्राह्मण साहित्य में इस प्रसंग में वाक् अस्पृश्य या शूद्रस्त्रीवत् जैसी उपमायें प्राप्त होती हैं अर्थात् शूद्र स्त्री अस्पृश्य होती है। अस्पृश्यता केवल जन्म के कारण ही नहीं पाप के कारण भी होती थी। जैसे ब्राह्मण का हत्यारा या ब्राह्मण का धन चुरानेवाला या सुरापान करनेवाला अस्पृश्य होता था। मनु ने उन्हें जात-बाहर करने का विधान दिया है (मनुसंहिता ९। २०५-३९)। कुछ धर्म सम्प्रदायों के आदमी अस्पृश्य माने जाते हैं यथा बौद्ध, जैन, पाशुपत, लोकायत और कपिलपंथी। कुछ वृत्तियों के कारण भी आदमी अस्पृश्य बन

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जाता था जैसे देवलक अर्थात् जो पैसा लेकर तीन साल तक मूर्तिपूजा करता था। इनके अतिरिक्त मद बेचनेवाला ग्रामयाजी (गांववालों के पुरोहित) आदि अस्पृश्य होते थे। किसी-किसी विशेष परिस्थिति में आदमी अस्पृश्य होता है जैसे सद्यःप्रसूता या रजस्वला नारी या किसी विशेष अशौच के समय। जातियों के अनुसार म्लेच्छ, चाण्डाल, पौल्कस, आन्ध्र, मेड़, श्वपच आदि अस्पृश्य होते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि अंचलभेद और कालभेद के अनुसार अस्पृश्यता की परिधि बढ़ती-घटती रही है।

सारी चर्चा का सार यह हुआ कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य ये तीनों आर्यवर्ण थे, शूद्र प्रारम्भ से ही हीन रहा। निषाद (व्याध, शाकुनिक आदि) का समाज में स्थान नहीं था। इन्हें राष्ट्रगत अधिकार था तो इतना ही कि समाज की सीमा के बाहर ये रह सकते थे। बाद में प्रतिलोम और आगन्तुक विदेशियों के साथ मिश्र विवाह के फलस्वरूप जातियाँ बनीं। यजुर्वेद में पुरुषमेध यज्ञ के प्रसंग में १८४ वृत्तियों का उल्लेख प्राप्त होता है लेकिन उन्हें जाति की संज्ञा नहीं दी गयी है। जाति संज्ञा ईसापूर्व की शताब्दी के अन्तिम चरण में प्राप्त होती है। ईसा की प्रारम्भिक कुछ शताब्दियों में इनके द्वारा एक ओर हीनता का प्रतिपादन किया गया है तो दूसरी ओर इन्हें समाज में एक प्रकार की स्वीकृति भी दी गयी। विदेशियों को जल-चल (अनिरवसित) के रूप में स्वीकार किया गया। जल-चल क्योंकि वे विजेता और राजा की जाति अर्थ और क्षमता के अधिकारी होते थे। इसके कई शताब्दियों पहले ही गोष्ठी टूटने लगी थी और कौम ही समाज की न्यूनतम इकाई बनने लगी थी। उस समय वृत्ति और जन्म इन दोनों के संयोग से जातियों का श्रेणीविभाजन और समाज में उनके आपेक्षिक स्थान का निर्धारण होता था। इसके बाद से ही वर्ण शब्द लुप्त हो गया, जाति शब्द चल पड़ा। जाति-विभाजन के फलस्वरूप समाज का जो चौखटा बना वही आज भी विभिन्न अंचलों में थोड़े-बहुत आंचलिक

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

परिवर्तनों के साथ कायम है। इनमें जन्मजात स्थान के अतिरिक्त वृत्तिगत विभाजन के फलस्वरूप आगन्तुक और मिश्रविवाह से उत्पन्न संतान को स्थान प्रदान किया गया लेकिन धीरे-धीरे यह रूप कठोर और अनमनीय (न मुड़नेवाला) होता गया। प्रमाणस्वरूप मुसलमानों के साथ मिश्र विवाह के फलस्वरूप उत्पन्न सन्तान को इस चौखटे में स्थान नहीं प्राप्त हुआ, वे मुस्लिम सम्प्रदाय के अन्तर्गत ही रह गये। योरोपवालों के साथ भी ऐसा ही हुआ।

सबसे पहले बौद्ध और जैन धर्म ने जाति-भेद की जड़ पर कुठाराघात किया। उस समय ऐसे ही गोष्ठी-कौम आदि टूट रहे थे। यह प्रक्रिया चलती रही। ईसा की पहली शताब्दी के बीच में ही जातिगत रूप कठोर और अनमनीय बन गया। गीता में वर्ण संकरों के प्रति जो विष वमन किया गया है उससे इस सम्बन्ध में समाज के विधायकों की मनोवृत्ति का परिचय प्राप्त होता है। सातवीं शताब्दी के बाद मध्य-पूर्व के साथ भी वाणिज्य-व्यवसाय कम हो गया। योरोप के साथ तो बहुत पहले ही बन्द हो चुका था। सुदूर पूर्व के साथ व्यापार होने पर भी वहाँ की नयी विचारधारा के साथ कोई सामना नहीं हुआ। फलस्वरूप एक जकड़ी हुई समाज व्यवस्था रह गई जिसमें स्वयंसंपूर्ण गाँव ही समाज का न्यूनतम संगठन हो रहे। स्मृति और शास्त्रों की चर्चा के फलस्वरूप ये विधान कई गुने बढ़ गये और इन्होंने समाज को अपने नागपाश में पूरी तरह जकड़ लिया। पहले की सामाजिक रूपरेखा में जो सहज गति और नमनीयता थी वह धीरे-धीरे कम होने लगी और जो विधान उस समय बने वे आज तक कायम हैं। स्मृतियों के विधान में जातिगत त्रुटियाँ बढ़ती ही गयीं, फलस्वरूप प्रायश्चित्त के नाना विधान चक्रवृद्धि ब्याज की तरह बढ़ते गये।

जन्मजन्मांतर कर्मवाद के माध्यम से समाज के बहुसंख्यक शूद्रों के बीच हीन भाव घर करता गया ; उन्हें समझाया गया कि पूर्व जन्म के पाप के फलस्वरूप ही उन्हें वर्तमान शूद्रयोनि मिली है। सारे दर्शन,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रस्थान और स्मृति शास्त्र इन दोनों जहरीले मतवाद के पोषक हैं। पूर्व मीमांसा ओर वेदांत में अनेक मामलों में मतभेद होने के बावजूद एक बात में दोनों एकमत हैं—दोनों ग्रन्थों में "अपशूद्राध्याय" में शूद्रों की हीनता का प्रतिपादन किया गया है।

क्षत्रिय वर्ण अब लुप्त हो गया है, कहीं-कहीं कुछ लोग बिखरे हैं। वैश्य भी सब प्रदेशों में नहीं हैं लेकिन ब्राह्मण और शूद्र सर्वत्र हैं। अनिरवसित अर्थात् जल-चल शूद्रों में कुछ धनी हैं लेकिन आम तौर पर ये निम्न मध्यवर्ग के और दरिद्र हैं। निरवसित अर्थात् जल-अचल शूद्र तो सर्वत्र अत्यन्त दीन हैं। ब्राह्मणों में धनी, मध्यवित्त, दरिद्र सभी हैं लेकिन हर कहीं सामाजिक दृष्टि से इनका स्थान सर्वोपरि है। इसकी भित्ति है भय और भक्ति। यहाँ भय और भक्ति प्रायः समानार्थक हैं, ब्राह्मण की सेवा और उसे दान देना परजन्म में उन्नति की सीढ़ी है, यह बोध ही भय और भक्ति की भित्ति होता है। और इस बोध को पुष्ट किया है धर्मग्रन्थों ने, दर्शन प्रस्थानों ने, तथा अनगिनत स्मृतिशास्त्रों ने जो सामाजिक धर्माचरण के एकमात्र शास्त्र हैं। इन सबकी सहायता से मुट्ठी भर सुविधाभोगी जातिभेद को जीवित रखकर निरंकुश भाव से नाना प्रकार की सुविधाओं का स्वयंभोग करते आये हैं। तथापि जिस तरह मध्ययुग में कबीर, नानक, दादू, रामानन्द, रामदास, चैतन्य आदि ने प्रतिवाद मुखर किया था, जिस तरह समाज में ही नामजूगी, साहेबधनी, लालनशाही आदि मतवाले जातिवैषम्य के विरोधी हैं उसी तरह आज भी महाराष्ट्र में दलित वर्ग और तमिलनाडु में ब्राह्मण विरोध के साथ-साथ अन्य प्रदेशों में भी जातिवाद के विरोध में पनपनेवाली चेतना एक शुभ लक्षण है। आन्दोलन और शक्तिशाली तथा सक्रिय होने से सम्भवतः मनुष्य केवल मनुष्य के रूप में अपनी पूरी मर्यादा पुनः प्राप्त कर सकेगा।

———

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हिन्दू विवाह : सामाजिक एवं सांस्कृतिक निहितार्थ

आज बंगाल में प्रचलित हिंदू वैवाहिक अनुष्ठानों में दो स्पष्ट धाराएं गुथी हुई हैं—पहली, ईसापूर्व बारहवीं से छठवीं शताब्दीके बीच लिखे गये वैदिक ब्राह्मण्य धार्मिक साहित्य में उल्लिखित आर्य आक्रामकों की परम्परा और दूसरी, इस काल में इसके पहले और इसके बाद प्रचलित आर्य पूर्व और देशज अनार्य जातियों की परम्परा। दो जातियों के मिश्रण के फलस्वरूप इन दोनों धाराओं का एकाकार होना अवश्यम्भावी था। दूसरी जातियाँ भी आक्रमणकर्त्ताओं के रूप में और कालांतर में यहां के मूल निवासियों के साथ अविभाज्य रूप में घुल-मिल गयीं। अपने साथ वे भिन्न धार्मिक विश्वास और आचार भी ले आयीं और यह सामाजिक सांस्कृतिक सम्मिश्रण ईसा की बारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक चलता रहा अर्थात् इस्लामी आक्रमण के समय तक यह चली आ रही सुप्रतिष्ठित परम्परा में अच्छी तरह जम चुकी थी। वैसे हमें एक बात ध्यान में रखनी चाहिए कि ये अनुष्ठान बड़े लचीले थे, विभिन्न जिलों या क्षेत्रों के रीतिरिवाजों में ही नहीं एक परिवार से दूसरे परिवार के रीतिरिवाजों में भी अन्तर पाया जाता है। जो कुछ लचीला है वह अधिकतर लौकिक परम्परा से आया है और जो तुलना में अधिक बँधा हुआ और अपरिवर्तनीय है वह वैदिक ब्राह्मण्य परम्परा, मन्त्र और अनुष्ठानों के सामान्य ढांचे का ऊपर से लादा हुआ अंश है।

वैवाहिक अनुष्ठानों में सबसे प्रारम्भिक अनुष्ठान का सम्बन्ध पितरों से है। इसे वृद्धि श्राद्ध कहते हैं। प्रातःकालीन अनुष्ठान दिवंगत माताओं के लिए होता है, संध्याकालीन पूर्व-पुरुषों के लिए। दोपहर के अनुष्ठान का सम्बन्ध सामान्यतः सभी पूर्वजों से होता है। अत्यन्त सुबह का समृद्धि के लिये किया जाता है। पूर्वजों को प्रसन्न करने वाले

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ये अनुष्ठान हिन्दू समाज के सभी वर्गों में पाये जाते हैं और ये देश-काल से परे हर कहीं हर समय मान्य और अनिवार्य होते हैं।

इस अनुष्ठान के बाद वर का विधिवत् वरण किया जाता है। कन्या का पिता कहता है मैं आपका पूजन करता हूँ। वर उत्तर देता है—ठीक है, करो। ध्यान देने की बात है कि कन्या का पिता आदर-सूचक आप का प्रयोग करता है जबकि वर अपने भावी श्वशुर के लिए तुम का प्रयोग करता है। मुख्य अनुष्ठान के समय वर एवं कन्या दोनों पक्षों के पितामहों और पिताओं का उल्लेख होता है, पितामहियों और माताओं का नहीं। इसके बाद महिलाओं के कई स्थानिक अनुष्ठान होते हैं जिन्हें स्त्री-आचार कहते हैं। वधू वर की सात बार परिक्रमा करती है और हर बार वर के चरणों में फूल और खोई अर्पित करती है वैसे ही जैसे भगवान के चरणों में फूल और खोई अर्पित की जाती है। इसके बाद कन्या के पिता द्वारा वर को एक गाय दी जाती है आम तौर पर यह देना मौखिक होता है। असल में यह उस वैदिक परम्परा का अवशेष है जिसके अनुसार नये सिरे से घर-गृहस्थी बसानेवाले नवदम्पति के लिए गाय एक मान्य और आवश्यक वस्तु होती थी। इसके बाद कन्या का पिता वर को पैर धोने के लिए जल देता है और ताँबे की थाली या शंख में दूर्वा, चावल और फूल देकर उसका स्वागत करता है वैसे ही जैसे पारम्परिक रूप में अतिथियों का स्वागत किया जाता है। तत्पश्चात् दूध और मधु अर्थात् मधुपर्क जिसे वर केवल सूँघ-कर छोड़ देता है। फिर कन्या का पिता एक त्रिपर्ण, तिल के दाने, एक हरीतिका और तुलसी की पत्तियाँ एक छोटे पात्र में रखता है और कहता है वस्त्र एवं आभरण से सुसज्जिता इस कन्या को मैं आपको देता हूँ। यहीं एक असंगत-सी वैदिक ऋचा कही जाती है—किसने किसको दान किया? कामना ने कामना को दान किया। कामना ही देनेवाली है, कामना ही लेनेवाली। तात्पर्य यह कि यह उक्ति देने लेने की सारी प्रक्रिया को ही बेमानी कर देती है। फिर योजक अग्नि जलाई जाती

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

है। वर का एक मित्र अपने को ढक लेता है और पानी में डुबाकर एक घड़ा भरता है और पूर्व से दक्षिण होकर आग के पास पहुंचता है और उत्तर की ओर मुँह करके खड़ा हो जाता है। दूसरा अग्नि की पूरब ओर खड़ा होता है। कोई सूप में चार मुट्ठी खोई डालता है और पूरब की ओर एक सिल-लोढ़ा रखता है। पश्चिम की ओर घास का एक आसन कपड़े से ढककर रखा जाता है जिसे कन्या के पिता द्वारा दिये गये कपड़ों को पहनते समय वर छूता है। वधू अग्नि के सामने खड़ी रहती है, वर एक वैदिक ऋचा कहता है—"किसी ने उसे (कन्या को) गन्धर्व को दिया, गन्धर्व ने अग्नि को, अग्नि ने धन, पुत्र और उसे मुझे दिया।" कन्या अपना दाहिना पैर वर की दाहिनी ओर की चटाई पर रखती है और कहती है—सुरक्षा और मंगल मेरे हिस्से में आयें अर्थात् मुझे प्राप्त हों, पति के रास्ते पर चलकर मैं पति-लोक को प्राप्त होऊँ। फिर वर अग्नि में एक लकड़ी का गट्ठा फेंकता है, एक छोटा-सा अनुष्ठान करता है, भावी वधू की सन्तानों की दीर्घ-जीवन की कामना करता है, उसके लिये कभी खाली न होनेवाली कोख की कामना करता है और एक वैदिक ऋचा द्वारा प्रार्थना करता है—यह अपनी संतान या पौत्र-दौहित्रों की मृत्यु पर शोक न करे, मृत्यु और विनाश इसकी सन्तानों से दूर रहें।

इसके बाद उसे एक पत्थर की शिला पर खड़ा किया जाता है। वर कहता है—"पत्थर पर खड़ी हो, पत्थर की तरह दृढ़ बनो" और उससे अग्नि में खोई डलवाता है। और इसके बाद साथ में सप्तसदी जिसमें हर पद पर खाद्यान्न, पशु, धन-सम्पत्ति तथा मंगल के लिए प्रार्थना की जाती है। वर प्रार्थना करता है कि उनकी मैत्री का बंधन कभी न टूटे और फिर समवेत लोगों से वैदिक श्लोक कहता है, उनसे अनुरोध करता है कि वे वधू को आशीर्वाद दें। इसके बाद वह अपनी उंगलियों से वधू का हाथ पकड़ता है और कहता है—मैं तुम्हारा पाणि-ग्रहण करता हूँ ताकि मंगल हो। मैं तुम्हारा पति हूँ मेरे साथ तुम लंबी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उम्र पाओ। तुम्हारी दृष्टि कभी निष्ठुर न हो, अपने पति की तुम कभी हत्या न करो, हमारी संतति और पशुधन दीर्घायु हों, वृद्धि पायें। तुम्हारा हृदय मेरी प्रतिज्ञा के प्रति समर्पित हो, तुम्हारा मन मेरा अनुवर्ती हो—इसके बाद वधू के शरीर में उसकी बरौनियों, उसके मुख, उसके दांत हाथ और पैर, उसकी जांघें, उसकी योनि, उसकी दृष्टि, उसके रोने, हँसने, उसके वचन और आचरण में जो कुछ अपवित्र है उसे शुद्ध करने के उद्देश्य से बिना मंत्र छह सामान्य बलियाँ दी जाती हैं। यह हो जाने के बाद वर वधू को ध्रुव तारा दिखलाता है और वधू कहती है—मैं पतिगृह में सदा अटल रहूँगी। उसके बाद अपने गोत्र का उल्लेख करते हुए कहती है फलां गोत्रवाली मैं आपका अभिनंदन करती हूँ। वर भी वधू का स्वागत करता है—मैं तुम्हारे मन और हृदय को भोजन, जीवन के सूत्र और पृश्नि से आबद्ध करता हूँ। मेरा हृदय तुम्हारा हो और तुम्हारा मेरा। इसके पश्चात् वह वधू में स्थित अशुभ और अमंगल को दूर भगाता है (चतुर्थिहोम) और अपने दीर्घ जीवन, शांति तथा समृद्धि के लिए प्रार्थना करता है।

इन प्रमुख अनुष्ठानों के बीच हमें छोटे-छोटे स्थानीय तथा जाति विशेष में प्रचलित लौकिक आचार—अनुष्ठान प्राप्त होते हैं। विवाह के लिए प्रस्थान करने के ठीक पहले वर से उसकी माता पूछती है—तुम कहाँ जा रहे हो ? तत्काल उत्तर मिलता है—तुम्हारे लिए एक दासी लाने माँ। अपना घर छोड़ने से पहले वधू पिता से कहती है—मैंने मुट्ठी भर-भर जो सोना लिया था उसे एक मुट्ठी धूल से चुकाये जा रही हूँ (कनकांजलि)। श्वशुर-गृह में आने पर वह दूध की थाली और आलता पर खड़ी होती है—हाथ में जिंदा मछली रहती है। उसे उबलता हुआ दूध दिखाकर पूछा जाता है कि वह क्या देख रही है। वह उत्तर देती है—दूध की नदी बहती हुई जो हुई समृद्धि का प्रतीक। वधू को देखने पर उसकी सास उसके हाथ में लोहे का कड़ा पहना देती है—कड़ा जो हुआ दासता का प्रतीक। इस आचार की आधुनिक व्याख्या

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

यह कहकर की जाती है कि लोहे का स्पर्श स्वास्थ्य के लिए लाभदायक होता है इसलिए सास वहू को लोहे का कड़ा, पहनाती है लेकिन यह तर्क कोई माने नहीं रखता क्योंकि यदि यह सच होता तो वधू को पहनाने से पहले कड़ा वर को पहनाया जाता। एक प्रारंभिक अनुष्ठान में वधू के शरीर से उस हल्दी के टुकड़े को छुआया जाता है जो पहले वर को छुआया जा चुका है। एक बच्चा वधू की गोद में दिया जाता है जो निश्चित रूप से उर्वरता का प्रतीक है। दोपहर के भोजन के समय एक थाली चावल पर एक साड़ी रखकर वर कहता है—आज से मैं तुम्हारे खाने - कपड़े का दायित्व लेता हूँ। यह कृत्य एक ओर वचन देता है और दूसरी ओर एक तरह का आर्थिक अनुबंध भी है—तुम सेवा करोगी मैं तुम्हारा भरण-पोषण करूंगा। पहला भोजन वह पति द्वारा जूठी छोड़ी गयी थाली में ही करती है—दासता का प्रतीक।

इस प्रकार हम पाते हैं कि धर्मग्रन्थों की लिखित व्यवस्था और लोकाचार दोनों ही वैवाहिक अनुष्ठानों के सांस्कृतिक महत्व की ओर अभिमुख हैं। चूँकि इन दोनों के मूल सिद्धांत, मूल्यांकन की दृष्टि एक जैसी है इसी कारण इनके सम्मिलन या विलयन में कोई असुविधा नहीं हुई। दोनों ही यह मानते हैं कि इस अनुबंध के द्वारा एक भिन्न गोत्र की स्त्री पति के घर आती है और यद्यपि वह प्राथमिक रूप से पति को ही दी जाती है तथापि गौण रूप से वह पूरे परिवार को दी गयी होती है।

यह संविदात्मक अनुष्ठान धर्मतंत्रीय पद्धति का ही अनुसरण करता है—पति एवं उसके परिवार के लोग ऊँचे स्तर पर हैं, पत्नी एवं उसके परिवार के लोग नीचे स्तर पर। एक प्रारम्भिक अनुष्ठान में वधू का पिता वर के घुटने छूता है जो है दीनता का सूचक। विवाह के लिए वधू के यहाँ आने पर वर का जल, फूल, खाद्य एवं वस्त्रादि से दिव्य स्वागत किया जाता है किन्तु वधू के ससुराल पहुँचने पर ऐसा कुछ नहीं होता क्योंकि उसका आगमन एक सम्मानित अतिथि के रूप में नहीं होता

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वरन् होता है एक देयता के रूप में, एक दासी के रूप में, एक मशीन के रूप में जो सन्तान—अधिमानतः पुरुष संतान पैदा करेगी। कोख के सदा भारी रहने की प्रार्थना बहुत स्पष्ट है। आशा की जाती है कि अपनी उर्वरता से वह खेत तथा पशुओं में उर्वरता की वृद्धि करेगी। यदि वह ऐसा नहीं कर पाती तो उसे धिक्कार है। तब पूरा परिवार और अड़ोसी-पड़ोसी जादू-टोना में लग जाते हैं। गोत्र परिवर्तन के द्वारा वह न केवल अपनी सामाजिक अस्मिता खो बैठती है वरन् श्वशुर कुल में अपने अस्तित्व को ही पूरी तरह खो बैठती है। पतियान अर्थात् पति का मार्ग शब्द का उल्लेख ही पति को अर्द्ध दैवी स्थान प्रदान करता है क्योंकि ऐसे दूसरे यान हैं देव और पितृयान और पैतृक अर्थात् अर्द्ध-दैवी या आध्यात्मिक स्तर के। इतना ही नहीं, जो नहीं कहा गया उसका संक्षिप्त पर्यावलोचन आँखें खोलनेवाला है। वधू के सुख-स्वास्थ्य के लिए कोई प्रार्थना नहीं है। उसकी इच्छाशक्ति, उसकी भावनाएँ, उसकी विचारणाशक्ति की पूरी तरह उपेक्षा की जाती थी, अपेक्षा की जाती है कि वह शान्त चित्त से और बिना प्रश्न किये पति का अनुसरण करेगी। पति पत्नी के साथ ही बँधे रहने की कोई प्रतिज्ञा नहीं करता। एक कुमारी के रूप में उसकी समाजिक अस्मिता की कोई स्वीकृति नहीं थी क्योंकि प्रारम्भिक आभ्युदयिक में उसके परिवार के नामों का कोई उल्लेख नहीं प्राप्त होता। अनुष्ठानों में एक पत्नी और एक माँ के रूप में उसकी आकांक्षा और स्वप्नों का कोई स्थान नहीं है। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि गृहस्थी के नाना काम और एक के बाद एक संतान पैदा करने के कारण उसके पास अवकाश ही नहीं रहता था कि वह कभी अपनी ओर देखे, एक व्यक्ति के रूप में अपनी सत्ता को समझे। सम्प्रदान का सारा अनुष्ठान वैसे ही सम्पन्न किया जाता है जैसे किसी निर्जीव वस्तु का दान। अन्तर केवल इतना ही होता है कि यहाँ सम्प्रदान की जाने जाने वाली वस्तु को सब कुछ झेलना पड़ता है। वर की अपवित्रता या उसके मन और शरीर की शुद्धि के लिए कोई अनुष्ठान नहीं है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

सारे अनुष्ठान में वर और वधू के पिता ही सब कुछ कहते-सुनते हैं मानो दी जाने वाली वस्तु का कोई महत्व ही न हो। वह गूँगी-बहरी की तरह आनुष्ठानिक कृत्यों को सम्पन्न करती चलती है और इस प्रकार एक जीवित व्यक्ति से, एक क्रियाशील व्यक्ति से अपने को एक निष्क्रिय निर्जीव वस्तु के रूप में रूपान्तरित करती जाती है। खाना-कपड़ा देने का वचन किसी भी नौकर को उसकी सेवाओं के विनिमय में दिये जाने वाले वचन के समान है। माता-पिता से कन्या के सम्बन्धों का सम्पूर्ण विच्छेद आनुष्ठानिक रूप से आवश्यक है ताकि लड़की मामला-मुकदमा से मुक्त बंधकहीन एक ऐसी अचल सम्पत्ति बन जाये जिसका इच्छानुसार विनिमय सम्भव हो। औद्योगीकरण के पहले का समाज नारी को एक व्यक्ति के रूप में नहीं देखता था और आर्य तथा अनार्य दोनों जातियों में प्रचलित सारे वैवाहिक अनुष्ठान इस तथ्य को उजागर करते हैं।

———

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कन्या-संतति और शास्त्र-वचन

वर्तमान युग से पहले संसार में कहीं भी कन्या के जन्म पर प्रसन्नता नहीं व्यक्त की जाती थी। अभी भी भ्रूण के लिंग के बारे में निश्चित रूप से जानकारी प्राप्त करने की जो चेष्टा चल रही है वह अनेक युगों से चली आ रही मनोवृत्ति की परिचायक है। हमारे देश में कन्या के जन्म पर शंख नहीं बजता, थाली नहीं बजती, लड़की के लिए कोई स्वतंत्र अनुष्ठान नहीं है। पुत्र के लिए भाई दूज का विधान है जिसके माध्यम से बहन भाई की दीर्घायु की कामना करती है लेकिन आनुष्ठानिक रूप से भाई बहन के लिए कोई ऐसी कामना नहीं करता। भाई दूज या जमाई षष्ठी आदि में केवल पुरुष की श्रेष्ठता का भाव ही नहीं, स्त्री के प्रति उपेक्षा का भाव भी प्रच्छन्न है।

नारी के अधिकारों के प्रति सचेतनता के युग से पहले पृथ्वी पर सर्वत्र पुरुष की तुलना में नारी अधम होने के कारण अवहेलित रही। सम्प्रति इस सचेतनता के कारण स्थिति से उबरने की सम्भावना दिखलाई पड़ने लगी है। यह सम्भावना तभी सार्थक होगी जब स्वयं नारी के मन से हीनता और पुरुषों की अधीनता स्वीकार करने का दैन्य दूर होगा। इसके लिए अवश्य है शास्त्रों में वर्णित अपने अतीत के इतिहास की खोज।

बहुत सम्भव है ऋग्वेद के एकदम प्रारम्भिक काल में जब नारी काफी दूर तक पुरुष की समकक्ष मानी जाती थी, नारी के प्रति स्वस्थ मनोभाव रहा हो। इसका कोई शास्त्रीय प्रमाण नहीं उपलब्ध है लेकिन ऐसा अनुमान समीचीन है। नारी के प्रति समाज की धारणा पर ही प्रतिष्ठित होती है बालिका के सम्बन्ध में धारणा। मैत्रायणी संहिता के अनुसार नारी अशुभ है (३।८।३), ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार नारी अभिशाप है (६।३।७।१३), पुत्र को जन्म देनेवाली नारी ही उत्तम नारी है (ऐतरेय ब्राह्मण ३।२४।२७), जो वधू केवल

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कन्या को जन्म दे उसका परित्याग किया जा सकता है (शतपथ ब्राह्मण) जो नारी केवल कन्या को जन्म दे उसका बारह वर्ष बाद परित्याग किया जा सकता है (बौधायन धर्म-सूत्र २।४।६, आपस्तम्ब धर्म-सूत्र २।५।११।१४; १।१०।५१-५३)। अतः इसमें दो मत होने की सम्भावना ही नहीं कि कन्या के जन्म से समाज हताश होता था तथा कन्या और माँ दोनों को हीन माना जाता था। मनु संहिता में उल्लेख है कि पुत नामक नरक से पिता की रक्षा करने के कारण ही पुत्र को पुत्र (पुत+त्रै) कहा जाता है। कन्या के लिए किसी ऐसे नरक की उद्भावना करने की आवश्यकता नहीं समझी गयी जिससे वह पिता की रक्षा करती अतः पुत्र की इस पारलौकिक भूमिका के बदले में कन्या के लिए कोई विकल्प भूमिका का विधान नहीं है।

तैत्तिरीय संहिता में कहा गया है कि सोमयाग के एक भाग के अनुष्ठान में कुछेक यज्ञ के पात्र नीचे धरती पर रखे जाते हैं, शेष ऊपर इसलिए जन्म के बाद शिशु कन्या को नीचे धरती पर रखा जाता है, शिशु पुत्र को ऊपर रखा जाता है (६।५।१०।३)। सम्भव है इसका मूल किसी इंदो-योरोपीय प्रथा में हो। रोम में सद्यःजात शिशु को धरती पर रखकर शिशु के पिता को बुलाया जाता था, संतान को देखकर यदि पिता को लगता था कि इसे जीवित रखा जाय तो वे उसे धरती से उठा लेते थे। लालन पालन करने के अर्थ में प्रयुक्त अंग्रेजी की उक्ति रेअरींग आफ दी चाइल्ड का उद्भव इसी उठा लेने से है। लेकिन रोम में शिशु पुत्र हो या कन्या इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता था। संतान पुत्र हो या कन्या, उसे रुग्ण या लालन-पालन के योग्य न समझने पर ही पिता धरती पर छोड़ देते थे। हमलोग केवल कन्या को ही कन्या रूप में जन्म लेने के कारण द्वितीय श्रेणी का नागरिक मानते हैं।

माँ के गर्भ में स्थित शिशु के आसन्न जन्म से पूर्व होने वाला अनुष्ठान है पुंसवन जिसका शाब्दिक अर्थ हुआ पुत्रजन्म अर्थात् जन्म

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नहीं। आम तौर पर नारी को अशुभ कहा गया है, कन्या संतान को अभिशाप—यह बात ईसा पूर्व सातवीं शताब्दी के आसपास रचित ऐतरेय ब्राह्मण में प्राप्त होती है (६।३।७।१३) महाभारत में भी कन्या को दुखावली ही कहा गया है (भीष्मपर्व ३३।३२) बौद्ध और जैन साहित्य में नारी जन्म पूर्व जन्म के पापों का फल है। एक पुण्यात्मा नारी के आत्मत्याग से प्रसन्न हो बुद्ध ने उसे वर दिया कि अगले जन्म में वह पुरुष योनि में जन्म ले अर्थात नारी जीवन के असम्मान और अपवित्रता से उसे मुक्ति मिले। यह कथा जातक में है। तत्कालीन बौद्ध और जैन साहित्यों में भी नारी के हीन होने का भाव ही मुखर होता है। अतएव किसी कन्या के जन्म लेने पर आसपास के लोगों के मन में यह विचार आना स्वाभाविक है कि पूर्व जन्म में इसने अवश्य पाप किया होगा तभी इस जन्म में कन्या योनि में पैदा हुई है। ऐसी स्थिति में यह सोचना ही व्यर्थ है कि परिवार या समाज में उस शिशु का स्वागत किया जायेगा।

आम तौर पर कन्या को शिक्षा का अधिकार नहीं था तथापि कुछ व्यतिक्रम थे ही। बृहदारण्यक उपनिषद् में याज्ञवल्क्य विधान देते हैं—जो पंडित और दीर्घायु कन्या की कामना करता है वह अपनी स्त्री को तिल मिले भात में घी मिलाकर खिलाता है (६।४।१७) अर्थात् कुछ लोग ऐसे थे जो पंडिता कन्या की कामना करते थे तथापि वे अपवाद ही थे। संसार में अन्यत्र भी अभी कुछ दिनों पहले तक समाज में कन्या को शिक्षा का अधिकार नहीं था, यहाँ भी वैसा ही था। कन्या के शैशव की किसी बात का उल्लेख साहित्य में कहीं नहीं प्राप्त होता, कुमार संभव के केवल दो-एक श्लोकों में गौरी के बालजीवन का वर्णन किया गया है तथापि कृष्ण की बाललीला का वर्णन साहित्य के बड़े अंश में प्राप्त होता है। इतना ही नहीं, संगीत, चित्रकला, अभिनय, स्थापत्य में सर्वत्र कृष्ण की बाललीला—का चित्रण किया गया है। ऐसा वर्णन किसी देवी या मानवी के शैशव का नहीं किया गया है। हमें स्मरण रहना चाहिए कि पुरुष प्रधान समाज में कन्या अवांछित अतिथि

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

होती है। अभी कुछ दिनों पहले तक राजस्थान में जन्मते ही कन्या को नमक देकर या उसका गला टीपकर मार देते थे। ऐसा किसी आकस्मिक मनोभाव या व्यतिक्रम के कारण नहीं होता था, यह होता था अढ़ाई हजार वर्षों से चली आ रही इस मान्यता के कारण कि नारी अशुभ है, पूर्व जन्म के पाप के कारण ही नारी योनि प्राप्त होती है। इसके अतिरिक्त वर-पण अर्थात् दहेज की प्रथा प्रारम्भ होने के बाद से पिता के लिए आर्थिक बोझ होने के कारण कन्या जन्म से ही अवांछित हो गयी। पिछले जन्म की पापिष्ठा जब इस जन्म में शिशु-कन्या के रूप में आती है तो परिवार या समाज में कोई उसका स्वागत नहीं करता। इसका तात्पर्य यह नहीं कि सभी कन्याएँ माता-पिता के लिए अवांछित होती थीं, व्यतिक्रम अवश्य होते थे लेकिन वे व्यतिक्रम ही होते थे। पुत्र की तरह शिशु कन्या के लिए अलग से कोई अनुष्ठान नहीं होता। जातिकर्म आदि अनुष्ठानों में उसके लिए अलग से वैसा कोई मंत्र-पाठ नहीं किया जाता जैसा पुत्र-संतान के लिए किया जाता है। विवाह तक के सारे अनुष्ठान उसके लिए अमंत्रक हैं।

शिक्षा से भी कन्या वंचित रखी गयी। आर्यवर्ण के पुत्रों के लिए उपनयन का विधान था, उसके बाद गुरु के आश्रम में निवास और यथोचित शिक्षो का अधिकार उसे प्राप्त था। लेकिन कन्या के लिए मनु ने व्यवस्था दी—विवाह ही उसका उपनयन है, पति के घर में रहना ही गुरु के घर में रहना है और पति सेवा ही वेदाध्ययन है। अर्थात् शिक्षा का कोई अधिकार ही उसके लिए स्वीकृत नहीं किया। व्यतिक्रम होते थे लेकिन आमतौर पर वह शिक्षा से वंचित ही रखी जाती थी।

अनेक क्षेत्रों में नारी और पुरुष का यह अंतर ससाज में ओतप्रोत भाव से जुड़ा था। छोटी कन्या के प्रति जब यह भाव व्यक्त होता है तो बहुत ही दृष्टि-कटु लगता है क्योंकि वह बच्ची होती है, निरपराध और पूरी तरह अबोध होती है। लेकिन सारा जीवन उसे इस अलगाव और हीनता के परिवेश में जीवन-यापन करना होता है। शास्त्र ने उसे

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

खाने को कम देने का विधान नहीं किया है लेकिन समाजशास्त्रियों ने खोज करके पाया है उसके पल्ले पड़ने वाली अपौष्टिकता की मात्रा बड़ी है। इस पृथक दृष्टि के फलस्वरूप ही उसके अधिकार सीमित होते गये और बात पौष्टिक भोजन तक पहुँच गयी। इस दृष्टि का परिचय प्राप्त होता है। शास्त्रों में, विभिन्न युगों में शास्त्रों ने ही इसे प्रतिष्ठित किया है, इसीके फलस्वरूप राजस्थान में लाखों-लाखों कन्याएं जनमते ही मार डाली गयी हैं। इसीका दूरगामी परिणाम है भ्रूण के लिंग निर्धारण के माता-पिता की इतनी व्यग्रता। क्या अभी भी यह कहने का समय नहीं आया है कि पुत्र और कन्या को समदृष्टि से देखना माता-पिता और समाज का न्यूनतम कर्तव्य है, इसका व्यतिक्रम समाज में गर्हित कहा जाय, कानून की दृष्टि से दंडनीय हो? जन्म के कारण जिस अधिकार और अभ्यर्थना से इतने दिनों तक शिशु कन्या वंचित थी, वह अब उसे प्राप्त हो नहीं तो मनुष्य का चरम अपमान होगा।

———

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सती

देवराला की घटना के कारण नाना प्रश्न मन में उठते हैं—क्या यह एक आकस्मिक घटना थी या लम्बे अरसे से निरन्तर चली आ रही किसी मानसिकता का स्फुरण ? क्या यह रूपकुँवर द्वारा किया गया स्वेच्छाकृत आत्महनन था या उसके सम्बन्धियों और आसपास वालों द्वारा ईंधन जुटाकर की गयी हत्या ? या फिर किसी बड़े कुटिल षडयंत्र के फलस्वरूप उसकी इच्छा के विरुद्ध उसकी हत्या ? इसकी मनोवैज्ञानिक व्याख्या जो भी हो, आज हमें सबसे परेशान यह बात किये है कि जो कुछ हुआ वह हुआ कैसे। और केवल इतना ही नहीं कि यह हत्याकाण्ड हो गया हो, धर्म के नाम पर उसकी छत्रछाया तले इसका अभिनन्दन भी किया गया। जो लोग इसकी प्रशंसा कर रहे हैं क्या वे सचमुच धर्मभाव से प्रेरित होकर ऐसा कर रहे हैं या उनका कोई और भी मतलब है ? और यदि है तो फिर उससे मुक्त कैसे हुआ जाय ?

रूपकुँवर सती हुई। सती माने ? इस शब्द का अर्थ क्या है ? "सती" शब्द का कोई पुल्लिग रूप भारतवर्ष की किसी भाषा में उपलब्ध नहीं जिसका तात्पर्य हुआ कि "सती" और उससे सम्बन्धित बातों का प्रयोजन केवल नारी के लिए ही है। यह प्रयोजन या अनुषंग क्या है ? कहा जाता है कि सहमरण के द्वारा पति के साथ जाकर सद्यः विधवा उसके पारलौकिक मंगल की व्यवस्था करती है और स्वयं पति के साथ अक्षय स्वर्गवास करती है। इस विशेष प्रसंग में हमें ज्ञात है कि मृत्यु के कुछ दिन पूर्व रूपकुँवर पुरुषत्वहीनता के कारण अपने पति को छोड़कर चली गयी थी। ऐसे पति के साथ अक्षय स्वर्गवास प्रलोभन का विषय हो सकता है या आतंक का, यह विचार करने की बात है। इन सब बातों को छोड़ भी दें तो महत्वपूर्ण बात यह है कि अनेक शास्त्रों एवं समाज के एक भाग के मतानुसार मृत व्यक्ति की पत्नी का कर्त्तव्य है कि वह पति के साथ चिता पर जल मरे। उनके

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अनुसार यह परम पुण्य कृत्य है और ऐसा करके वह 'सती' रूप जानी जायेगी। बात स्पष्ट है—पति किसी स्वाभाविक कारण से मृत्यु को प्राप्त हुआ है, उसे अपनी जानकारी में आत्महत्या की यंत्रणा नहीं भोगनी पड़ी है, उसकी मृत्यु का कोई विकल्प उसके सामने नहीं था लेकिन उसके स्त्री के सामने रहता है फिर भी यह कैसा अमानवीय परिवेश है जो एक विधवा को निश्चित मृत्यु की ओर ढकेल देता है।

जीवित सद्यः विधवा को पति की चिता पर चढ़ा देने की परम्परा सम्भवतः इस देश में बड़ी पुरानी है। अथर्ववेद में एक स्थान पर कहा गया है—एक जीवित नारी को मृत (व्यक्ति) की वधू होने के लिये ले जाते देखा या कि यह नारी प्राचीन रीति का अनुसरण कर रही है १८।३।१, ३)। कितनी पुरानी है यह रीति? प्रागार्य? यही सकता है ऐसा ही हो क्योंकि प्राचीन ग्रीक, रोम, जर्मन, स्लाव साहित्य में कहीं भी इस बात का प्रमाण नहीं मिलता कि इंदो-यूरोपीय लोग स्त्री को पति की चिता पर जला देते थे। इस प्रथा की उत्पत्ति कहीं भी हुई हो, यह सत्य है कि आर्य-प्रागार्य मिश्र समाज में इसे अंशतः स्वीकार कर लिया गया था, इसके प्रचुर प्रमाण उपलब्ध हैं। वैसे इस प्रथा का बहुत व्यापक प्रचार नहीं था। महाभारत में पाण्डु की मृत्यु के बाद कुन्ती जीवित रहीं, माद्री सहमृता हुईं। ऐसा लगता है कि उस युग तक इस तरह का सहमरण स्वेच्छाकृत मृत्यु का एक विकल्प ही था। सारे महाभारत की मूलकथा में यह एकमात्र दृष्टांत है। रामायण और महाभारत में अनेकानेक विधवाएँ जीवित रहीं, पति के साथ अक्षय स्वर्गवास का लोभ दिखलाकर कोई उन्हें आत्महत्या के लिये प्ररोचित नहीं कर पाया। 'हर्षचरित' की रचना के समय समाज द्वैपायन संकीर्णता के कारण जटिल बन चुका था तथापि पति की मृत्यु निकट जानकर जब यशोमती चितारोहण के लिए प्रस्तुत होने लगीं तब किसी ने भी उन्हें उत्साहित नहीं किया, उल्टे बाधा ही दी थी सबने। इससे पहले मदन की मृत्यु पर रति का चितारोहण के लिए प्रस्तुत होने का

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उल्लेख कालिदास में प्राप्त होता है। अन्त में उसे चितारोहण नहीं करना पड़ेगा सम्भवतः यह जानते हुए ही कालिदास ने यह वर्णन किया था। रघुवंश में अनेकानेक राजा मृत्यु को प्राप्त हुए लेकिन कहीं भी उनकी रानियों के सहमृता होने का उल्लेख नहीं प्राप्त होता। हाँ, परवर्ती साहित्य में विशेषकर 'राजतरंगिणी' आदि जैसे आदि मध्ययुगीन साहित्य में सहमरण का प्रशंसात्मक उल्लेख पाप्त होता है।

महाभारत में दक्षयज्ञ के एकाधिक विवरण हैं तथापि कहीं भी शिवनिन्दा के कारण सती के देह-त्याग का उल्लेख नहीं है वरन् क्रुद्ध शिव ही अपने पौरुष से यज्ञ खण्डित करते हैं, यही कथा है। परवर्ती पुराणों यथा वायुपुराण (३०।४०-५५), स्कन्दपुराण और वामन पुराण में यह कथा प्राप्त होती है। लेकिन परिचित कथा का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है अनेक बाद के शिवपुराण (१७।२५-२६) नामक एक उपपुराण में। इस कथा में पति का अपमान न सह पाने के कारण साध्वी सती देहत्याग करती है, आग में जलकर मरती नहीं। इस मृत्यु के कारण 'सती' शब्द को एक नया आयाम, एक नयी व्यंजना प्राप्त होती है—पति की मर्यादा की हानि होने से स्त्री का जीवन इतना अर्थहीन हो जाता है कि जीवित रहने के बदले मृत्यु का वरण करना ही उसे अधिक श्रेयस्कर लगता है। और वे अगले जन्म में हिमालय की पुत्री गौरी के रूप में जन्म ले पुनः शिव की पत्नी होती हैं। 'सती' की कल्पना के साथ एक नया दायित्व जुड़ा—पति की मानरक्षा के लिए सती को प्राण भी दे देना चाहिए। कहने की आवश्यकता नहीं कि स्त्री के मान-सम्मान के सम्बन्ध में इसके अनुरूप किसी बड़ी सतर्कता की कथा कहीं नहीं मिलती, कारण बहुत स्पष्ट है—इस देश में नारी को कभी व्यक्ति के रूप में मान नहीं दिया गया फलस्वरूप महाभारत की द्यूतसभा के महारथियों की तरह उसका असम्मान सब लोग आज भी चुपचाप बिना किसी विरोध के देखते रहते हैं।

सतीदाह का बीज धर्मशास्त्रों और पुराणों में दिखलायी पड़ता है। इनमें इसे एक महापुण्यकृत्य माना गया है। व्यास स्मृति के

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अनुसार "अन्य वर्ण की नहीं, केवल ब्राह्मणी ही सहमृता हो सकती है। यदि वह जीवित रहे तो वेश-भूषा त्याग करके तपस्या द्वारा देह-शुद्धि करे।" (मृते भर्तारमादाय ब्राह्मणी वह्निमाविशेत्। जीवन्ती चे त्यक्त वेशा तपसा शोधयेद्रूपः ॥ २। ५३)। यहाँ पर सहमरण के विकल्प के रूप में विधवा के शुद्धाचार की व्यवस्था दी गयी है। पराशर धर्मशास्त्र में भी इस विकल्प को स्वीकार किया गया है—जो नारी पति की मृत्यु के बाद ब्रह्मचर्य पालन करती है वह ब्रह्मचारियों की तरह ही मृत्यु के बाद स्वर्गलाभ करती है। (मृते भर्तरि या नारी ब्रह्मचर्ये व्यवस्थिता। सा मृता लभते स्वर्गम् यथा ते ब्रह्मचारिणः ॥ ४। २७) लेकिन इसके बाद ही कहा गया है कि मनुष्य के शरीर में साढ़े तीन करोड़ रोम होते हैं, जो नारी मृत (पति) का अनुसरण करती है वह उन साढ़े तीन करोड़ वर्षों तक स्वर्ग में वास करती है (तिस्रः कोट्यर्धकोटी रोमाणि मानवे। तावत् कालम् वसेत् स्वर्गम् भर्तारम् यानुगच्छति ॥ ४। २८) अर्थात् सहमरण का विकल्प है अवश्य लेकिन वह केवल अधम नारियों के लिए है, उत्तम नारी अनुमृता होकर अक्षय स्वर्गवास लाभ करती है। यह भयंकर प्रलोभन सद्यः विधवा को दुर्बलतम क्षणों में दिया गया है। दक्षसंहिता कहती है—पति की मृत्यु के बाद जो नारी अग्निप्रवेश करती है वही शुभाचारिणी स्वर्ग में पूजित होती है। सँपेरा जिस तरह बिल से साँप को बलपूर्वक खींचकर बाहर निकालता है उसी तरह वह पति को नरक से खींचकर बाहर निकालकर उसके साथ सानन्द जीवन-यापन करती है। पितृकुल और पतिकुल दोनों को सहमृता नारी पवित्र करती है। (मृते भर्तरि या नारी समारोहेद्धुताशनम्। सा भवेत्तु शुभाचारा स्वर्गलोके महीयते ॥ व्याल ग्राही यथा व्यालं बलादुद्धरते बिलात। तथा सा पतिमुद्धृत्य तेनैव सह मेदिते ॥ मातृकं पैत्रिकण्णैव यत्र कन्या प्रदीयते। पुनाति त्रिकुलं नारी भर्तारं यानुगच्छति ॥ ४ : १९-२१) धर्मशास्त्रकार शंख और अंगिरा ने भी यही कहा है। लेकिन मनु स्वयं सहमरण का निर्देश

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नहीं देते, वे कहते हैं—पति की मृत्यु के बाद साध्वी स्त्री ब्रह्मचर्य का पालन करने से पुत्रहीना होने पर वैसे ही स्वर्ग जाती है जैसे ब्रह्मचारिणी स्त्रियाँ जाती हैं (मृते भर्तरि साध्वी स्त्री ब्रह्मचर्ये व्यवस्थिता। स्वर्गं गच्छत्यपुत्रापि यथा ते ब्रह्मचारिणः॥ ५।१६०) हारीत का कथन है—जो नारी (मृत पति का) अनुगमन करती है वह मातृकुल, पितृकुल और श्वशुर कुल को पवित्र करती है। याज्ञवल्क्य ने भी अनुमरण का विधान नहीं दिया है। उन्होंने कहा है—पति की मृत्युके बाद पिता-माता, पुत्र, भाई, सास-ससुर, मामा आदि विधवा की देखभाल करें अन्यथा उसकी बदनामी होगी (१।८६)। वृद्धहारीत संहिता में कहा गया है कि—पति की मृत्यु के बाद स्त्री दिन में दो बार खायेगी, सुगन्धित द्रव्य, फूल, गहनों, रंगीन कपड़ों और काजल का वर्जन करेगी (११ : २०५-२१०)।

विष्णुधर्मसूत्र में सहमरण के विकल्प के रूप में आमृत्यु ब्रह्मचर्य की बात कही गयी है (२५ : १४) तथापि वहाँ सहमरण को भी स्वीकार किया गया है। महाभारत में माद्री के अतिरिक्त मौषलपर्व में वासुदेव की मृत्यु के बाद उनकी चार पत्नियां देवकी, रोहिणी, मद्रा और मदिरा अनुमृता हुई थीं, वासुदेव की मृत्यु के बाद उनकी आठों महिषियों ने चितारोहण किया था। लगता है वृष्णि-सात्वतों में सहमरण की प्रथा प्रचलित थी। शांतिपर्व में जो कपोती पति की आत्महत्या के बाद अग्नि-प्रवेश करती है, उसने अवश्य ही दुःख से अभिभूत होकर वैसा किया था, माद्री ने भी पश्चाताप के कारण वैसा किया था। इन सबके पीछे समाज का कोई प्रत्यक्ष विधान नहीं था। अपने प्रियजन से विछोह न सह पाने के कारण अनेक नारियों ने अग्नि प्रवेश किया था। पत्नी की मृत्यु के बाद पति के शोक की बात तो सुनने में आती है लेकिन उनके आत्महनन या सहमरण का उल्लेख कहीं भी नहीं प्राप्त होता।

याज्ञवल्क्य ने सहमरण या अनुसरण किसी का विधान नहीं दिया है लेकिन उनके टीकाकारों ने उनकी उक्तियों की नाना तरह से व्याख्या

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

की है। उनकी उक्ति को उद्धत करते हुए उसके आधार पर मिताक्षरा टीका कहती है—गर्भवती या शिशु की माता को छोड़कर ब्राह्मण से लेकर चांडाल तक सभी नारियों का यही (सहमरण) धर्म है (अयंच सर्वासां स्त्रीणामगर्भिणीबाला पत्यानाम् आचंडालं साधारणो धर्मः। भर्तारं यानुगच्छतीति विशेषोपादानात्।) याज्ञवल्क्य में कहा गया है कि पति के न रहने पर नारी पिता, माता, भाई, सास, ससुर या मामा के संरक्षण में रहेगी अन्यथा उसकी निन्दा होगी पितृमातृसुत-भातृश्वश्रूश्वशुरमातुलैः। हीना न स्याद्विना भर्त्रा गर्हणीर्यथान्यथा भवत्। १। १ : ८६) यहां सहमरण या अनुमरण का उल्लेख नहीं है वरन् उपयुक्त अभिभावक के संरक्षण में विधवा के रहने का ही विधान है। टीकाकारों को वह अनुकूल नहीं हुआ अतः उन्होंने ब्राह्मण से लेकर चाण्डाल तक सारी नारियों के लिए अनुमरण का विधान एक ही सांस में दे डाला। इसी तरह रक्षणशील मनु ने भी विधवा के ब्रह्मचर्य का ही विधान दिया था—(विधवा) यद्यपि पवित्र फूल-फल-मूल खाकर शरीर को क्षीण करेगी तथापि पति की मृत्यु के बाद किसी पर-पुरुष का नाम भी जबान पर नहीं लायेगी (कामं तु क्षपयेद्देहं पुष्पमूलफलैः शुभैः। न तुनामापि गृह्णीयात् पत्यौ प्रेते परस्य त्तु ११। ५। १५७)। देह को क्षीण करने के विधान का अर्थ हुआ धीरे-धीरे मृत्यु की ओर अग्रसर होना तथापि तुरन्त पति के साथ चिता में मरने का विधान मनु ने नहीं दिया है। इस श्लोक की व्याख्या करते हुए टीकाकार मेधातिथि कहते हैं—पुरुष की तरह नारी के लिए भी आत्महत्या निषिद्ध है, अंगिरा का कथन है कि "विधवा अनुमृता होगी" तथापि नित्यविधि (इस प्रसंग में आत्महत्या वर्जन) आचरणीय है। फललाभ की तीव्र आशा का निषेध होने के बावजूद उसका अतिक्रमण करके (विधवा की) मरण की प्रवृत्ति शास्त्रीय नहीं है (पुवत् स्त्रीनामपि प्रतिषिद्ध आत्म-त्यागः। यद्यप्यागिरसे 'पतिमनुम्रियेरन्नित्युक्तं तदपि नित्यवदवश्यं-कर्तव्यम्। .... अतिप्रवृद्ध फलाभिलाषायाः सत्यपि प्रतिषेधे तदतिक्रमणेन मरणे प्रवृत्युपात्तेन शास्त्रीयत्वम्) बौधायन धर्मसूत्र में है—विधवा एक

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

साल तक मधु, मांस सुरा और नमक युक्त भोजन का वर्जन करेगी (२।२।६६-६८)। ध्यान देने की बात है कि प्रकारांतर से सधवा के सुरापान और मांसाहार की आदत को स्वीकार किया गया है।

मिताक्षरा का कहना है कि अनुमरण के क्षेत्र में आत्महनन हिंसात्मक कर्म नहीं होता। अपरार्क का भी यही मत है। आपस्तम्ब से उद्धरण देते हुए अपरार्क यहाँ तक कहते हैं कि "जो नारी मोह के वशीभूत होकर विचलित हो चिता से उतर आती है वह प्राजापत्य प्रायश्चित्त करके इस पाप से शुद्ध हो सकती है (चितिभ्रष्टा तु या नारी मोहाद्विचालिता ततः। प्राजापत्येन शुध्येत्तु तस्माद्वै पापकर्मणः) मजे की बात है कि जो आत्महत्या सर्वजन स्वीकृत हिंसात्मक काम है और पुरुष के सम्बन्ध में जिसका कोई व्यक्तिक्रम नहीं है, वही आत्म-हनन जब नारी पति के निमित्त करती है तब वह हिंसात्मक काम नहीं होता वरन् धर्मकृत्य हो जाता है। जो आत्मरक्षा की प्रवृत्ति सर्वदा सर्वत्र आचरणीय मानी गयी है उसी आत्मरक्षा के लिए जब नारी सहमरण के बदले चिता से उतर आती है तो उसका वह कृत्य पाप माना जाता है। नारी के सम्बन्ध में सामान्य नियम रद्द हो जाते हैं। अँगिरा का उद्धरण देते हुए कहा जाता है—पति के मृत्यु के बाद अग्निप्रवेश के अतिरिक्त नारी का और कोई धर्म नहीं होता (साध्वी-नामपि नारीणाम अग्नि प्रपनादृते। नान्यो धर्मो हि विज्ञेयो मृते भर्तरि कर्हिचित् ॥) यह साध्वी सती का प्रतिशब्द है इसका भी इसी अर्थ का द्योतक कोई पुल्लिंग प्रतिशब्द नहीं है। अर्थात् अंगिरा के मतानुसार भी अपना साध्वीत्व या सतीत्व प्रतिपादित करने के लिये अग्निप्रवेश ही विधवा का एकमात्र धर्म हो सकता है। सारा जीवन सत् आचरण करने के बावजूद वह सती नहीं है, आत्महत्या करके उसे अपना साध्वीत्व, अपना सतीत्व प्रमाणित करना होगा। जलेगी कन्या उड़ेगी राख, तभी मैं मानूँ उसकी साख ॥

अंगिरा की उक्ति "मृते भर्तरि या नारी समारोहेद्धुताशनम्" को

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उद्धृत करते हुए रघुनन्दन कहते हैं—या नारी" उक्ति द्वारा सहमरण के विकल्प का भी इंगित प्राप्त होता है, सहमरण के अतिरिक्त साध्वी नारी का और कोई धर्म नहीं है यह उक्ति सहमरण की प्रशंसा में कही गयी है (या नारीत्युपादानात् सहमरणाभावपक्षोहपि सूचितः नान्यो धर्म इति तु सहमरणस्तुत्यर्थम्) अर्थात् विधवा के लिये सहमरण ही श्रेष्ठ और वंदनीय है यह कह कर भी विधवा के जीवित रहने के लिए रघुनंदन ने गुंजाइश रख ली। जो नारी सहमृता होती है वह श्रेष्ठ होती है उक्ति का तात्पर्य यही हुआ कि जो सहमृता नहीं होती वह श्रेष्ठ नही होती तथापि ऐसी नारियों के लिए भी स्थान है। विष्णुधर्मशास्त्र ने भी इन दोनों विकल्पों को स्वीकार करते हुए पति की मृत्यु के बाद ब्रह्मचर्य या अनुमरण का विधान किया है—पति की मृत्यु होने पर ब्रह्मचर्य या अन्वारोहण अर्थात् पति के बाद चितारोहण (मृते भर्तरि ब्रह्मचर्य तदन्वारोहणं वा)। ध्यान देने की बात है कि यहाँ ब्रह्मचर्य अर्थात् जीवित रहने की बात ही पहले कही गयी है।

ब्रह्मचर्य क्या है? मैथुन और ताम्बूल आदि का वर्जन। इस ताम्बूलादि शब्द की व्याख्या करते हुए व्याख्याकार कहते हैं—ताम्बूल, अभ्यंजन, कांस्यपात्र में भोजन—इन सबका सन्यासी, ब्रह्मचारी और विधवा वर्जन करेंगे (ताम्बूलाभ्यंजनञ्चैव कांस्यपात्रेच भोजनम्। यतिश्च ब्रह्मचारी च विधवा च विवर्जयेत्) अभ्यंजन क्या हुआ? रघुनंदन के अनुसार यह आयुर्वेद का एक परिभाषिक शब्द है। सिर पर इतना तेल देना कि वह पूरे शरीर तक पहुँच जाये, दोनो बाहों को सिक्त करे, अभ्यंजन कहलाता है, थोड़ा तेल देना हुआ मार्ष्टि। इसके बहुत बाद के ग्रंथ मदन पारिजात में कहा गया है कि विधवा दो बार नहीं एक बार भोजन करे पलंग पर न सोये क्योंकि वैसा करने से पति को पतित करेगी। सुगंधित द्रव्यों का सेवन न करे, तिल, कुश और जल से प्रति दिन पति के निमित्त तर्पण करे (एकाहारः सदा कार्यो न द्वितीयः कदाचन पर्यंकशायिनी नारी विधवा पातरेत् पतिम्। गंधद्रव्यस्य संभोगो नैव

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कार्यन्तरा पुनः। तर्पणं प्रत्यहं कार्यं भर्तुस्तिलकुशोदकै।) स्कंदपुराण में कहा गया है कि विधवा का जूड़ा पति के बंधन स्वरुप होता है। (विधवाकवरी बद्धो भर्तृबन्धाय जायते)। हम स्पष्ट देख रहे हैं कि समय के साथ-साथ विधवा के कृच्छ्रसाधन (कष्ट सहन करने के नियम और कठोर होते गये हैं, पुरुष के लिए ढीले। विपत्नीक का अशौच केवल चौबीस घंटों का होता है उसके बाद वाले दिन वह विवाह कर सकता है और शास्त्रों के अनुसार वह उसका कर्त्तव्य भी है।

हारीत ने साध्वी नारी उसे कहा है जो पति के दुखी होने पर दुखी हो, प्रसन्न होने पर प्रसन्न, जो पति के विदेश जाने पर ' मलिना और) कृशगाता) हो, जो उसके मृत होने पर मृता हो। ' आर्तांते मुदिता हृष्टे प्रोषिते मलिना कृशा। मृते म्रियते वा पत्यो साध्वी ज्ञेया पतिव्रता ॥ पाठांतर सा स्त्री ज्ञेया पतिव्रता '। कृत्यकल्पतरु में इसे छंदोगपरिशिष्ट की उक्ति अर्थात् वैदिक साहित्य के अंतिम भाग की रचना कहा गया है। महाभारत रचना के अंतिम भाग में किसी-किसी संस्करण में एक श्लोक प्राप्त होता है "काम, क्रोध, भय या मोह के वशीभूत हो जो नारिगां यथासमय (अर्थात् पति के मृत होने पर) पति का अनुगमन करती हैं, वे सभी पवित्र होती हैं।" (अर्थान्तर यह हुआ कि यथासमय अनुता होने से इन सब रिपुओं से शुद्ध हुआ जा सकता है)। (तत्रनुमरणमकाले या कुर्वन्ति तथाविधाः। कामात् क्रोधाद्भयान्मोहात् सर्वाः पूता भवन्ति ते)। ब्रह्मपुराण का कहना है कि परदेश में पति की मृत्यु होने पर साध्वी नारी उसकी दोनों पादुका हृदय से लगाकर अग्नि प्रवेश करेगी (देशान्तर मृते पत्यौ साध्वी तत्पादुकाद्वयम् निर्धायोरसि संशुद्धा प्रविशेज्जातवेदसम्) अर्थात् धीरे-धीरे उसके जीवित रहने का निषेध होता गया, उसके लिए सहमरण आवश्यक कृत्य कहा जाने लगा।

इधर रघुनंदन फिर कहते हैं ऋगवेद के मंत्र "इमा नारीरविधवाः" के अनुसार साध्वी स्त्री आत्मघातिनी नहीं होगी। (ऋगवेदवादात्

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

साध्वी स्त्री न भवेदात्मघातिनी)। नाना मतों को उद्धृत करके एवं उन पर विचार करके रघुनंदन उपसंहार करते हैं—ब्राह्मणी सहमृता ही हो सकती है। अलग चिता पर अनुमृता नही हो सकती; दूसरे वर्णों की स्त्रीयां सहमृता अनुमृता दोनों ही हो सकती हैं। अर्थात् ब्राह्मणी विधवा के जीवित रहने की संभावना को थोड़ा बढ़ा दिया है। व्यास धर्मशास्त्र में कहा गया है कि एक दिन के रास्ते की दूरी पर पति की मृत्यु होने पर उसका दाह नहीं किया जायेगा, पत्नी के पहुँचने पर एक चिता पर ही दोनों का दाह होगा, और ऐसी स्थिति में आग देनेवाला ही पति-पत्नी दोनों की पारलौकिक क्रिया सम्पन्न करेगा। भारत जैसे गरम देशों में एक दिन में शव की क्या हालत होगी इनका अनुमान हम सहज ही कर सकते है फिर भी ऐसा विधान क्यों ? विधवा के जीवित रहने की संभावना इससे थोड़ी और कम हुई। विभिन्न धर्मशास्त्रों का मूल स्वर एक ही है—जहां तक बस चले विधवा को जलाकर मार डालो, वैसा न कर सको तो जीवन्मृत की तरह रखो।

ब्रह्मपुराण में कहा गया है कि पति के कुल का पालन करने (परलोक बनाने) के उद्देश्य के सहमृता होने को उद्यत नारी को चिता पर चढ़ाते-चढ़ाते यही सुनाना कि—"ये पुण्यवती, पतिव्रता, सुन्दरी नारियाँ पति के शरीर के साथ अग्निप्रवेश करें।" इसके श्रवण से भक्ति और श्रद्धा से युक्त नारी पितृमेध यज्ञ करके स्वर्ग को प्राप्त करेगी।" रघुनंदन इसकी टीका करते हुए कहते हैं कि—पितृमेध यज्ञ हुआ चितारोहण। (श्रावयेद् भर्तृजायान्तु स्वभर्तुः कुलपानिमाम्। चितामारोययान् प्राज्ञः प्रमृते धर्ममुत्तमम्॥ इमाः पतिव्रतम पुण्याः स्त्रियो या याः सुशोभनाः। सहभर्तृशरीरेण संविशंतु विभावसुम्॥") एवं (श्रुत्वा ततो नारी श्रद्धाभक्तिसमनिवता। पितृमेधेन यज्ञेन इष्ट्वा स्वर्गमवाप्नुयात्॥ प्रमृते भर्तरि इति शेषः। पितृमेधेन यज्ञेन चितारोहण रूपेण॥) कहने की आवश्यकता नहीं कि पितृमेध यज्ञ अर्थात् चितारोहण के द्वारा स्वर्गप्राप्ति का यह रास्ता विधवा के लिए ही खुला है, विधुर के

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

लिए नहीं। इस सम्बन्ध में विष्णुधर्मशास्त्र ने प्रश्न उठाया है कि नारी के लिए यह आत्महत्या है या नहीं, पाप है या नहीं, साथ ही निर्णय भी दे दिया है—चूँकि पत्नी पति की चिता पर चढ़ती है अतः यह आत्महत्या नहीं होती (तदन्वारोहणं यस्मात् तस्मात् सा नात्मघातिनी) पति की ऐसी महिमा होती है कि उसकी चिता पर चढ़ने से आत्महत्या का पाप भी नष्ट हो जाता है। अर्थात् विधवा की मृत्यु होनी ही चाहिए और पति के साथ सहमरण या अनुमरण करके वह धर्माचरण कर रही है यह स्तुतिवचन कह-कहकर उसे भ्रमित करने की व्यवस्था भी की गयी। इसके बाद के अंश में रघुनन्दन अत्यन्त शान्त शीतल स्वर में सहमृता के पिंड, श्राद्ध तथा पारलौकिक कृत्यों की विशेष विधियों का वर्णन करते हैं।

व्यास स्मृति में कहा गया है कि विधवा पति को आलिंगन में लेकर अग्निप्रवेश करें, यदि ऐसा न करे तो उसे केश मुंडन करना होगा (२।५३)। ऐसा विधान अन्यत्र भी प्राप्त होता है। जिस तर्क के द्वारा रंगीन कपड़ा, फूल, माला, गहना, काजल, सुगन्धित द्रव्य आदि का वर्जन किया गया है उसी तर्क से केश-मुंडन का विधान भी किया गया है अर्थात् विधवा को देखकर यह न लगे कि वह नारी है, वह किसी भी तरह पुरुष का मनोरंजन न कर सके। फिर भी इतने सबके बावजूद पुरुष प्रलोभन से बरी न रह सका और असहाय विधवा तो सदा से पुरुष की भोगलालसा की तृप्ति के लिए सबसे सहज उपलब्ध शिकार रही। तात्पर्य यह है कि वास्तव में विधवा को इन सब भोग वस्तुओं से वंचित रखना ही इस निर्देश का मूल उद्देश्य था। स्कन्दपुराण में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कहा गया है-समस्त अशुभ वस्तुओं में विधवा सबसे अशुभ है (३ ७।५०-५१) छठीं शताब्दी के वराहमिहिर ने बृहत्संहिता में कहा है—अहा, नारी का प्रेम कैसा एकनिष्ठ होता है। पति के शव को आलिंगन में लेकर वे अग्नि प्रवेश करती हैं (७४।२३)।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नारदस्मृति में भी (५ । ४५) सात तरह की नारियों के होने का उल्लेख मिलता है जिनका पहले एक व्यक्ति से विवाह हो चुका हो। वे हैं—(१) जिसका कौमार्य अक्षुण्ण हो (२) स्वामित्यागिनी (३) जिस विधवा को परिवार के किसी सपिंड को सम्प्रदान करते हैं (४) वह निस्सन्तान विधवा जो किसी और व्यक्ति को ग्रहण करती है (५) वह विधवा जो देवर को अस्वीकार करके अपनी पसन्द के अन्य किसी व्यक्ति को स्वीकार करती है (६) क्रीता या विदेशिनी विधवा जो स्वेच्छा से दूसरा पति ग्रहण करती है (७) वह विधवा जिसे बड़े लोग किसी अपरिचित व्यक्ति को दान कर देते हैं। अन्तिम चार को "स्वैरिणी" कहा गया है तथापि अन्तिम तो गुरुजनों की आज्ञा का पालन ही करती है। शास्त्रों के अनुसार ये सातों ही "पुनर्भू" या "अन्यपूर्वा" हुईं अर्थात् द्वितीय वार विवाहिता हुईं। याज्ञवल्क्य धर्मशास्त्र के अनुसार पुनर्भू मूलतः दो प्रकार की होती हैं—अक्षतकौमार्या और इसके विपरीत पुनर्भू का उल्लेख अन्यत्र भी प्राप्त होता है (मनु ९ । १७६ ; विष्णुधर्मशास्त्र १५ । ८, ९ ; वशिष्ठ धर्मसूत्र १७ । १८ इत्यादि)। कहने का तात्पर्य यह कि इनके द्वारा विधवा का विकल्प स्वीकृत हुआ।

ऋग्वेद के अन्तिम युग अर्थात् आर्यों और प्रागार्यों के संश्लेषण के अनेक बाद रचित एक सूक्त के एक ऋक की व्याख्या, अनुव्याख्या, अपव्याख्या से ही विधवा के जीवित रहने या न रहने के सम्बन्ध में चर्चा का सूत्रपात होता है। ऋक् है—उदीर्ष्व नार्यभि जीवलोकं गतासुमेतम् उप शेष एहि। हस्तग्राभस्य दिधिषोस्तवेदं पत्युर्जनित्यमभि सं बभूथ॥ (१० । १८ । ८) "उठो नारी, जीवलोक के अभिमुख (आओ)। इस मृत को आलिंगन में लेकर तुम लेटी हो जिसने तुम्हारा हाथ पकड़ा है, (जो) तुम्हारा गर्भ सम्पादन करेगा, ऐसे पति का जायात्व लक्ष्य करके (अनुमरण का संकल्प करके चली आओ)" हाथ पकड़कर कौन पुकारेगा ? आश्वलाभन गृह्यसूत्र में कहा गया है—"देवर पति स्थानीय,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

शिष्य होता है (अर्थात् पति का शिष्य) या वृद्ध दास होता है (४।२।१८)। इस चित्र की कल्पना करने पर कई बातों पर दृष्टि जाती है—पहली कि सद्यः विधवा पति के बगल में लेटकर सहमरण का उद्योग (अभिनय) कर रही है, दूसरी कि देवर या अन्य कोई व्यक्ति उसे हाथ पकड़कर वहाँ से उठाकर ला रहा है (संभवतः देवर—शब्द की व्युत्पत्ति में ही द्वितीय वर का आभास निहित है। अभी भी उड़ीसा एवं अन्य किन्हीं-किन्हीं अंचलों में देवर के साथ विधवा विवाह की प्रथा प्रचलित है)। तीसरी सहमरणके निषेध का कारण सन्तान का उत्पादन है अर्थात् विधवा मृत पति के वंश की रक्षा करे। नारी की जनयित्री भूमिका की असमय समाप्ति का अर्थ हुआ समाज में सन्तान आने का एक रास्ता बन्द करना। शब्द कल्पद्रुम में "दिधिषु" शब्द को "पुनर्भू" शब्द का समानार्थी कहा गया है, उसी अर्थ में सद्यः विधवा को यहाँ दूसरे विवाह के लिए प्रेरित किया गया है। लगता है विधवा का सहमरण एक प्रागार्य प्रथा थी, सम्भवतः सिंधु सभ्यता में प्रचलित थी, इन्दो-योरोपीय लोगों के साहित्य में इसके प्रमाण नहीं मिलते। प्रागार्य इस अनुष्ठान में उद्यत (सम्भवतः आर्यों की प्रागार्य वधुएं ही इस अनुष्ठान के लिए उद्यत होती थीं) विधवा को सशक्त आर्य प्रथा—विधवा का पुनर्विवाह-द्वारा प्रणोदित किया जा रहा है ऋग्वेद के इस सूक्त के माध्यम से। विधवा के पुनर्विवाह के दृष्टांत ग्रीक, लैटिन और जर्मन साहित्य में कहीं-कहीं प्राप्त होते हैं।

ऋग्वेदोत्तर भारतीय समाज में विधवा धीरे-धीरे अशुभ और अपवित्र होती गयी, उसका जीवित रहने का अधिकार भी तर्क का विषय हो उठा। तब नाना व्याख्याओं के द्वारा इस ऋक् के अर्थ की समाज के विधायकों के स्वार्थ के अनुकूल व्याख्या करने की चेष्टा प्रारम्भ हुई। परवर्ती काल के ग्रन्थ "ऋग्विधान" में है कि सहमरण के लिए उद्यत नारी को पुत्रहीना होने पर ही इस तरह लौटाया जाय (३।८।४) (अर्थात् मृत पति के पिंडदान के लिए अधिकारी को जन्म देने के

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

लिए)। देवर के साथ विवाह को लेकर भी किसी-किसी शास्त्र में थोड़ी परेशानी दिखलाई पड़ती है लेकिन ऋग्वेद की ही एक और ऋक् में अत्यन्त स्पष्ट द्वयर्थताहीन शब्दों में कहा गया है (अश्विद्वय का आह्वान करते हुए मुक्त कहता है)" अन्य को तुमलोगों के प्रति (स्तव के द्वारा) अभिमुख (अर्थात् अनुकूल) करता है वैसे ही जैसे विधवा सेज पर अपने देवर को अनुकूल करने का प्रयत्न करती है (को वां सयुवा विधवेव देवरम् भर्यं न योषा कृणुते सदस्य आ ॥ १० । ४० । २)। इसका मतलब यह हुआ कि ऋग्वेद युग में समाज में विधवा जीवित रहती थी, देवर से विवाह करती थी और इस प्रथा का पर्याप्त प्रचार था अन्यथा काव्य में उपमान के रूप में इसका उल्लेख न प्राप्त होता। अथर्ववेद में जिस नारी के एकाधिक (९ । ९ । २७) यहां तक कि दस (५ । १७ । १९) विवाह होने तक का उल्लेख है उसमें भी दूसरी स्थिति में विधवा होने पर विवाह की सम्भावना बनी रहती है। अथर्ववेद में प्रागार्य उपादान अधिक बड़ी मात्रा में है। अतः सहमरण की प्रथा के प्रागार्य अर्थात् सिंधु सभ्यता का अवशेष होने की पर्याप्त सम्भावना है। तैत्तिरीयब्राह्मण में एक प्रार्थना है—इन्द्राणी की तरह अविधवा रहूँ (३ । ७ । ५ । ५१)। इससे भी विधवा के जीवित रहने की बात पुष्ट होती है, सहमरण में जो मर गयी वह तो वैधव्य कष्ट से बरी हो रही।

रामायण-महाभारत की मूल कथा में कोई विधवा सहमृता नहीं हुई। जहाँ तक माद्री का सवाल है पांडु की मृत्यु के लिए व्यक्तिगत रूप से अपराध-बोध ने ही उन्हें सहमृता होने को प्रेरित किया था। प्रागार्य इस प्रथा का पालन आसपास के समाज में बीच-बीच में होता रहता था अतः इसका कुछ प्रभाव समाज में प्रचलित था ही। लेकिन रामायण में दशरथ की तीनों महिषियां, तारा, मंदोदरी और इंद्रजीत या कुंभकर्ण की स्त्री कोइ भी सहमृता नहीं हुई, उनके वैधव्य के प्रसंग में यह प्रश्न ही नहीं उठा। महाभारत में सत्यवती, कुंती, अम्बिका,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अम्बालिका, चार पतियों की मृत्यु के बाद द्रौपदी, दुःशला तथा युद्ध में वीरगति को प्राप्त अगनित योद्धाओं की विधवाओं में से कोई सहमृता नहीं हुई।

ईसा पूर्व की तीसरी शताब्दी से लेकर ईसा की दूसरी शताब्दी के बीच आर्यावर्त पर अनेक विदेशी आक्रमण हुए जिनके फलस्वरूप समाज व्यवस्था में कुछ आमूल परिवर्तन घटित हुए। अनुमानतः ईसा की पहली शताब्दी में रचित भगवद्गीता में अर्जुन युद्ध के सम्बन्ध में कृष्ण से कहते हैं युद्ध में कुल का नाश होता है, कुल का नाश होने से सनातन धर्म विपर्यस्त होता है, धर्म का नाश होने से सारा कुल अधर्म से अभिभूत होता है, अधर्म द्वारा पराजित होने से कुल की नारियां दूषित होती हैं और स्त्रियों के दूषित होने से वर्णसंकर घटित होता है (१। ३६। ४०)। कुल-स्त्रियों के दूषित होने की बात के पीछे युद्ध में निहत सैनिकों की विधवाओं की बात ही थी क्योंकि अर्जुन उस समय युद्ध में होनेवाली लोकहत्या का विवेचन कर रहे थे। अर्थात् यदि विधवाएं जीवित रहीं और उन्होंने पर-पुरुष को स्वीकार किया तो उससे देश की सबसे बड़ी दुर्व्यवस्था होगी—वर्णसंकर होगा। "कुल और कुलघ्न दोनों ही नरक जाते हैं, पितरों को पिंडदान करने की क्रिया लुप्त होती है, वे पतित होते हैं (१। ४१) खूब समझ में आता है कि इस युग में इहलोक और परलोक सर्वत्र होनेवाले इस संभावित महाविनाश को रोकने के लिए प्रागार्य युग की सहमरण प्रथा को पुनरुज्जीवित किया गया।

गुप्त साम्राज्य में मनु का विधान ही प्रचलित था (रघुवंश १/१७)। यद्यपि मनु में विधवा के सहमरण का विधान नहीं है तथापि विधवा के कठोर ब्रह्मचर्य का उल्लेख है। इसी युग में प्रथम पुराण की रचना हुई और पुराण में शूद्र और नारी-निग्रह की एक अटूट और धीरे-धीरे बढ़ती जानेवाली परम्परा का इतिहास दिखलाई पड़ने लगा। शताब्दियों तक विभिन्न अंचलों में विभिन्न सम्प्रदायों के प्रवक्ता पुराणों की रचना

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

करते रहे। साम्प्रदायिक धर्म और दर्शन की दृष्टि से उनमें पर्याप्त अंतर परिलक्षित होता है लेकिन सामाजिक व्यवस्था की दृष्टि से विशेषकर शूद्र और नारी के प्रसंग में उनमें मतांतर बहुत कम दिखलाई पड़ता है।

वेदोत्तर काल के प्रायः बीस धर्मशास्त्रकारों ने भी पुराणकाल में धर्मशास्त्र की रचना की। इनके धार्मिक मतों में कुछ-कुछ अन्तर दिखलाई पड़ता है। कोई विधवा के सह या अनुमरण के पक्षपाती हैं, कोई कहते हैं केवल ब्राह्मण की विधवा ही सहमरण करे अन्यान्य वर्ण की विधवाएं कठोर ब्रह्मचर्य का पालन करें, कोई कहते हैं सह या अनुमृता विधवा तीनों कुल का उद्धार करती है, कोई कहते हैं सहमरण पति को महापातक और नरक से मुक्त कराता है, जैसे सांप को सपेरा बिल से खिंचकर बाहर लाता है वैसे ही सहमृता पति को नरक से खींच लाती है। दो बातें स्पष्ट हैं—पहली कि पति निश्चित रुप से नरकमें ही गया है दूसरी कि अपने पापों के फलस्वरूप जो पति नरक में गया है उसके उद्धार का एकमात्र उपाय है पत्नी की आत्महत्या, इस बारे में शास्त्रकारों के मन में कोई संशय नहीं है। पति के जीवनकाल में उसकी आजीवन सेवा और उसकी मृत्यु के बाद आत्महत्या—यही है नारी के लिए इन सब शास्त्रों का विधान। कोई लोभ देते हैं—तीस करोड़ साल या शरीर में जितने रोम हैं उतने साल तक सहमृता पति के साथ स्वर्ग में वास करती है। स्त्री के पहले मरने पर किसी निष्ठुर प्रक्रिया के द्वारा पति के उसके साथ अक्षय स्वर्गवास करने की कोई व्यवस्था या विधान किसी शास्त्र में नहीं है क्योंकि 'भाग्यवान की बहू मरे अभागे की गैया' शास्त्रों में पत्नी की मृत्यु के बाद पति के लिए केवल एक दिन अशौच का विधान है अर्थात् दूसरे ही दिन वह विवाह कर सकता है। इतना ही नहीं, इसके लिए बढ़ावा ही दिया गया है क्योंकि 'सस्त्री को धर्ममाचरेत।

डाक्टर काणे ने आठ खण्डों में धर्मशास्त्र के इतिहास की रचना की है। उसमें सरकारी गणना का हवाला देते हुए बतलाया है कि अविभाजित बंगाल में—जिसकी सीमा उस काल में वाराणसी तक

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

फैली थी—सतीदाह की सबसे कम संख्या ३७८ प्राप्त होती है सन् १८१५ में और सबसे अधिक ८३६ प्राप्त होती है सन् १८१८ में। सन् १८१५ से १८१८ के बीच केवल बंगाल में ही २३६६ सतियाँ हुईं, इनमें से १४८५ कलकत्ता में। काणे का कहना है कि इसका मुख्य कारण यहाँ प्रचलित दायभाग व्यवस्था है। दायभाग में पति की सम्पत्ति में विधवा का भी अधिकार होता है। जितेन्द्रिय नामक शास्त्र की यह उक्ति आदरयोग्य है कि पुत्रहीन पति की विधवा पति की सम्पूर्ण सम्पत्ति की एकमात्र उत्तराधिकारिणी होगी (अतोह विशेषेणैव विभक्ताद्यन पेक्षयैव अपुत्रस्य भर्तुः कृत्स्न धने पत्न्यधिकारो जितेन्द्रियोक्त आदरणीयः) काणे का अनुमान ठीक ही था। बाद में विधवा पति की सम्पत्ति की सचमुच अधिकारिणी हो जायेगी इस भय से नाते-रिश्तेदार व अड़ोसी-पड़ोसियों के भुलावे और सक्रिय सहयोग से सतीदाह की संख्या धीरे-धीरे बढ़ती गयी। कलकत्ता में मुतसुद्दी और नाना तरह के धनी व्यवसायियों के बड़ी संख्या में होने के कारण इस शहर में ही धनी विधवाओं का सहमरण करवाने की सबसे अधिक आवश्यकता होती।

अब दो प्रश्न सामने आते हैं—यह तो परिगणना से ही स्पष्ट है कि सम्पत्ति के लोभ के कारण विधवा को सहमरण के लिए प्रवृत्त किया जाता था क्योंकि जो विधवा पति की सम्पत्ति की अधिकारिणी होगी अर्थात् जीविका के लिए जिसे परनिर्भर नहीं होना होगा वह स्वेच्छा से सहमृता होने नहीं जायेगी। अतः सम्पत्ति के लोभी स्वार्थी लोग उसे सहमरण के लिए उत्साहित (और उत्तेजित) करते थे। लेकिन जो विधवायें सहमृता नहीं होती थीं और सम्पत्ति पर अधिकार पाती थीं - परिगणना के अनुसार इनकी संख्या तुलना में बहुत अधिक थी—उनका भविष्य क्या होता था? उनके लिए विधान था—ब्रह्मचर्य का जो आम ब्रह्मचर्य से कठोर था। दूसरे किसी ब्रह्मचारी को माथा मुड़ाकर केवल एक बार खाकर जीवनयापन नहीं करना होता था। ब्रह्मचर्य के बाद गृहस्थाश्रम में आने के बाद वह दिन में दो बार अभिष भोजन करता

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

था। सुगन्धित द्रव्य, अभ्यंजन (तेल आदि) के उपयोग तथा अलंकार धारण करने का उसे अधिकार था। किसी ब्रह्मचारी को कभी भी अशुभ या अपवित्र नहीं माना जाता था। लेकिन विधवा का ब्रह्मचर्य एक अजीव ब्रह्मचर्य था जिसका उद्देश्य था उसे संयम में रखकर परलोकगत प्रेत का मंगल करवाना। दायभाग प्रचलित होने के बावजूद, तात्विक दृष्टि से पति की सम्पत्ति पर अधिकार होने के बावजूद, ससुर-जेठ-देवर आदि के तीव्र लोभ के विरुद्ध इस अशिक्षित शोकातुरा, निस्संतान (निस्संतान होने पर ही विधवा पति की सम्पत्ति पर अधिकार पा सकती थी) और असहाय विधवा के लिए परिवारवालों से लड़कर पति की सम्पत्ति जीत पाने की कोई सम्भावना नहीं थी। तब भी, पितृकुल के सहयोग से विधवा कहीं सम्पत्ति के अधिकार के लिए मामला न कर बैठे, इस डर से हर साल उतनी विधवाओं का खून कर दिया जाता था। वैसे देखा जाय तो पति की सम्पत्ति पर अधिकार वास्तव में मरीचिका मात्र था इसका बड़ा प्रमाण है गत कई शताब्दियों से काशी में रह रही बंगाली विधवाओं का करुण जीवन।

एक और प्रश्न उठता है कि जिन क्षेत्रों में विधवा को पति को सम्पत्ति में अधिकार नहीं मिलता था, मिताक्षरा व्यवस्था के अनुसार जो केवल भरण-पोषण की अधिकारिणी होती थीं, जिनकी सहमृत्यु से श्वशुर पक्ष के लोगों को आपात लोभ की आशा नहीं थी वहां क्या सहमरण नहीं होता था? राजस्थान तो हिन्दी क्षेत्र में है, वहाँ मिताक्षरा प्रथा प्रचलित है तब फिर वहाँ इतना सहमरण क्यों? जौहर-व्रत के रूप में विधवाओं की हत्या की क्या व्याख्या की जायें? और यहीं हमारी मूल समस्या स्थित है।

हिन्दू समाज ने नारी के स्वतन्त्र अस्तित्व को कभी स्वीकार नहीं किया—उसने यही कहा कि "न स्त्री स्वातन्त्रमर्हति" अर्थात् स्त्री स्वातंत्र्य के योग्य ही नहीं है। वह पति के चरण-चिन्हों पर चलने वाली, छाया की तरह अनुगता होती है। व्यक्तित्व के विकास के लिए

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उपयुक्त उपादान जैसे शिक्षा, वर चुनने की स्वाधीनता, स्वतन्त्र जीवकोपार्जन, सम्पत्ति पर अधिकार, अपने शरीर पर सम्पूर्ण अधिकार, संतान धारण करने में अपने सिद्धांत पर अटल रहने का अधिकार, समाज या राष्ट्र के संचालन में अंशग्रहण और या अपना मत देने का अधिकार आदि उसे नहीं प्राप्त था। व्यतिक्रम कहीं-कहीं अवश्य होते थे। पर वे व्यतिक्रम ही होते थे, नियम को ही प्रतिष्ठित करते थे। इस समाज में कुमारी या विधवा की सामाजिक सत्ता को स्वीकारा ही नहीं जाता था। उसका केवल एक परिचय होता था कि वह किसी पुरुष की स्त्री है। स्त्री के रूप में उसका आदर्श क्या हो? सतीत्व और पतिव्रात्य। हमें यह भी ज्ञात है कि पतिव्रात्य सदा एक श्रेष्ठ आदर्श के रूप में स्वीकृत रहा है और सतीत्व तथा पतिव्रत्य के समानार्थी पुल्लिग शब्द हैं ही नहीं।

महाभारत में वनपर्व में (यह सबसे अंत में हुए ब्राह्मण्य प्रक्षेप हैं और इनकी प्रकृति अभिपौराणिक है) सत्यभामा द्रौपदी से पूछती है कि तुम कैसे पाँच-पाँच पतियों को तुष्ट करती हो। उत्तर में द्रौपदी पतिव्रत धर्म के सम्बन्ध में एक लम्बा भाषण देती हैं। भारतवर्ष के इतिहास में सम्भवतः पतिव्रत धर्म के सांगोपांग निरूपण का यह प्रथम अवसर था (महाभारत ३।२२२।२२३) इस विस्तृत उत्तर के प्रारम्भ में ही कहा गया कि "मैं अहंकार, काम, क्रोध का त्याग करके यत्नपूर्वक (अन्य) पत्नीसह (हर पांडव को द्रौपदी के अतिरिक्त एकाधिक पत्नियाँ थीं) पांडव की नित्य सेवा करती हूँ (२२२।१८) पतिव्रता को सबसे पहले त्यागना होगा अहंकार या स्वाभिमान और व्यक्तिस्वातन्त्र्य। पति से पत्नी को क्या-क्या मिलता है इसकी भी एक सूची द्रौपदी ने दी—संतान, नाना प्रकार के भोग, शय्या, सुन्दर-सुन्दर आसन, वस्त्र, माला, गंधद्रव्य, स्वर्गलोक एवं दुर्लभ कीर्ति (२२३।३)। इसके पहले ही यह भी कहा था कि पति प्रसन्न होने से ये सब मिलते हैं, कुपित होने से नहीं। इस सूची में प्रेम या मर्यादा को स्थान नहीं

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मिला है। कहने की आवश्यकता नहीं कि जिस प्रकार के सम्पर्क की भित्ति पर इस प्रकार की प्राप्ति निर्भर करती है वह वस्तुगत सुख-स्वाच्छन्दय का अतिक्रमन नहीं कर सकती। दौपदी के विस्तृत विवरण से प्रगट होनेवाली मुख्य बात यह है कि "अपने को पूरी तरह विलुप्त करके पति और पतिकुले की अक्लांत सेवा—पतिव्रताधर्म का केन्द्रविन्दु यही है। पति के सर्वप्रकार के स्वार्थों की रक्षा के लिए लुप्तसत्ता नारी अकातर भाव से निर्भय होकर शास्त्र द्वारा निर्दिष्ट सेवा-अनुष्ठान करे, इस सेवा के द्वारा ही वह नारी पतिव्रता संज्ञा से अभिहित होगी।

इस नारी को समाज ने हर प्रकार की मर्यादा से वंचित रखा। शिक्षा का उसका अधिकार वैदिक युग में ही समाप्त कर दिया गया था, स्वतंत्र रूप से कोई काम करने या जीविकार्जन का सब रास्ता उसके लिए वंद था, जीवन में उसका मूलधन रहा रूप, यौवन और मेहनत करने की क्षमता। उसके मन की स्वीकृति का कहीं कोई स्थान नहीं था अतः किसी तरह भी नारी समाजमानस में स्वतंत्र मर्यादा का आसन नहीं अर्जित कर सकती थी। समाज में वह सत्तापरिचयहीन एक जीव थी, शूद्र की तरह ही प्रभु या स्वामी का परिचय ही उसका परिचय होता था। ऐसी स्थिति में समाज द्वारा स्वीकृत और शास्त्रों द्वारा अनुमोदित एक ही भूमिका उसके लिए थी—पतिव्रता। केवल इसी भूमिका में ऊपर उठकर नारी अपने प्रति समाज की दृष्टि आकृष्ट कर सकती थी। इस उत्कर्ष को अर्जन करने का रास्ता था आमरण विना प्रतिवाद आत्म-विलुप्त सेवा द्वारा पति एवं श्वशुर कुल को तुष्ट रखना। लेकिन इतना करने पर भी उसको परिवार की ही स्वीकृति प्राप्त होती थी, वहुत हुआ तो अड़ोसियों-पड़ोसियों को कहा जाता है कि घर में मान मिलने पर ही वाहर भी मिलता है। यदि वह इससे अधिक महत्व चाहती है तो उसे पतिव्रतधर्म की अंतिम परीक्षा "सती" में उत्तीर्ण होना होगा। जन्म से प्राप्त संस्कारों के कारण वह जानती है कि सती स्त्री मृत्यु के

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

द्वारा तीनों कुलों का उद्धार करके पति के साथ अक्षय स्वर्गवास करती है। सामान्य रूप से सुखी स्त्री को पति के साथ अक्षय स्वर्गवास का प्रलोभन हो सकता है लेकिन जिस स्त्री का दाम्पत्यजीवन सुखी न रहा हो या जो पति द्वारा सतायी जाती रही हो उसके लिए यह (अक्षय स्वर्गवास) लोभनीय नहीं हो सकता। लोभनीय होता है सती होने का नाटकीय वर्णसमुज्ज्वल दृश्य। शंख और पटह की आवाज के बीच, पुष्पमाला-भूषिता, चंदन-चर्चिता नववधू की तरह सजकर, चमकते हुए सिन्दूर और आलता के द्वारा सतीत्व की दीपशिखा को प्रज्वलित करते हुए समवेत जनता की विमुग्ध दृष्टि के सामने मंच की एकमात्र नायिका के रूप में पति के शव को गोद में लेकर बैठने का दीर्घकाल से मर्यादा-मंडित कल्पचित्र उसे उद्दीप्त करता है। आग लगने पर कहीं उसका संकल्प शिथिल न हो जाये इसलिए उसकी सहायता के उत्सुक आस-पास के लोग मादक शरबत लिये तैयार रहते हैं। लपलपाती अग्निशिखा से जब मादक द्रव्य का प्रभाव कम होने लगता है तब सती को असती होने की दुर्गति से बचाने के लिए समवेत जनता और पुरोहितों का बांस का दण्ड उसे दबाये रखने के लिए तैयार रहता है। सीधी सी बात है परिवार या आसपास के लोग यदि किसी नारी के सम्बंध में यह निर्णय लेते हैं कि उसे सती होना है और वह नारी किसी दुर्बल क्षण में इसके लिए सहमत हो जाती है तो फिर उसकी रक्षा नहीं। प्रथम विश्व-युद्ध के प्रारम्भ में एक बार सेनापति ने सहसेनाध्यक्ष से कहा-"इस युद्ध में विजय हमारी होगी ही, भगवान में मेरा अटूट विश्वास है"। उत्तर में सहकारी ने कहा "ईश्वर में विश्वास जरूर रखो लेकिन यह ध्यान रखना कि गोला बारुद भीग न जाये"। यहाँ भी वही स्थिति है। क्रियान्वयन के समय यदि सती का धार्मिक संकल्प पर्याप्त प्रेरणा न दे तो आनुषंगिक व्यवस्था तैयार रहती है जिससे नारीकुल का सती होने का संकल्प शिथिल न हो जाये। आमरण कठोर वैधव्य पालन के अनेक परिचित दृष्टांत भी शायद सती होने के लिए ईंधन जुटाते हो। तब हो सकता है आजीवन कष्ट सहने की तुलना में सती

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

होना ही उसे वांछनीय लगता हो; कम से कम उस समय उसके बाद तो सत्सकल्प में अविचल रखने के लिए उसके शुभेच्छु लोग रहते ही हैं। जिस मनोवृत्ति के कारण पुराण में कहा गया है कि कोढ़ि पति को कंधे पर चढ़ाकर वेश्यालय पहुँचाना और वापिस लाना ही पतिव्रता का चरम लक्षण है, उसी मनोवृत्ति से प्रेरित हो एक नारी का धर्म के नाम पर खून करके उसे सती की संज्ञा दी जाती है। लेकिन यदि नारी स्वयं अपनी विवर्ण भूमिका से ऊपर उठकर एक नाटकीय दृश्य की भूमिका में अवतीर्ण होने का लोभ न करती, यदि वह पति के साथ स्वर्गवास करने के झूठे आश्वासन के बहकावे में न आती तो इस पुरुष-शासित समाज के पुरुषरचित शास्त्रोंके निर्देश भी इस घृण्य स्थिति तक उसे न पहुँचा पाते। नारी को कष्ट पहुँचाने के अन्य दूसरे रूपों की तरह "सती" होने का मूल भी नारी के ही अवचेतन में स्थित है। और अशिक्षा के अंधकार में निर्वासित नारी के लिए इस भ्रम से मुक्ति पाने का कोई रास्ता ही समाज ने खुला नहीं रखा है। बीच-बीच में दो एक नारियों के सती न होने से लोगों के मन से सती की कल्पना और उसका गौरव अंतर्हित हो जायेगा। इसके अतिरिक्त कभी-कभी सती के मंदिर आदि बनने में पंडा-पुरोहितों को अपना लाभ भी दिखाता है। और फिर सदा से गला फाड़-फाड़कर कहा जाता है एकमात्र हिंदू रमणी ही (अन्याय देशों के साहित्य में भी ऐसी कहानियां है तथापि सती होने के लिए नहीं) पति के लिए प्राण विसर्जित कर सकती है, उस दावे को भी तो बीच-बीच में प्रमाणित करना होगा। अतः समाज और मुख्यतः धर्म का व्यवसाय करनेवालों का स्वार्थ इसी में निहित है कि बीच-बीच में किसी अभागिनी को सती की महिमा मंडित किया जाय। बृहत्संहिता के समय से ही समाज यह मिथ्या प्रचार करता चला आ रहा है कि नारी पति प्रेम के कारण ही सती होती है। इस मिथ्या का पर्दाफास करना आवश्यक है। दाम्पत्य प्रणय एकतरफी बात नहीं होती। यदि प्रेम ही सती होने की मुख्य प्रेरण होता तो पत्नी प्रेम में दो-चार पुरुष भी एक चिता पर आत्म-विसर्जन करते। ऐसा कोई प्रमाण नहीं प्राप्त होता। यही नहीं, शास्त्रों

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

में इस बारे में कोई निर्देश भी नही दिये गये हैं। अतः मुख्य प्रेरणा हुई पति के लिए पत्नी का आत्मविसर्जन और सती होना उस आत्म विसर्जन के पंचम अंक का अंतिम दृश्य है। इसीलिए इक्कीसवीं शताब्दी की देहरी पर खड़ा पवित्र हिंदू समाज दिनदहाड़े ढाक-ढोल बजाकर नारी की हत्या करता है क्योंकि इस देश में पुरुष की हत्या दण्डनीय है, नारी की नहीं। वरन् धर्म के नाम पर नारी-हत्या प्रशंसनीय है। हिन्दू समाज यह धमकी भी देता है कि हत्या के इस अधिकार में वह किसी प्रकार का हस्तक्षेप बर्दाश्त नहीं करेगा। जो आत्महत्या नारी-पुरुष दोनों की दृष्टि से अपराध और दंडनीय है वही एक धार्मिक कृत्य बन जाती है और उसके प्रति भक्ति को अचल रखने के लिये सती के स्थान पर निर्मित होते हैं मंदिर। शिक्षा, तर्क, वैज्ञानिक और ऐतिहासिक दृष्टि के उन्मेष द्वारा देश के नारी और पुरुष दोनों के अवचेतन मन से इस शास्त्रीय पाप के मूल को जड़ से उखाड़ न फेंकने पर और कानून के सजग प्रयोग द्वारा इसे कठोर रूप से दंडनीय न करने पर सती रूपकुंवर की परम्परा बनी रहेगी, उसका अंत नहीं होगा।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi